महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा

(डी०टी० सुजुकि के 'आउटलाइन्स ऑफ् महायान बुद्धिज्म'
का हिन्दी रूपान्तरण)

हिन्दी रूपान्तरण
डॉ० तुलसीराम शर्मा

रूपान्तरकार का वक्तव्य

प्रत्येक रूपान्तरण की कुछ-न-कुछ सीमाएँ होती हैं, बल्कि सच तो यह है कि एक भाषा का दूसरी भाषा में रूपान्तरण संभव ही नहीं है। वास्तव में हम रूपान्तरण के रूप में भावानुवाद ही करते हैं। रूपान्तरकार को दुधारी तलवार पर चलना होता है। यदि वह भाषा के शब्द कोश आदि का सहारा लेकर कार्य करता है तो मन्तव्य भ्रष्ट हो जाता है और मात्र मन्तव्य पर दृष्टि रखने से कार्य असफल होने का खतरा उसके सामने रहता है।

कुछ दिनों पूर्व मैने डी. टी. सुजुकि के 'स्टडीज इन दि लंकावतारसूत्र' का हिन्दी रूपान्तरण किया था, और वह अप्रैल, 2005 में छप गया था। इस हिन्दी रूपान्तरण की विद्वत समाज में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। इसके छपने के बाद ईस्टर्न बुक लिंकर्स के रवि मलहोत्रा ने सुजुकि के दूसरे ग्रंथ 'आउटलाइन्स ऑफ् महायान बुद्धिज्म' का हिन्दी रूपानारण करने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा, जिसे मैने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् 12 मई, 2006 (बुद्ध पूर्णिमा) के दिन मैंने इस कार्य को प्रारंभ किया और 13 जनवरी 2007 (मकर संक्रान्ति के दिन) इसको सम्पन्न कर दिया।

इस कार्य को करते समय अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ मेरे सामने आई। परन्तु धीरे-धीरे अपने आप ही सही दिशा मिलती गई। इस रूपान्तरण को करते समय मैंने यथामति सुजुकि के संश्लिष्ट विचारों को समझ कर उनको हिन्दी भाषा में रूपान्तरित करने का प्रयास किया है। इसके बावजूद यदि रूपान्तरण में कहीं अस्पष्टता का भाव झलकता हो तो वह सुजुकि के विचारों को मेरे द्वारा सही प्रकार से न समझने के कारण ही हुआ है।

इस ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तरण करते समय मैने एक बात ध्यान में रखी है कि बौद्ध-दर्शन के अंग्रेजी के शब्दों का अनुवाद बौद्ध-धर्म-दर्शन की परम्परा के अनुसार ही हिन्दी में रूपान्तरण किया जाए। इस दृष्टि से एक बात विचारणीय है कि सामान्य पाठक के लिए अंग्रेजी शब्दों में प्रयुक्त शब्दों का हिन्दी अनुवाद

उसे कुछ अटपटा लगे, परन्तु ऐसे संदर्भो में मैंने उन सब शब्दों का बौद्ध-धर्म-दर्शन की परम्परा के अनुसार ही हिन्दी में रूपान्तरण किया है।

अन्त में मैंने अपने सभी मित्रों, सहयोगियों तथा संबंधियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन किया। ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वर्गीय श्री श्यामलाल मलहोत्रा जी के दोनों पुत्रों रवि एवं दीपक को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने सहर्ष इस ग्रंथ को प्रकाशित में अपनी रूचि दिखलाई।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद, गुरोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि।।

2 मई, 2007
(बुद्ध पूर्णिमा)

तुलसीराम शर्मा
ईशावास्यम्
218, वैशाली, पीतमपुरा
देहली-110088

एलन वाट्स का प्रास्ताविक निबन्ध

अनेक वर्ष पहले एक प्रसिद्ध बर्तानवी वैज्ञानिक लन्दन के एक रैस्तोंरा में अपने मित्र के साथ अपने सिद्धान्तों की चर्चा कर रहा था। पास की मेज पर बैठा एक मन्त्रमुग्ध छुप कर बातें सुनने वाला, अपने आपको न सँभालते हुए आखिरकार वहाँ जा पहुँचा और कहने लगा, ''क्षमा कीजिए, मैं आपके वार्तालाप को सुने बिना नहीं रह सकता क्योंकि जिन विचारों की आप चर्चा कर रहे हैं, वे महायान बौद्धधर्म जैसे लग रहे थे।'' उस वैज्ञानिक ने इस विषय में अपने पूर्ण अज्ञान को स्वीकार किया और उसने कुछ ऐसी पुस्तकों के नामों को जानना चाहा जो उसके ज्ञान का विस्तार कर सकेंगी। उस महिला ने कुछ ग्रंथों के शीर्षकों के नाम गिनाए जिनमें डा. सुजुकि एवं मेरे ग्रंथ सम्मिलित थे और इस प्रकार ही तमाम चीजों के बीच ही वह वैज्ञानिक एवं मैं मित्र बन गए। यह चिचित्र ही है कि एक समय की खोज की समस्या ही उसकी विशिष्ट रुचियों में से एक थी–क्योंकि जब संसार के विभिन्न भागों में दो या अधिक अन्वेषक बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हुए एक ही वैज्ञानिक खोज को ढूँढ निकालें। उसी प्रकार की एक घटना तब घटित होती है, जब आधुनिक समय में हम बिना जाने ही प्राचीन भारत एवं चीन के विचारों को दोबारा खोज निकालते हैं।

वास्तव में आधुनिक पश्चिमी विचारधारा एवं बौद्धदर्शन की प्रमुख प्रवृत्तियों में लगभग एक अलौकिक समानता है। बर्गसाँ, व्हाहिटहैड, विटगनस्टाइन, श्रोडिंगर, डी वी, कोर्जोबिस्की, हाइडेगर, व्हाइटे, टिलिप–ये सभी कुछ महत्त्वपूर्ण तरीकों से बौद्धों के समान ही सोचते हैं। परन्तु हम इस बिन्दु पर क्यों बल दें? इनमें से बहुत ही कम लोगों ने पूर्वी विचारधारा के गहन अध्ययन के साथ ही अपना काम शुरु किया था जब कि आपके हाथों वाली यह पुस्तक 1907 में पहली बार प्रकाशित हुई थी। फिर भी इस सांप्रदायिक एक तरफा आन्दोलन के खेल

में एक मोहरे के समान इस प्रकार की समानता को प्रयोग में लाने का कोई अर्थ नहीं है, जैसे मानो हम यह कहें कि, "देखो उन अन्धविश्वासी ईसाइयों के विरुद्ध ये बौद्ध कितने आधुनिकतम एवं वैज्ञानिक थे।" शायद इस पुस्तक में ऐसे एक तरफा आन्दोलन के संकेत विद्यमान हैं, परन्तु यह विचार करते हुए यह समझ में आता है कि डॉ० सुजुकि ने यह पुस्तक तब लिखी थी जब विद्वत समाज में पूर्व की विचारधारा का बहुत ही कम आदर होता था, परन्तु इस विचारधारा को आज यह आदर प्राप्त है, बहुत ही अधिक रूप में इसके लिए उनके इस अपने ग्रंथ को ही धन्यवाद देना चाहिए। आधुनिक विचारधारा में महायान बौद्ध धर्म एवं विभिन्न प्रवृत्तियों की समानता का महत्त्व एक संपूर्ण रचनात्मक दिशा में विद्यमान है, जिसका बौद्धधर्म के लिए किसी भी प्रकार के सांप्रदायिक प्रचार से कोई लेना देना नहीं है। वास्तव में, महायान बौद्धधर्म की प्रवृत्तियाँ का एक गंभीर अध्येता पश्चिम में बौद्धधर्म के प्रचार के एक संगठित धर्म के रूप से केवल निराश ही होगा।

यद्यपि यहाँ सुजुकि बौद्धधर्म की एक धर्म के रूप में बात करते हैं, यह केवल अत्यधिक अस्पष्ट एवं इसके सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि इसकी प्रवृत्तियों के अध्ययन में उन विचारों से कोई समानता नहीं है जो बपतिस्मा-दाता की अपेक्षा रोमन कैथोलिक बनने के लिए प्रभावित करेगा, या इसके विपरीत। बौद्धधर्म का सच्चा संबंध मानसिक-चिकित्सा के नजदीक है, या इस विश्वास की विभिन्न व्यवस्थाओं के बीच चुनाव की अपेक्षा नेत्र विज्ञान जैसी किसी वस्तु के नजदीक है, जिसको हम पश्चिम दिशा में एक धर्म को स्वीकार करने के रूप में पहचानते हैं। बौद्धधर्म का धर्मान्तरण पाकशास्त्र की अदला-बदली के समान नहीं समझा जा सकता है, जब तक कि धर्मान्तरण का अर्थ केवल यह न हो कि मोची बनने की अपेक्षा एक व्यक्ति रसोइया बन गया है या कि कोई व्यक्ति भोजन बनाने में अच्छी प्रकार से रुचि लेने लगा है। क्योंकि बौद्धधर्म चाहे हीनयान या महायान सिद्धान्तों एवं आदेशों की व्यवस्था मात्र नहीं है जिसको हमारे विश्वास एवं सम्मान की आवश्यकता है। यह हमारे विचारों एवं अन्तश्चेतना को सुधारने एवं ठीक करने का एक तरीका (धर्म का सही अर्थ) है। यह बिल्कुल अनुभवात्मक एवं सांसारिक है कि विश्वासों या विचारों की एक श्रृंखला या व्यवहार के नियमों की अपेक्षा बौद्धधर्म की वास्तविक

विषय-वस्तु को एक तात्कालिक, एवं अवाचिक कहा जाना चाहिए।

संक्षेप में, बौद्धधर्म किसी व्यक्ति की पहचान के भाव को परिवर्तित करने का एक प्रकार है अर्थात् बौद्धधर्म वह मार्ग है जिसमें कोई व्यक्ति जीवित रहने के तथ्य का अनुभव करता है। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व हो या पश्चिम 600 बी. सी के समान आज भी अधिकांश लाग त्वचा के खोल में बन्द अकेले एवं छिटकी हुई आत्माओं, दिमागों या, अहंकारों के रूप में अपने आपको अनुभव करते हैं। भौतिक घटनाओं का बाह्य संसार, विचार एवं भावनाओं का आन्तरिक संसार दोनों ही ऐसे क्षेत्र हैं जिसको आत्म (मनुष्य का स्वत्व) अपने से परे एवं अपने से भिन्न रूप में इनसे सामना करता है। अत: एक व्यक्ति अपने आपको इसके (बौद्धधर्म) अन्दर अनुभव करता है, परन्तु सही रूप में इसका अनुभव नहीं करता है, यह एक ऐसा ब्रह्माण्ड है जो उसके लिए बिल्कुल भी परवाह नहीं करता है और जिसमें वह एक अनित्य विचित्र प्राणी है। बौद्धधर्म भारत में वेदान्त एवं योग के साथ-साथ एवं चीन में ताओवाद के साथ-साथ इस पृथक् पहचान के भाव को मतिभ्रम समझता है।

यह मतिभ्रम उस ऊँचे अंश का दु:खी गौण-उत्पादन है जिसके लिए मनुष्य ने चेतन ध्यान की शक्ति का विकास कर लिया है—उन आकृतियों पर केन्द्रित करने वाली जानकारी की शक्ति का विकास कर लिया है, जिसमें उन आकृतियों की भूमिका को छोड़ दिया गया है, उन वस्तुओं एवं घटनाओं पर केन्द्रित करने वाली शक्ति का विकास कर लिया है जिसमें उनके वातावरण संबंधी प्रकरण को तिरोहित कर दिया गया है। इस उत्तम परन्तु सीमित जानकारी के स्वरूप की सजा पार्थिव अविद्या है, जो आकृति के साथ अपृथक् रूप से संप्रक्त है, वह (अविद्या) उस संदर्भ से भी जुड़ी है जो घटना के साथ विद्यमान रहती है, और वह (अविद्या) उस ब्रह्माण्डीय वातावरण में भी संप्रक्त है जो वैयक्तिक शरीर-रचना से जुड़ी है। संक्षेप में, यह अत्यधिक चुनिंदा एवं ऐकान्तिक चेतना की अत्यधिक वैशिष्ट्य वाली प्रवृत्ति मनुष्य में एक भ्रम पैदा करती है कि वह स्वयं-उसकी पहचान उसकी त्वचा तक ही सीमित है। इस विचार का समुचित सुधार उस व्यक्ति को यह दर्शाएगा कि ''वह'' त्वचा के बाह्य के ब्रह्माण्ड के समान वैसा ही है जैसे कि वह अवयवों की आन्तरिक व्यवस्था के समान ही है। एक का व्यवहार दूसरे का व्यवहार है, और दोनों का अस्तित्त्व आगे एवं पीछे

के समान ही अन्योन्याश्रित, पारस्परिक आपसी या सहसंबधी है।

लोगों को यह देखने से रोकने के लिए कि यह सच है कि यह लगभग आम सहज बुद्धि वाला षड़यन्त्र मालूम पड़ता है। हमारी भाषाएँ, विचार एवं भाव के विस्तारपूर्ण व्यावहारिक तौर तरीके और सामूहिक रूप से हमारी सामाजिक परम्पराएँ व्यक्ति एवं ब्रह्माण्ड को एक क्षेत्र, एक व्यवस्था तथा क्रिया कलाप को प्रक्रिया के रूप में देखने तथा अनुभव करने को आश्चर्यजनक रूप से कठिन बनाते हैं— संक्षेप में, एक व्यक्ति के रूप में। अतः मनुष्य वैयक्तिक शरीर-रचना के जन्म एवं मृत्यु की व्यक्तियों के आदि एवं अन्त समझता है, वह यह अनुभव नहीं करता है कि वे वृक्ष के पत्तों के समान आते हैं और चले जाते हैं और यदि हम कहें तो वृक्ष ही वास्तविक व्यक्ति है। परन्तु इस अनुभूति के लिए अन्तश्चेतना के विस्तार एवं गांभीर्य की आवश्यकता पड़ती है ताकि सामान्य ध्यान का संकीर्ण प्रकाश-पुञ्ज उसके मूलस्रोत को खोज लेता है जहाँ से यह आलोकित होता है।

बौद्धधर्म के ग्रंथ का वास्तविक विषय इसी अन्तश्चेतना का विस्तार ही है। अन्य किन्हीं विचारों की श्रृंखला की अपेक्षा इसी ने आधुनिक विचारधारा के विकास में अपना योगदान प्रदान करना है। क्योंकि, जैसे हम शीघ्र ही देखेंगे, पश्चिमी दर्शन एवं विज्ञान ऐसे सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों पर पहुँच गए हैं, जो आश्चर्य जनक ढंग से महायान बौद्धधर्म के निकट हैं। परन्तु उन दृष्टिकोणों के अधिकांश भाग सैद्धान्तिक ही रह गए हैं: अन्तचेतना की स्थिति में कोई वास्तविक एवं समानान्तर परिवर्तन नहीं आया है, और इसके परिणामस्वरूप एक व्यक्ति वस्तुओं की अनुभूति के बिना ही उनको जानता है। दूसरे शब्दों में, बीसवीं सदी का वैज्ञानिक अपने पर्यावरण एवं जीव विज्ञान के अध्ययन से सैद्धान्तिक रूप से वह यह जानता है कि वह एक शरीर-रचनात्मक संबंधी वातावरण का एक क्षेत्र ही है। परन्तु अपने अभ्यास में वह यह जानता है कि मानो वस्तुनिष्ठ रूप से वह अभी भी सौलहवीं या दूसरी शताब्दी में विद्यमान है; अपने आप के लिए यह भावना करते हुए कि उसके वातावरण के संमुख होते हुए वह एक एक मात्र शरीर रचना ही है। उसने उस नए तादात्म्य का कभी भी अनुभव नहीं किया है जिसकी ओर सिद्धान्त संकेत करता है, और वह किसी भी प्रकार के रोगात्मक एवं ''प्रतिगामी'' रहस्यवादी रूप के अनुभव से भयाक्रान्त हो सकता है।

मैं उन सभी प्रमुख दृष्टिकोणों की समीक्षा करना चाहता हूँ जिसमें मैं यह

अनुभव करता हूँ कि इस बीसवीं शताब्दी में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा महायान बौद्धधर्म के समानान्तर ही है। परन्तु प्रारंभिक स्थिति में ही यह जानना उचित होगा कि क्या महायान बौद्धधर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा पर कोई ऐतिहासिक प्रभाव रहा है या नहीं। इस प्रश्न का निर्णय करना खासतौर पर कठिन है क्योंकि यद्यपि बौद्ध दर्शन के बारे में विश्वसनीय जानकारी कम से कम इस शताब्दी के प्रारंभ से ही मिलनी शुरू हुई है, परन्तु अभी हाल तक-ऐसा कुछ नहीं हुआ है जिसमें शैक्षणिक, दार्शनिक या वैज्ञानिक गंभीर रुचि पैदा कर सके, जब तक कि, निस्सन्देह वह एक प्राच्यविद्याविद या भाषावैज्ञानिक न हो। तब उसकी रूचि विशुद्ध रूप से औपचारिक होगी, वह इसके दार्शनिक एवं अनुभवात्मक विषय से पृथक् रूप से एक नियम के रूप में बौद्धधर्म के साहित्य पर एवं पुरातन विषयों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेगा। फिर भी, एक प्रमाण विद्यमान है कि अनेक पश्चिमी विद्वानों की इन विषयों में व्यावहारिक रुचि नहीं है जिनको वे अपने साथियों को बतलाने में सावधान थे।

दूसरी ओर, बौद्धधर्म का गैर-ईसाई मूर्ति पूजा पद्धति एवं उन संस्कृतियों से तालमेल था जो पश्चिमी उपनिवेशवाद के लिए इसे दकियानूसी एवं पुराणपंथी के रूप में परिभाषित करना सुविधाजनक समझते थे। दूसरी तरफ, शताब्दी के समाप्ति के आस-पास पूर्वी दर्शन व्यापक रूप से ब्रह्मविद्या के विभिन्न स्वरूपों से संबंधित हो गया था, और इसके साथ ब्रह्मविचार ने गुह्य या मानसिक संघटना पर बल दिया था। इसने उस समय किसी भी प्रकार से इसकी अनुशंसा वैज्ञानिक विचार के लिए नहीं की थी। फिर 1900 के कुछ समय पहले ही महायान बौद्धधर्म तथा पूर्वी दर्शन की दूसरी विद्याओं पर शनैः शनैः काफी भारी भरकम काम हुआ है। यह इस दर्शन के व्यावहारिक एवं अनुभवात्मक आयाम के लिए विद्वतापूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण दोनों ही है। वर्तमान ग्रंथ इस प्रवृत्ति का सबसे प्राचीन उदाहरणों में से एक है, और इस लेखक के परवर्ती ग्रंथों और बौद्ध विद्वता की सामान्य उन्नति की तुलना में आज का पाठक उस ग्रंथ की अचानक प्रशंसा न कर सके, जो कि यह एक अद्वितीय उपलब्धि है।

जहाँ तक मैं देख सकता हूँ डा. सुजुकि पहले एशियाई, बौद्ध या हिन्दू थे जिनमें अँग्रेजी के उत्कृष्ट ज्ञान तथा अपनी दार्शनिक परम्परा के पांडित्यपूर्ण विद्वता का संमिश्रण पाया जाता था जो पश्चिमी मापदण्डों से एक दम ठोस था तथा

विषय के प्रति उनकी विद्वता सहानुभूतिपूर्ण थी और तब ही वे एशियाई दर्शन का एक व्यवस्थित वर्णन ''महायान बौद्ध धर्म की रूपरेखा'' नामक ग्रंथ में लिख सके। ग्रंथ-सूचियों को खोजते मैंने यह पाया है कि यह इतने पहले समय[1] में एक एशियाई द्वारा ग्रंथ लिखा गया था जिसकी तुलना किसी अन्य से नहीं की जा सकती है। एशिया से बाहर निकल कर तब सुजुकि पहले महान विद्वान-व्याख्याता थे जिन्होंने पश्चिम के लिए पूर्व की व्याख्या की और इस पर विचार करना आश्चर्यजनक है कि 1963 की गर्मी में मैं इसे लिख रहा हूँ, वे जिन्दा हैं और 94 वर्ष की आयु में भी तन्दुरस्त हैं। ''महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा'' के बीस वर्ष तक भी उनका सर्वोत्तम ग्रंथ प्रकाशित नहीं था, क्योंकि 1927 में ही उन्होंने ''ज़ेन बुद्धिज्म'' का पहला वाल्यूम प्रकाशित किया था। इसके थोड़े ही दिन बाद जेम्स बिसेट प्राट ने प्रसिद्ध टिप्पणी की कि सुसंस्कृत व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ होती हैं :वे व्यक्ति जिन्होंने सुजुकि को पढ़ा है और वे जिन्होंने सुजुकि को नहीं पढ़ा है। वास्तव में संस्कृति के अनेक लोगों ने इसको नहीं पढ़ा होता तो यह कहना निरर्थक होता। संभवतः कुछ साहित्यिक जासूस किसी दिन सुजुकि के प्रभाव की वास्तविक श्रृंखलाओं को खोज निकालेगें। यह उपेक्षणीय नहीं रहा होगा परन्तु इसके साथ-साथ कुछ विचार ''हवा में रहते हैं'' और हम उनका स्रोत बिना जाने ही उनको ग्रहण कर लेते हैं।

फिर पश्चिमी वैज्ञानिक विचारधारा में कौन सी कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं जो महायान बौद्धधर्म के अत्यधिक समान हैं? सबसे प्रथम, सबसे अधिक सामान्य अर्थ में सापेक्षता है— यह पहचान कि कोई भी ऐसा सार्वभौमिक सत्य नहीं है जिसको एक सार्थक स्वरूप में कहा जा सके। प्रत्येक वस्तु जो ऐसी है, वह

---

1. निस्सन्देह मैं व्याख्यात्मक अध्ययनों की बात कर रहा हूँ, अनुवाद की बात नहीं कर रहा हूँ। इस सम्मान के लिए केवल स्वामी विवेकानन्द ही सुजुकि के प्रतिद्वन्द्वी होंगे, परन्तु उनका झुकाव प्रकट रूप से एक विद्वान की अपेक्षा प्रचारक एवं लोकप्रिय बनाने वाला था। 1900 से पहले बुन्यो नाञ्जो एवं जुनजीरो ताकाकुसु दोनों ही प्रसिद्ध विद्वानों ने अंग्रेजी में ग्रंथ प्रकाशित किया, परन्तु सूचीपत्रों के रूप तथा गौण बातों पर लेखों के रूप में। एक एशियाई के द्वारा लिखा गया दूसरा ग्रंथ ''सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्ट थॉट,'' जिसकी तुलना सुजुकि के ग्रंथ के साथ की जा सकती है; जो 1912 में कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किया गया था।

एक विशिष्ट प्रेक्षक या एक विशिष्ट परिस्थिति के संबंध में है। एक साथ तमाम या सभी संभव दृष्टिकोणों से उसके बारे में कहना असंभव है। (ये अन्तिम दो वाक्य सार्वभौमिक कथन प्रतीत होते हैं, यद्यपि वास्तव में प्रेक्षण एवं वर्णन के कथन के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं हैं।) इस प्रकार यथार्थ, सत या सभी वस्तुओं के स्वभाव के बारे में कोई प्रामाणिक कथन करने का कोई तरीका नहीं है। आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन, तार्किक प्रत्यक्षवाद, वैज्ञानिक अनुभववाद, या इसे जो भी कहें-इन सबके बारे में सामान्य आम राय विद्यमान है। जहाँ तक इसका संबंध है, महायानियों का एक शून्यता का सिद्धान्त है, जैसा कुछ लोगों ने विश्वास कर रखा है, यह इस बात का दावा नहीं है परन्तु ब्रह्माण्ड के बारे में सभी स्थापनाएँ या विचार शून्य तथा अप्रामाणिक हैं।

तार्किक प्रत्यक्षवाद के असमान महायान बौद्धधर्म अपनी जानकारी तार्किक रूप से तुच्छ वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रखता है और वह इसमें ही व्यस्त नहीं रहता है। यह अपना संबंध ब्रह्माण्ड एवं यथार्थ के ज्ञान से स्थापित करता है, जो (ज्ञान) अपने आप में अवाचिक है। मानो शून्यता का एक सकरात्मक स्वरूप भी है जो अनुभवगम्य है परन्तु अनभिलाप्य है। इसको इस शब्द के अन्य अर्थों के माध्यम से प्राप्त किया जाना चाहिए जो यह है कि यथार्थ, अवाचिक संसार में न तो वस्तुएँ हैं और न ही घटनाएँ हैं। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो आधुनिक पश्चिम में अर्थविज्ञान के विभिन्न स्वरूपों से संबद्ध है, और विशेष रूप से कोर्जोबिस्की, सपीर, वोर्फ, और कुछ हद तक पहले व्हिटगनस्टाइन के कार्य से संबद्ध है। क्योंकि उस कार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्तुएँ तथा घटनाएँ ईकाइयाँ है, स्वभाव की नहीं अपितु विचार की ईकाइयाँ हैं। मौलिक रूप से एक वस्तु या एक घटना काल या दिक् का कोई क्षेत्र ही है जिसके ऊपर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। अतः संसार को हमारी विचारधारा से सम्बन्धित करने के लिए हमें इन्हें व्यवस्था योग्य ईकाइयों में विभाजित करना चाहिए। यही तरीका है जिसे हम वक्र रेखाओं को नापने के लिए केलकुलस का प्रयोग करते हैं, यही वह तरीका है जिसमें हम अपना भोजन करते हैं। भोजन को गस्सों में विभाजित किया जाता है या मुँह में आने वाले टुकड़ों में विभाजित किया जाता है। परन्तु जैसे गायों का विकास तैयार किए भोजन से नहीं होता है, स्वाभाविक ब्रह्माण्ड एक तैयार की गई वस्तु के रूप में विद्यमान नहीं रहता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वास्तविक संसार एक रूपहीन और नीरस गूदा है। यह उसी प्रकार विद्यमान रहता है जैसे हम इसे देखते हैं, परन्तु आवश्यक रूप से उस तरह नहीं जैसे हम इसकी कल्पना करते हैं।

अतः संसार की पृथक् वस्तुओं के बाहुल्य के रूप में कल्पना करना मूलभूत एकता की उपेक्षा करना है जो आकाश में व्यापक रूप से दूरस्थ समूहों में विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार यह एकता एक व्यक्ति के अपने शरीर में अनुपाततः दूरस्थ अणुओं में विद्यमान रहती है। कारणता के रहस्यात्मक संबंधों के माध्यम से एक घटना को दूसरी घटनाओं से समझना केवल इस बात को देखना एक विफलता है कि इस प्रकार से संबंधित घटनाएँ वास्तव में एक अकेली घटना का निर्माण करती हैं। इस प्रकार बदले में एक घटना को एक प्रकार से देखना ही इसे दूसरी प्रकार से देखने की अभिव्यक्ति करती है। इस घटना को महायानी धर्मकाय के नाम से पुकारते हैं।

अतः बौद्धदर्शन के एक अंश को बौद्धिक मौन के रूप में विकास करना रहा है, और वह भी कुछ समय के लिए ही। कुछ समय के लिए चाहे जो भी घटना हो, इसके बारे में सावधान रहना है, इसके बारे में बिना सोचे हुए और अपने दिभाग में इसके बारे में शब्दों एवं प्रतीकों का निर्माण न करते हुए। तब संसार तथता की अपनी भौतिक स्थिति में दिखलाई देता है। परन्तु यह उसको अभिव्यक्त करता है जिसे कोर्जोबिस्की ने "अनभिलाप्य" कहा था, अर्थात् यथार्थ का अवाचिक स्तर। जीवन अपने आप में बिल्कुल समस्याविहीन है, बौद्ध दर्शन का बल इसको देखने पर है। कुछ विशिष्ट समस्याएँ हैं कि पुल का निर्माण कैसे करना है या अग्नि का शमन कैसे करना है परन्तु सत् की कोई समस्या नहीं है जब तक कि कोई इसे शून्य में से अपने लिए उत्पन्न नहीं कर लेता है। क्योंकि, जैसे व्हिटगनस्टाइन ने समझा था, प्रश्न पूछने से या अपने सामने या दूसरों के सामने समस्या रखकर हम जीवन की समस्या का निर्माण करते हैं, जो प्रश्न निरर्थक हैं या परस्पर विरोधी हैं। प्रकृति के टुकड़ों पर मूल्यों का निर्धारण कर हम संसार को एक पेचीदा खेल बनाते हैं, और फिर उस खेल को स्वयं संसार से भ्रमित करते हैं। व्हिटगानस्टाइन के शब्दों में:

"संसार का भाव संसार के बाहर विद्यमान रहना चाहिए। संसार में प्रत्येक वस्तु जैसी वह है वह वैसी ही है और जो घटित होता है वह होता ही है। इसमें

कोई मूल्य नहीं है और यदि इस में कोई मूल्य होता है वह किसी का भी नहीं होता।

यदि कोई मूल्य है जो काम का है, वह इसी प्रकार से सभी घटनाओं के बाहर रहना चाहिए। क्योंकि सभी घटनाएँ आकस्मिक हैं।''[1]

एक महायानी यह संकेत करेगा कि यह अनुभव करना कि इस संसार में कोई मूल्य नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि यह मूल्यहीन है, क्योंकि जैसे हम इस संसार का प्रयोग करते हैं, इसमें नकारात्मक मूल्य-निर्धारण निहित है कि संसार अस्तव्यस्त, बेकार, मूल्यहीन आदि है। तथता ही केवल एक ऐसा संसार है जो मूल्य के परे है। सकारात्मक या नकरात्मक। इस स्तर पर संसार भी स्वयंभू जैसा शब्दों के अर्थ में आकस्मिक है। ''आकस्मिक'' शब्द में संसार में कुछ अचानक घटित होने का भ्रामक अर्थ है, यह संसार व्यवस्थित समझा गया है।

अत: शून्यता एवं तथता मौलिक हैं तथा एक दूसरे के पूरक शब्द हैं। शून्यता का अर्थ है: नित्य या क्षणिक एक या अनेक, यथार्थ या अयथार्थ, सत् या असत्, अच्छा या बुरा जैसे शब्द समग्र रूप में संसार पर लागू नहीं होते हैं। इनमें सभी का अर्थ एक दूसरे के विरुद्ध या विपरीत है। परन्तु इस संपूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं है जो इसके विपरीत हो। विचार वास्तव में एक वर्गीकरण की व्यवस्था या अनुभवों को बौद्धिक बक्सों में छाटने की व्यवस्था है। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक बक्से का बाहर और अन्दर दोनों होने चाहिए, परन्तु समग्र रूप से संसार का कोई बाहर नहीं है। और अत: इसका कोई अन्दर भी नहीं है: यह किसी भी श्रेणी में नहीं है। इसके अतिरिक्त शून्यता का अर्थ है कि संसार वास्तव में न तो विभाजित है या पृथक्-पृथक् वस्तुओं एवं घटनाओं से निर्मित है। क्योंकि प्रत्येक विभाजन एक संगठन भी है और यह अन्योन्याश्रित है। इसकी आकृति पृष्ठभूमि के विरुद्ध चमकदार ढंग से स्थित रहती है, परन्तु बिना पृष्ठभूमि के आकृति व्यक्त नहीं होती है। अस्तित्त्व को पकड़ने के लिए अपने प्रयत्न में शून्यता विचार की समाप्ति है। परन्तु जब विचार अपनी पकड़ को ढीली कर देता है तो संसार की कल्पना

1. टेक्टेस लोजिको-फिलोसोफिकस, 6.41 रूटलेग लंन्दन 1960। ''संसार से बाहर'' का यह अर्थ होगा, कोई प्रतीकात्मक व्यवस्था, जैसे विचार या भाषा के अर्थ में, भाषा संसार को अभिव्यक्त करती है।

नहीं की जाती है परन्तु यह तथता के रूप में अनुभव किया जाता है। अर्थात् सब कुछ जो घटित होता है, वह स्वयं व्याख्यात्मक, स्वयं-पर्याप्त होता है और क़ेवल घटित होने से ही संपूर्ण होता है, फिर भी ऐसे स्वरूप में एक व्यक्ति नहीं कहता "फिर क्या?" परन्तु "हे भगवान!" या "अच्छा तो मैं बर्बाद हो जाऊँगा।"

महायान बौद्धधर्म की सबसे गहरी अन्तर्दृष्टि का आधुनिक प्रतिरूप जान डीवि के कार्यसंपादनवाद, और व्हाइटहैड के अवयवी दर्शन, एवं फान बर्टेलेन्फाई, गोल्डस्टाइन तथा वुडगर जैसे जीवविज्ञानियों में उपलध होते हैं[1]। अवतंसकसूत्र के गहन अध्ययन से पहले सुजुकि ने अपना "महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा" नामक ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ महायानी दर्शन के उच्च बिन्दुओं को अभिव्यक्त करता है। अवतंसकसूत्र नामक ग्रंथ का प्रमुख विषय है धर्मधातु अर्थात् पारस्परिक अन्योन्याश्रित का सिद्धान्त। डा. ताकाकुसु ने इसे निम्नलिखित ढंग से अभिव्यक्त किया था:

"बौद्धधर्म का कहना है कि कोई भी वस्तु अकेले या वैयक्तिक रूप में उत्पन्न नहीं की गई थी। ब्रह्माण्ड में सभी वस्तुएँ पदार्थ एवं मन एक साथ पैदा हुए, इनमें सभी वस्तुएँ एक दूसरे पर आश्रित हैं। इनमें से प्रत्येक का प्रभाव पारस्परिक रूप से व्याप्त है और उसके द्वारा ये सामञ्जस्यपूर्ण संपूर्णता की एक सार्वभौमिक स्वरसंगति का निर्माण करते हैं।"[2]

ऊपर वाले उद्धरण में "एक साथ" शब्द शायद बिल्कुल भी अच्छे ढंग से नहीं चुना गया है। इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक वस्तु एक साथ अस्तित्व में नहीं आई है। बल्कि विचार यह है कि सभी घटनाएँ, भूत, वर्तमान, एवं भविष्य यहाँ

1. जोसफ नीडम, अवययी संप्रदाय के जीवनविज्ञानी ने, यदि पूरी तरह से कायल करने वाले नहीं परन्तु इस विचार के लिए निष्कपट कारण दिए हैं कि व्हाइटहैड के अवयवीवादी दर्शन को ताओवादी चुआंग-त्ज्यु में खोजा जा सकता है— और इसको लाइबनित्स के चिदणुवाद के माध्यम से खोजा सकता है जो चिदणुवाद स्वयं लाइबनित्यस के ताओवादी साहित्य के पहले लातीनी अध्ययन से ग्रहण किया जा सकता है। देखिए उनका "ग्रंथ साइंस एण्ड सीविलेजेशन इन चाइना," वा 2, पृ. 291-303। 1947 पृ. 1. 40।
2. ऐसेन्सिअलस् ऑफ बुद्धिस्ट फिलोसोफि, हवाई विश्वविद्यालय, होनुलुलु।

या अन्यत्र पारस्परिक रूप से एक दूसरे पर आश्रित हैं। जब तक बाद वाली घटना बी का निश्चय नहीं हो जाता, पहली घटना ए नहीं होती है, जैसे कि जब तक नैगेटिव टर्मिनल को जोड़ा नहीं जाता है, तब तक पोजिटिव टर्मिनल से बिजली का करंट चालू नहीं होता है। प्रस्थान को एक पहुँचने वाले स्थल की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि बी नामक घटना के प्रारम्भ होने से पहले ही ए नामक घटना को समाप्त हुआ जैसा परिभाषित किया जा सकता है। बी नामक घटना का घटित होना ए नामक घटना के होने पर ही निर्भर करेगा। इसी प्रकार से ही सारी वस्तुएँ प्रत्येक पर निर्भर करती हैं और वे इस प्रकार ऐसा करना चालू रखती हैं जब व्यक्तिगत घटना समाप्त हो चुकी होती है। एक ऐसा ब्रह्माण्ड जिसमें सुकरात नहीं हुआ, या नहीं हो सका, इस प्रकार का ब्रह्माण्ड नहीं होगा।

अवतंसकसूत्र ब्रह्माण्ड को एक अनेक-आयामी मणियों के तन्त्र से तुलना करता है, जिसमें प्रत्येक मणि में सभी दूसरों मणियों की आभा विद्यमान है। किसी एक का तात्पर्य अन्य सभी से है, क्योंकि सभी मणियाँ स्वयं आपको प्रत्येक में प्रक्षिप्त करती हैं। बहुत से व्यक्तियों को इस प्रकार की वापसी या ध्रुवीय संबंधों को समझने में कुछ कठिनाई होती है, यद्यपि यह नियम उतना ही सादा है जिसमें दो लकड़ियाँ अंग्रेजी अक्षर वी का निर्माण करती हुई एक दूसरे को सहारा देती हैं: एक दूसरी के बिना स्थित नहीं रह सकती हैं। यह कुछ मामलों में जान डीवि के व्यक्ति एवं संसार के बीच विद्यमान रहने वाले संपादन की प्रकृति वाले संबंध से खास तौर निकट है।[1] संपादन नामक शब्द अन्योन्यक्रिया या प्रतिक्रिया की तुलना में श्रेष्ठ चुना गया है क्योंकि संबंध की पारस्परिकता के बल के कारण इसको चुना गया है। खरीदने और बेचने के काम में दोनों ही क्रियाएँ एक साथ होती हैं, बिना बेचे कोई खरीद नहीं होती या बिना खरीदे कोई बेचना नहीं होता है।

इस प्रकार एक जीवित व्यक्तिगत शरीर रचना न केवल संसार का भाग है, परन्तु यह बिल्कुल इस संसार की प्रकृति के साथ ही रहती है जैसे सेव केवल सेवों के पेड़ों के साथ ही बढ़ते हैं। परन्तु इसके विपरीत, इस प्रकार संसार— प्रकाश एवं ध्वनि, वजन एवं ताने-बाने का संसार— हमारी शरीर संरचना

1. जे. डी वि एण्ड ए. एफ. बेण्टले, नोइंग एण्ड दि नोन, बेकन प्रेस बोस्टन, 1954।

के अनुकूल ही है। केवल नेत्र ही सूर्य से प्रकाश का आह्वान कर सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, तब कि जैसा शरीर रचना कुछ ऐसी चीज है जो संसार में है, उसी समय संसार भी कुछ ऐसी चीज है जो शरीर-रचना में है, क्योंकि प्रकाश एवं ध्वनि आकृति एव पदार्थ शरीर-रचना की स्थितियाँ हैं।

यह जीवन विज्ञानियों एवं पर्यावरणविदों द्वारा अधिक स्पष्ट किया जाता है जो पर्यावरणों में शरीर रचनाओं को नहीं देखते हैं, परन्तु शरीर-रचना-पर्यावरणों को देखते हैं, जो व्यवहार के मिले-जुले क्षेत्र हैं। किसी भी शरीर-रचना का वर्णन करते समय जीव विज्ञानी को तुरन्त यह पता चल जाता है कि वह पर्यावरण के व्यवहार का भी वर्णन कर रहा है। तब वह यह अनुभव करता है कि उसे एक नए तत्त्व की भाषा में बात करनी चाहिए शरीर-रचना-पर्यावरण। इसका एक रुचिकर परिणाम होता है कि वे लक्षण, जो पहले केवल शरीर रचना से संबंधित वर्णित किए गए हैं— विशेष रूप से समझ— इसको भी पर्यावरण संबंधी वर्णित किया जाना चाहिए। यही कारण है कि जीवविज्ञानी आज पर्यावरणों के विकास की बात करते हैं और शरीर रचनाओं को भी बात करते हैं, क्योंकि एक निश्चित शरीर-रचना केवल उस पर्यावरण में ही उत्पन्न होगी, जो इसे सँभालने के लिए पर्यावरण में ही उत्पन्न होगी, जो इसे सँभालने के लिए पर्याप्त रूप में विकसित है।

इस प्रकार की चीज को देखना कठिन था कि जितने समय तक विज्ञान विशुद्ध विश्लेषणात्मक तरीके से चीजों को समझा रहा था— अर्थात् छोटी ईकाइयों के ढाँचे के अध्ययन से संसार की बड़ी ईकाइयों का ब्योरा प्रस्तुत करने से छोटी ईकाइयाँ बढ़ी ईकाइयों का "निर्माण" करती हैं। इस प्रकार की पहुँच में सारे ढाँचे की एक स्पष्ट तस्वीर देने का अपरिहार्य गुण विद्यमान था, परन्तु इसने हमारे लिए एक भ्रम पैदा कर दिया कि कोशिकाएँ या अणु जैसी छोटी ईकाइयाँ किसी प्रकार से बड़ी शरीर रचनाओं के कारणों के लिए जिम्मेदार थे। परन्तु, जैसे फोन बर्टेलनफि ने इतने स्पष्ट रूप से दिखला दिया कि एक कोशिका क्या होती है और यह इस प्रकार की व्यवस्था या प्रकरण पर निर्भर करता है जिसमें यह उपलब्ध होती है।[1] परखनली में रक्त वैसा नहीं होता है जैसा यह हमारी

---

1. एल. फोन बर्टेलनफि, प्रोबलम्स ऑफ् लाइफ, हार्पर न्यू यार्क, 1960।

नसों में होता है, क्योंकि एक बात तय है कि यह भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है।

इस प्रकार की अन्तर्दृष्टियों को अधिकांश रूप में ऐसी अनुभूति से सहायता मिली है कि विज्ञान में एक व्यक्ति, जो चीजें हैं, उनकी बात नहीं करता परन्तु बात करता है जो वे करती हैं। संसार को एक व्यवहार या प्रक्रिया के रूप में वर्णित किया गया है, ताकि जो पहले ''चीज थी'' वह अब केवल एक ''घटना'' है। कोई व्यक्ति अब यह नहीं पूछता कि कोई चीज ऐसे-ऐसे तरीके से व्यवहार कर रही है; एक व्यक्ति केवल उसके व्यवहार का वर्णन करता है और कहता है कि यह कहाँ घटित हो रही है। दूसरे शब्दों में, एक कर्ता को एक कार्य को इस प्रकार वर्णित नहीं करना पड़ता जो कार्य से बिल्कुल भिन्न हो। कर्ता को भी पर्याप्त रूप में एक कार्य के रूप में वर्णित किया जा सकता है। ठीक ठीक रूप में बौद्धधर्म का अनात्म का सिद्धान्त यही है कि कर्म विद्यमान है परन्तु कोई कर्ता नहीं है कि मानव व्यवहार किसी वस्तुनिष्ठ आत्मा या अहंकार से प्रेरित नहीं है।

इस प्रकार जैसे पश्चिमी विज्ञान संसार के स्वरूप को व्यवहार के मिले जुले क्षेत्र के रूप में समझता है, यह धर्मकाय या धर्मघातु के पास एक विचार के रूप में पहुँचता है। परन्तु केवल एक विचार। पश्चिमी विज्ञान की अनुभूतिमूलक पहुँच को इस सिद्धान्त के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए कि परिकल्पना के बाद परीक्षण एवं जाँच-पड़ताल होनी चाहिए। अतः यह परिकल्पना कि मानव एक शरीर-रचना-पर्यावरण, वैयक्तिक ब्रह्माण्ड है, और इसको अनुभव से परिवर्तित किया जाना है, तो क्या किया जाना चाहिए?

स्पष्ट रूप से व्यक्ति को यह पता करना चाहिए या कि सभी विचारों एवं अपने अपने प्रतिबिम्बों से पहले और उनके पीछे वह क्या है। किसी भी प्रकार से उसे अपना मुखौटा, अपनी पहचान एवं घिसी-पिटी भूमिकाओं को उतार फेंकना चाहिए, और यह पता करना चाहिए कि अस्तित्त्व के रूप में वह क्या है, या, जैसे बौद्ध लोग कहेंगे, ''तथता'' के क्षेत्र में वह क्या है।

जब बौद्धधर्म को **धर्म** कहा जाता है, इस शब्द का अर्थ सिद्धान्त की अपेक्षा तरीका होता है। क्योंकि, सही अर्थ में कहें तो कोई बौद्ध सिद्धान्त हैं ही

नहीं। इसका तरीका आवश्यक रूप में बुद्ध एवं व्यक्ति के बीच का संवाद है, जो अपनी सही पहचान के प्रति जाग्रत हो जाता है, और एक साधारण व्यक्ति के रूप में, जो अपने आपको एक पृथक् अस्तित्त्व के रूप में अनुभव करता है। जब व्यक्ति एक प्रश्न पूछता है, तब संवाद प्रारम्भ हो जाता है जो उग्र एवं सादा हो सकता है जैसे कि दुःख से कैसे बचा जाता है। तब क्या होता है कि गुरु (यद्यपि गुरु का एशियाई विचार वास्तव में वह नहीं है जो हम एक अध्यापक से अर्थ निकालते हैं।) एक परीक्षण का प्रस्ताव रखता है। वह कोई उत्तर नहीं देता है, परन्तु कोई ऐसी बात सुझाता है कि प्रश्नकर्ता उन कारणों को जाँच कर सकें जिन पर वह अपनी समस्या को आधारित करता है। वह सुझाव दे सकता है कि चूँकि दुःख तृष्णा का परिणाम है, इसका हल तृष्णा को समाप्त करना है, और तब वह प्रश्नकर्ता को उसकी कोशिश करने के लिए भेज देता है कि दुःख की उत्पत्ति इच्छा या तृष्णा है, वे वास्तव में केवल संवाद की प्रारंभिक स्थितियाँ है (जिसमें परीक्षणों की एक श्रृंखला जुड़ी है)— एक ऐसा संवाद जो इस प्रकार समाप्त हो सकता है कि जिसका बहुत ही कठिनाई से प्रारंभ में पूर्वाभास होता है।

इस संवाद का आवश्यक सिद्धान्त शून्यता का उपयोग है अर्थात् प्रश्नकर्ता को यह पता लगाने देना कि वह कोई ऐसा काम नहीं करे कि वह कर सकता है, या करने से परहेज कर सकता है, या सोच सकता है, या सोचने से परहेज कर सकता है, से सारी बातें उसके प्रश्न का उत्तर देंगी। क्योंकि उसका प्रश्न इस मिथ्या अवधारणा पर आधारित है कि "वह" जो कुछ अनुभव करता है, उससे कुछ पृथक् है कोई ऐसी चीज जो ब्रह्माण्ड को घटित करती है, कोई ऐसी चीज जो सामना करती है, परन्तु संसार में अन्यत्र यह ही सब कुछ नहीं है। अध्यापक का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना है कि संसार का यह पृथक् "अनुभवकर्ता' कल्पित है; कि यह न तो कुछ कर सकता है या कुछ भी नहीं कर सकता है कि अनुभवकर्ता की तसल्ली के अनुकूल संसार को ग्रहण करने की विचार की सभी चालें बेकार हैं। संक्षेप में, इसके साथ रहने वाले संवाद, ध्यान एवं विचार-नियंत्रण के परीक्षण— ये सभी प्रश्नकर्ता के सामने एक पूर्णगतिरोध प्रस्तुत करते हैं। वह यह पाता है कि उसके सारे दार्शनिक एवं तात्त्विक विचार बेतुके हैं, उसकी सारी प्रेरणाएँ गलत हैं, और वे एक ऐसी स्थिति में हैं जहाँ आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक सुरक्षा को ग्रहण करने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं बचा है।

ऐसी स्थिति में उसके पास कोई विकल्प नहीं है, परन्तु (उसके पास यह एक विकल्प शेष है कि) चलने दो या बल्कि उसके सारे व्यक्तित्व के माध्यम से एक चलने देने का भाव आता है क्योंकि यह एक ऐसा काम है जिसको अहंकार को एक कर्ता के रूप में समर्पित नहीं किया जा सकता है। मानो वह एक गिरने वाला व्यक्ति के समान **शून्यता** में फेंक दिया जाता है, पहली बार पानी में और फिर सापेक्षता के समुद्र में। क्योंकि पानी में ग्रहण करने के लिए कुछ भी नहीं होता है, तैरने का नियम है— जाने देना और फिर पानी एक व्यक्ति को ऊपर उठा लेता है।

सादृश्य के आधार पर इस क्षण **शून्यता** का अनुभव एक विशिष्ट सकरात्मक तरीके से होता है, जिसके लिए महायान दर्शन कोई स्पष्ट सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत नहीं करता है, यह क्यों होता है। लगभग निरपवाद रूप में इसके पूरी तरह चलते हुए एक व्यक्ति अपने आपको संसार के प्रेमपाश में गंभीर रूप से बँधा हुआ पाता है। जैसा **सूत्र** बतलाते हैं, उसके अन्दर एक महान करुणामय हृदय उद्‌भूत हो जाता है। ऐसा होता है कि यद्यपि **धर्मकाय** को हमेशा ही नकारात्मक ढंग से वर्णित किया जाता है जो इसको बिल्कुल निराकार एवं सूखा जैसा दिखलाते हैं, वास्तविक अनुभवात्मक **धर्मकाय** बिल्कुल भिन्न है। जहाँ कहीं भी यह अपने आप में विद्यमान है, जब इसकी मानव अनुभव में अनुभूति होती है, यह **करुणा** की शक्ति बन जाता है— एक ऐसे व्यक्ति की **करुणा** जो यह जानता है कि किसी प्रकार से सभी दुःख उसका अपना ही है और सभी ''चेतन प्राणी'' छद्मवेश में उसकी अपनी आन्तरिक प्रकृति के अंश हैं। इन्हीं अन्तिम स्वरूपों में महायान बौद्ध धर्म पश्चिमी सभ्यता के लिए कुछ योगदान कर सकता है।

सुजुकि का ''महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा'' नामक ग्रंथ अपने पुराने समय के बावजूद बहुत से विषयों के लिए एक बहुत श्रेष्ठ प्रारंभिक परिचयात्मक ग्रंथ के रूप में विद्यमान है। परन्तु इसकी भूमिका वही है जो यह दावा करती है, और अतः पाठक को सूचित किया जाना चाहिए कि किस प्रकार उन विषयों का अच्छे ढंग से अनुसरण कर सके जिन विषयों की यहाँ चर्चा की गई है। विभिन्न दृष्टियों सहित और भी अनेक रूपरेखाएँ हैं। अफसोस की बात है कि यह सर्वोत्तम ग्रंथ आज बिल्कुल उपलब्ध नहीं है। यह ग्रंथ विलियम मेक गर्वन

द्वारा लिखित "इंट्रोड्कसन टू महायान बुद्धिज्म" (लंदन, 1922) डा. सुजुकि की पत्नि स्वर्गीय बिएटिस लेन सुजुकि द्वारा लिखित एक संक्षिप्त परन्तु विशिष्ट रूप से व्यापक विवरण है जिसका शीर्षक है "महायान बुद्धिज्म" (दि बुद्धिस्ट सोसाइटि, लंदन, 1938)। अत्यधिक संपूर्ण एवं अत्यधिक विद्वतापूर्ण जुनजीरो ताकाकुसु का "एसेन्शियल्स ऑफ बुद्धिस्ट फिलोसिफी" (यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई, होनुलुलु 1947) है। कुछ अपवादों को छोड़कर यह पुस्तक बहुत ही तकनीकी है और इसका पठन बहुत ही रूखा है, परन्तु यह सूचनात्मक बारीकियों से भरी पड़ी है और यह सर्वोत्तम संदर्भ ग्रंथ है। कुल मिलाकर बौद्धधर्म पर अनेक ग्रंथ है जिसमें महायान बौद्धधर्म पर पर्याप्त जानकारी दी गई है, विशेष रूप से एडवर्ड कोञ्जे का" बुद्धिज्म: इट्स इसेन्स एण्ड डेवेलपमेण्ट" (केसियर ऑक्सफोर्ड), सर चार्लस् इलियट का "हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म" (3 वाल्यूम रूटलेग, लंदन, 1957) और उनका "जैपनीज बुद्धिज्म" (आर्नेल्ड, लन्दन, 1935) कैनथ मोर्गन द्वारा संपादित, "दि पाथ ऑफ दि बुद्ध" (रोनेल्ड प्रेस, न्यू यार्क, 1956) और जे. बी. प्राट का" पिलग्रिमेज ऑफ बुद्धिज्म" (मैकमिलन, न्यू यार्क, 1928)।

फिर, "महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा" नामक ग्रंन्थ का पाठक महायान के विशिष्ट अध्ययनों की ओर जाएगा, वह विशेष ग्रंथ क्षेत्रों या संप्रदायों को समर्पित हैं। नागार्जुन के माध्यमिक संप्रदाय से विशेष रूप से संबंध रखने वाला टी. आर. वी. मूर्ति का 'सेन्ट्रल फिलोसिफी ऑफ बुद्धिज्म" है (एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1955), यह एक बहुत ही विद्वतापूर्ण एवं दार्शनिक श्रेष्ठता का ग्रंथ है, और यह माध्यमिक संप्रदाय की तुलना पश्चिमी दार्शनिकों— विशेष रूप से काण्ट के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। एक सामान्य पाठक के लिए माध्यमिक संप्रदाय की सामान्य भूमिका के लिए एलेग्जेण्डर डेविड-नील की एक छोटी सी पुस्तक है, "दि सिक्रेट ओरेल टिचिंग्स इन दि तिबेटन बुद्धिस्ट सेक्टस्" (महाबोधि सोसाइटि, कलकत्ता, 1956)। डेविड नील एक अद्वितीय फ्रांसीसी महिला हैं जिन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म का अध्ययन करते समय कुछ वर्ष व्यतीत किए, और, अब बहुत बड़ी आयु में जिन्होंने यह अत्यधिक गंभीर एवं सार्थक पुस्तक लिखी।[1]

1. मैं हमेशा ही उन लोगों को यह पुस्तक पढ़ने के लिए कहता हूँ जो मेरे पर बौद्धधर्म का अपना संस्करण पैदा करने का आरोप लगाते हैं; और मेरे विद्यार्थियों में यह "मैंने आपको यह पुस्तक बतलाई" के रूप में विदित हो गई है।

फिर, यह पुस्तक अमरीका में अनुपलब्ध है, इसके अतिरिक्त यह पुस्तक उन पुस्तक विक्रेताओं के पास उपलब्ध है जो प्राचीन साहित्य या तुलनात्मक धर्मों में विशेष रूचि रखते हैं।

तिब्बती महायान बौद्धधर्म की अच्छी भूमिका के लिए मार्को पल्ली का यात्रा वृतान्त,'' पीक्स एण्ड लामाज्'' (क्लोप्फ, न्यू यार्क, 1949) नामक ग्रंथ है, विशेष रूप से इसका 22वाँ अध्याय,'' दि प्रिजाईडिंग आईडिया, जो अब तक लिखे गए बोधिसत्त्व सिद्धान्तों के वर्णनों में सर्वोत्तम है। यह संपूर्ण रूप से तिब्बती बौद्धधर्म के सर्वेक्षण का वास्तव में अच्छा एवं आधुनिकतम सर्वेक्षण नहीं है, और अतः पाठक को उन ग्रंथों से अपनी जानकारी ग्रहण करनी चाहिए जो इसके आंशिक विषयों से संबंध रखते हैं। मैं डब्लु. वाई. इवान्स वेन्ट्ज के इन तिब्बती ग्रंथों की भूमिकाओं को पढ़ने की अनुशंसा करूँगा, ''दि तिब्बतन बुक ऑफ् दि डेड'' (आक्सफोर्ड'' 1954) और ''दि तिब्बतन बुक ऑफ् दि ग्रेट लिबरेशन'' (आक्सफोर्ड, 1954)। तिब्बती बौद्धधर्म के आध्यात्मिक विषयों का लोकप्रिय एवं अच्छी जानकारी देने वाला विवरण एलेग्जेण्डर डेविड नील की ''इनिशिएसन्स एण्ड इनिशिएट्स इन तिब्बत'' (राइडर, लन्दन, 19578) नामक पुस्तक में दिया गया है।

चीनी बौद्धधर्म संबंधी साहित्य निराशापूर्ण ढंग से अपर्याप्त है। एडकिन्स, बील और राइखेल्ट के पुराने स्तर के ग्रंथ प्राचीन एवं पूर्वाग्रहपूर्ण हैं। एक थोड़ी सी कम परन्तु उत्तम परिचायक पुस्तक जोन ब्लो फेल्ड की है,'' दि ज्वेल्स इन दि लोट्स'' (सिजविक एण्ड जेकसन, लंदन, 1948), जिसका उपशीर्षक है, ''एन आउटलाइन ऑफ् प्रेजेण्ट डे बुद्धिज्म इन चाइना।'' बहुत ही मूल्यवान परन्तु अतीव संक्षिप्त पुस्तक आर्थर राइट की है, ''बुद्धिज्म इन चाइनिज हिस्ट्री'' (स्टेनफोर्ड एण्ड आक्सफोर्ड, 1959) उन बहुत सी कम पुस्तकों में से एक जो सुदूर पूर्वी बौद्धधर्म को एक स्पष्ट ऐतिहासिक परिप्रेश्य में रखने का प्रयत्न करती है)। अन्यथा चीनी बौद्धधर्म का सर्वोत्तम विवरण जापानी बौद्धधर्म संबंधी पुस्तकों में विद्यमान है, यद्यपि सही दार्शनिक आयामों को फंग यु-लान की पुस्तक ''हिस्ट्री ऑफ् चाइनीज् फिलोसिफी'' वाल्यूम 2, प्रिंसटन, 1953) के संबद्ध अध्यायों में पूरी तरह विवेचित किया गया है।

परन्तु जब हम जापानी बौद्धधर्म पर आते हैं, इसका साहित्य विपुल है। मैं सर चार्ल्स इलियट के ग्रंथ "जैपनिज बुद्धिज्म" की पहले ही चर्चा कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त, डी.टी. सुजुकि की एक लोकप्रिय पुस्तक है, "ज़ेन एण्ड जैपनिज बुद्धिज्म" (जापान ट्रेवल ब्यूरो एण्ड चार्ल्स टूटल रूटलेण्ड, 1958), परन्तु एक सघन अध्ययन के लिए मैं मासाहारू एनस्कि की पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ जैपनिज रिलीजन" (केगन पाल, लंदन, 1930) की संस्तुति करूँगा। जहाँ तक जापानी बौद्धधर्म के विभिन्न संप्रदायों का प्रश्न हैं, अधिकांश रूप में ज़ेन की चर्चा हो चुकी है, और परिचायक ग्रंथों के रूप में मैं, सुजुकि की पुस्तक, "इन्ट्रोडक्सन टू ज़ेन बुद्धिज्म" (फिलोसिफिकल लायब्रेरी, न्यू यार्क, 1949), की संस्तुति करूँगा; और मैं अपनी पुस्तक, "दि वे ऑफ ज़ेन" (मेण्टर बुकस् न्यू यार्क, 1959) या नेन्सी बिलसन रॉस्क ज़ेन लेखों के उत्तम संग्रह "दि वर्ल्ड ऑफ ज़ेन" (रेण्डन हाउस, न्यू यार्क, 1960) की संस्तुति करूँगा। इस विषय में गहन अध्ययन के लिए पाठक को हैनरिच डुमोलिन की पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ् ज़ेन," (पेन्थन बुकस्, न्यू यार्क, 1959) और सुजुकि की पुस्तक, "ऐसेज इन ज़ेन बुद्धिज्म" (राइडर, लंदन, 1949, 1951) के तीन वाल्यूम को पढ़ना चाहिए।

अब मैं सुजुकि के समग्र लेखन के विषय पर आता हूँ। विभिन्न पत्रिकाओं मे पर्याप्त मात्रा के शोध-निबन्धों के अतिरिक्त, सुजुकि द्वारा अंग्रजी में लिखे गए कम से कम सत्तर वाल्यूम विद्यमान हैं। अतः मुझे एक मनमाना चुनाव करना चाहिए, जिसे मैं, पहले जिनकी चर्चा हो चुकी है, उनके अतिरिक्त उनके सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ समझता हूँ। सबसे पहले मैं, जिसे उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ समझता हूँ, उसे सूची में सम्मिलित करूँगा, "ज़ेन एण्ड जेपनीज कल्चर" (पेन्थन बुक्स न्यू यार्क, 1959) दो दूसरे अत्यधिक रुचिकर ग्रंथ हैं: "लिविंग वाइ ज़ेन (राइडर, लंदन, 1958)[1] और "दि ज़ेन डोक्ट्रिन ऑफ नो माइण्ड" (राइडर, लंदन, 1949)। ज़ेन के अतिरिक्त बौद्धधर्म के दूसरे स्वरूपों पर इसकी टिप्पणियों के लिए विशेष रूप से रुचिकर, विशेष रूप से शिन संप्रदाय पर उनका ग्रंथ "दि मिस्टिसिज्म

---

1. जापान में प्रकाशित इस ग्रंथ का बाद का भी संस्करण है जो काफी संशोधित है, परन्तु मैंने इसे अभी तक नहीं देखा है। 17वीं शताब्दी के मौलिक ज़ेन प्राचार्य बेनकई की शिक्षाओं के अध्ययन के लिए यह ग्रंथ विशेष रूप से मूल्यवान है।

क्रिसचन एण्ड बुद्धिस्ट'' है (हार्पर न्यू मार्क 1957)। ''स्टेडीज इन दि लंकावतारसूत्र'' जैसे उनके अतीव विद्वतापूर्ण ग्रंथ हैं, परन्तु वे एक सामान्य पाठक की रुचि के बाहर के हैं।

अन्त में, मुझे महायान बौद्ध धर्म के मूल स्रोत ग्रन्थों के अनुवादों की संख्या का उल्लेख करना चाहिए—ये अधिकांश रूप में उत्तरी भारत से हैं और मूलतः संस्कृत में लिखे गए हैं तथा बाद में इनका चीनी में अनुवाद किया गया है। एडवर्ड कोञ्जे के ''बुद्धिस्ट टेक्सट्स थ्रू दि एजिज'' (कैसियर, ऑक्सफोर्ड, 1954) और उनके ''बुद्धिस्ट स्क्रीपचर्स'' (पेनुयन क्लासिक्स लंदन 1959) में बहुत श्रेष्ठ संग्रह हैं। सुजुकि के ''मेनुअल ऑफ् ज़ेन बुद्धिज्म'' (राइडर लंदन, 1956) और एडवर्ड कोञ्जे के ''सेलेकटिड सेइगिंस फ्रोम दि परफेक्सन ऑफ विजडम्'' नामक ग्रंथों में और स्रोत उपलब्ध हो सकेंगे।

सोसेलिटो, केलिफोर्निया

मई, 1963

Dr. S. C. Goswami

67, Vaishali, Pitampura
Delhi-110 088, India
✆ 7318331
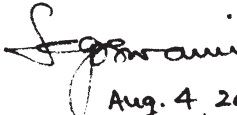
Dated ....

TO WHOM IT MAY CONCERN

I have gone through the Hindi translation by Dr. T.R.Sharma of D.T.Suzuki's book,"Outlines of Mahāyāna Buddhism".

I am glad to state that Dr. Sharma has done a wonderful job. The Hindi translation is very easy to understand and is thoroughly enjoyable by Hindi readers.

I congratulate Dr. Sharma for the excellent translation!

S.C. Goswami
Aug. 4, 2008

(S.C.GOSWAMI)

पुस्तक के बारे में

सुजुकि द्वारा लिखा गया 'महायान बौद्ध धर्म की रूपरेखा' नामक ग्रंथ महायान बौद्धधर्म पर आज तक लिखे गए ग्रंथों में संभवतः सर्वोत्तम ग्रंथ है। स्थान की सीमाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया यह महायान बौद्धधर्म के सभी आयामों की व्यापक रूप से चर्चा करने वाला ग्रंथ है। महायान बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक विषयों की व्याख्या करने वाला यह ग्रंथ अत्यधिक रुचिकर शैली में लिखा गया है और यह एक सामान्य पाठक के लिए सुपाठ्य भी है। इस श्रेष्ठ उद्यम में सुजुकि अधिकांश रूप से सफल हुए हैं।

लेखक के बारे में

41 वर्षों तक अध्यापन करने के बाद सेवानिवृत्त। अब तक दस पुस्तकें प्रकाशित जिनमें से दो पुरस्कृत। 40 से अधिक उच्चस्तरीय शोध-निबन्ध प्रकाशित। आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन विभाग में स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्यापन। 1993-94 में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, उपनिषद् एवं बौद्धदर्शन के अध्यापन के लिए ताईवान में नेशनल ताईवान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में विजिटिंग प्रोफेसर।

विषय सूची

अध्याय 5

भूततथता 76-95

अध्याय 6

तथागतगर्भ और आलयविज्ञान 96-106

अध्याय 7

अनात्म या अनंहकार का सिद्धान्त 107-136

अध्याय 8
कर्म 137–165

अध्याय 9
व्यावहरिक बौद्ध धर्म 166–184

अध्याय 10
त्रिकाय का सिद्धान्त 185–210
(त्रयी का बौद्ध सिद्धान्त)

अध्याय 11

बोधिसत्त्व 211–236

अध्याय 12

बोधिसत्त्व की दस भूमियाँ 237–251

अध्याय 13

निर्वाण 252–284

भूमिका

हीनयान और महायान बौद्धधर्म

''हीनयान'' और ''महायान'' नामक शब्द हमारे पाठकों को अपरिचित लग सकते हैं, शायद उन लोगों को भी जिन्होंने बौद्धधर्म के अध्ययन के लिए कुछ समय लगाया है। उनको अब तक इस बात को विश्वास करने के लिए प्रेरित किया गया है कि केवल एक ही प्रकार का बौद्धधर्म है और हीनयान एवं महायान जैसे भेद विद्यमान नहीं हैं। परन्तु एक तथ्य के रूप में जैसे दूसरे धर्मों में भिन्न-भिन्न धार्मिक व्यवस्थाएँ हैं, बौद्धधर्म में भिन्न-भिन्न संप्रदाय हैं। यह कहा जाता है कि बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त कुछ शताब्दियों में बीस से अधिक विभिन्न[1] संप्रदाय थे, और सभी अपने आपको अपने शास्ता की परम्परागत शिक्षा देने का दावा करते थे। फिर, ये संप्रदाय एक के बाद एक महत्त्वहीन होते चले गए प्रतीत होते हैं, जब अपने पूर्वजों से अपने सामान्य स्वरूप में बिल्कुल भिन्न एक नया संप्रदाय उद्‌भूत हुआ, परन्तु एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। इस नए संप्रदाय या बल्कि व्यवस्था ने इसी बीच में अपने

---

1. वसुमित्र के एक ग्रंथ के अनुसार, जिसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं, सबसे पहला कुमार जीवन का है, जो 401 ए. डी. में चीन में आ गए थे। पहला विभाजन बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त लगभग एक सौ वर्ष बाद हो गया था। मतभेद रखने वाले नेता महादेव थे, और उनका संप्रदाय महासांघिक के नाम से विदित था, जब कि परम्परागत संप्रदाय स्थविरों का संप्रदाय था। क्योंकि इन दोनों संप्रदायों ने अपने आपको अनेक छोटे संप्रदायों में उपविभाजित कर लिया था, जिनमें से वसुमित्र ने बीस का उल्लेख किया है। बौद्धधर्म के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाला यह ग्रंथ बहुत ही रुचिकर है।

आपको इतना प्रसिद्ध बना लिया कि यह दूसरे संप्रदायों से बिल्कुल अकेला दिखाई पड़ने लगा, जो आगे चलकर अपने आप में एक वर्ग ही बन गया। आवश्यक रूप से इस संप्रदाय ने, जिसको भी बौद्ध समझा जाता था, उस सब की शिक्षा दी, परन्तु यह अपने सिद्धान्त, तरीकों एवं क्षेत्र में बहुत ही व्यापक था। इसी कारण से ही बौद्धधर्म अब दो महान संप्रदायों में विभाजित हो गया, हीनयान एवं महायान, और सभी छोटे-छोटे संप्रदाय भी विभाजित हो गए जो अपनी औपचारिक स्थापना में महायान से पहले विद्यमान थे।

व्यापक रूप से कहा जाए तो हीनयान एवं महायान में यह भेद है: महायान अधिक उदार एवं प्रगतिशील है परन्तु अनेक दृष्टियों से अत्यधिक तात्त्विक एवं ऊहापोह वाले विचारों से भरा हुआ है जो प्राय: चकाचौंध वाली प्रसिद्धि तक पहुँच जाता है; दूसरी ओर, हीनयान कुछ रूढ़िवादी है और जिसको कई बिन्दुओं में केवल तार्किक नैतिक व्यवस्था के रूप में समझा जा सकता है।

महायान का शाब्दिक अर्थ है "बड़ा यान" और हीनयान का अर्थ "छोटा या घटिया यान" अर्थात मुक्ति का (यान)। यह भेद केवल महायान के अनुयायियों द्वारा ही पहचाना जाता है, क्योंकि ये ही वे लोग थे जिनके द्वारा हीनयान का अनादरणीय शीर्षक अपने प्रतिद्वन्द्वी भाइयों को दिया गया था— यह सोचकर कि वे अधिक प्रगतिशील थे और महायान की अपेक्षा उनमें आत्मसात् करने की ऊर्जा अधिक थी। सामान्य व्यवहार के रूप में हीनयान के अनुयायियों ने महायान के सिद्धान्तों को बुद्ध की शिक्षाओं को असली मानने से मना कर दिया और उसके बदले में इस बात पर बल दिया कि उनके अपने बौद्धधर्म के अतिरिक्त और दूसरा कोई बौद्धधर्म हो ही नहीं सकता था, उनके लिए स्वाभाविक रूप से महायान बौद्धधर्म संप्रदाय एक प्रकार का विधर्म ही था।

भौगोलिक रूप में महायान बौद्धधर्म के प्रगतिशील संप्रदाय को नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में अपने समर्थक उपलब्ध हो गए, जबकि पुरातनपंथी हीनयान संप्रदाय ने अपने आपको श्रीलंका,[1] स्याम एवं बर्मा में स्थापित

1. श्रीलंका के अनगारिक धर्मपाल इस भौगोलिक भेद को लेकर आपत्ति करते हैं। उनको कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता कि क्यों श्रीलंका के बौद्धधर्म को हीनयान समझा जाए जबकि यह अनुत्तर-सम्यक संबोधि और छ: पारमिताओं की अनुभूति की शिक्षा देता है— कुछ दूसरे संप्रदायों में इन विशेषताओं को महायान बौद्धधर्म के लक्षण के रूप में समझा जाता है। यह संभव है कि जब तथाकथित महायान को

कर लिया। अतः हीनयान और महायान बौद्धधर्म क्रमशः दक्षिणी बौद्धधर्म एवं उत्तरी बौद्धधर्म के नाम से विदित हैं।

प्रसंगवश मैं यह टिप्पणी कर दूँ कि फिर भी, यह भेद बिल्कुल उचित नहीं है, क्योंकि चीन एवं जापान में कुछ ऐसे संप्रदाय हैं जिनके समानान्तर या उनके प्रतिरूप तथाकथित उत्तरी बौद्धधर्म में उपलब्ध नहीं होते हैं, अर्थात् वह बौद्धधर्म जो उत्तरी भारत में फल-फूल रहा है। उदाहरण के लिए, हमारे पास नेपाल या तिब्बत में जापान या चीन के सुखावती संप्रदाय कुछ भी नहीं हैं। निःसन्देह सुखावती दर्शन के सामान्य एवं आवश्यक विचार सूत्र साहित्य एवं अश्वघोष, असंग तथा नागार्जुन जैसे लेखकों के ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। परन्तु वे विचार, जैसे पूर्व में विकसित हुए थे, और अधिक विकसित नहीं हो सके, वे एक नया संप्रदाय का रूप धारण नहीं कर सके। इसलिए बौद्धधर्म को दो की अपेक्षा तीन भागों में विभाजित करना उचित हो सकता है, भौगोलिक भागः दक्षिणी, उत्तरी, एवं पूर्वी हैं।

दो सिद्धान्त क्यों?

इस भेद के बावजूद, दो संप्रदाय, हीनयान एवं महायान मूल स्रोत के प्रमुख विकास के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, जिसको सबसे पहले शाक्यमुनि ने खोजा था; और स्वाभाविक रूप से हमें अनेक समान लक्षण उपलब्ध होते हैं, जो दोनों में आवश्यक रूप में विद्यमान हैं। जो भावना, बुद्ध के आन्तरिक हृदय में व्याप्त थी, दक्षिणी एवं उत्तरी बौद्धधर्म, दोनों में दिखलाई पड़ती है। उन दोनों में भेद मूलभूत या गुणात्मक नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों द्वारा कल्पना की जाती है। एक ओर यह सामान्य धार्मिक चेतना के प्रगट होने एवं बौद्धिक क्षितिज के लगातार व्यापक होने के कारण है, और दूसरी ओर विहारों के नियमों एवं परम्पराओं के

नागार्जुन एवं आर्यदेव के समय में पूरे मध्य भारत में महान शक्ति प्राप्त हुई, इसको सिंहलद्वीप में भी अपने समर्थक उपलब्ध हो गए या कम से कम बुद्ध के अनुयायी इस सीमा तक प्रभावित हो गए थे कि उन्होंने अपने पुरातनपंथी विचारों में सुधार कर लिया। बौद्ध-धर्म के अध्ययन की आजकल की स्थिति में अभी यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है कि यह कैसे हो गया। जब पालि, सिंहली, तिब्बती, संस्कृत तथा चीनी बौद्धग्रंथों की पूर्ण तुलनात्मक समीक्षा की जाएगी, बौद्धधर्म के इतिहास एवं विकास को तब हम इसको पूरी मात्रा में समझने में समर्थ हो सकेगें।

शब्दशः पुरातनपंथी होने के कारण है। एक ही मार्ग का अनुसरण करते हुए दोनों संप्रदाय एक ही भावना से प्रारंभ हुए थे। परन्तु एक समय के बाद एक संप्रदाय ने शास्ता की भावना को व्यापक बनाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और जहाँ तक शब्दशः संभव हुआ वे उनके शब्दों से ही चिपके रहे; जबकि दूसरे संप्रदाय ने एक उदार एवं व्यापक भावना से प्रेरित होकर मौलिक व्यवस्था में अंकुर खोजने के लिए सभी उपलब्ध स्त्रोतों से पोषण ग्रहण किया है। ये अकुंर शक्तिशाली एवं उत्पादात्मक थे। प्राचीन बौद्धों के ये विरोधी झुकाव स्वाभाविक रूप से हीनमान एवं महायान को मतभेद की ओर ले गए।

हम यहाँ पर किसी भी प्रकार के विस्तृत ब्योरे में उलझना नहीं चाहते हैं कि महायानी संप्रदाय को उत्पन्न करने के लिए बौद्धधर्म के शरीर में कौन सी बाहरी एवं आन्तरिक शक्तियाँ काम कर रही थीं, या कैसे इसने अपने आपको धीरे-धीरे फैलाया ताकि यह अपने संपर्क में आने वाले सभी विरोधी विचारों को अपने में जज्ब एवं आत्मसात् कर सके। इतना कहना ही पर्याप्त है और सामान्य शब्दों में उस प्रश्न का उत्तर देना, जो अदीक्षित लोगों द्वारा प्रायः पूछा जाता है: ''एक बौद्धधर्म ने अपने आपको दो संप्रदायों में कैसे विभाजित होने दिया, जो एक दूसरे से एक बिन्दु से अधिक मात्रा में आपाततः विरोधी हैं?'' दूसरे शब्दों में, ''संस्थापक के सच्चे सिद्धान्त का समान रूप से प्रतिनिधित्त्व करने वाले दो बौद्धधर्म कैसे हो सकते हैं?

कारण काफी स्पष्ट है। एक महान धार्मिक संस्थापक की शिक्षाएँ एक नियम के रूप में बहुत सामान्य, व्यापक एवं बहु-आयामी हैं और अतः उनके शिष्यों द्वारा उनकी विभिन्न उदार व्याख्याएँ किए जाने की बहुत संभावनाएँ बनी रहती हैं। इसी व्यापकता के कारण ही विभिन्न आवश्यकताओं, स्वभावों एवं शिक्षण के अनुयायी अपने स्वामी की शिक्षाओं के द्वारा अपनी आध्यात्मिक भूख को सार्वभौमिक एवं तीव्र रूप में संतुष्ट करने में समर्थ बन जाते हैं। फिर भी, यह व्यापकता नेता द्वारा अस्पष्ट शब्दों के साभिप्राय प्रयोग के कारण नहीं है, और न ही यह व्यापकता उसके अपने विचारों की अस्पष्टता एवं भ्रम के कारण है। आध्यात्मिक एवं बौद्धिक आन्दोलन के प्रवर्तक के पास सभी संभव बारीकियों एवं परिणामों के बारे में सोचने का समय ही नहीं था। जब समसामयिक लोगों द्वारा आन्दोलन के सिद्धान्त को समझ लिया जाता है और इसकी नींव ठोस रूप में डाल दी जाती है, उस सिद्धान्त का एक अंश इसके प्रवर्तक के रूप में प्रारंभ

हो जाता है; और शेष भाग को उसके उत्तराधिकारियों के लिए सुरक्षित ढंग से छोड़ दिया जाता है। उत्तराधिकारी काम को सँभालते है और इसकी सारी विशेषताओं को पूरा करते हैं; वे वातावरण के अनुसार सभी आवश्यक परिवर्तनों एवं सुधारों को करते हैं। अत: प्रर्वतक के द्वारा निभाई गई भूमिका आवश्यक रूप से अनिश्चित एवं व्यापक रहती है।

उदाहरण के लिए, जर्मनी के दर्शन के समर्थक रूप में काण्ट ऐसी विरोधी दार्शनिक परम्पराओं जैसे— जैकोबी, फीशटे, हीगल, शोपेनहावर की परम्पराओं के पिता बन गए हैं जबकि उनमें से प्रत्येक ने स्वयं काण्ट के द्वारा अनिश्चित रूप से या गुप्त रूप से या अवान्तर रूप से बतलाए गए कुछ बिन्दुओं का विकास करने का प्रयत्न किया। यहूदीवाद के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को भड़काने वाले के रूप में जीसस ऑफ् नजेरथ के पास कोई घिसे-पिटे धार्मिक सिद्धान्त नहीं थे, जैसे बाद में ईसाई प्राचार्यों द्वारा स्थापित किए गए थे। उसके विचारों की अनिश्चितता इतनी स्पष्ट थी कि इसने उसके अपने शिष्यों में भी एक प्रकार का मतभेद पैदा कर दिया था, जब कि उसके शिष्यों में से अधिकांश ने पृथिवी पर द्विव्य राज्य के आगमन के लिए एक काल्पनिक आशा को सँजो लिया था। परन्तु ये बाह्य चीजें, व्यतीत हो जाना ही जिनकी नियति है, एक महान नेता द्वारा, चलाए गए आन्दोलन की भावना को और अधिक शक्तिशाली एवं भद्र बनाने से रोक नहीं सकती हैं।

बुद्ध की शिक्षाओं के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों में जो जोश भरा था, वह उस धार्मिक व्यवस्था की भावना ही थी, जो आजकल बौद्धधर्म के नाम से विदित है। इस भावना से निर्देशित होकर, उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं एवं वातावरण के अनुसार उनके अनुयायियों ने तीव्र रूप से उनकी शिक्षाओं को विकसित किया, जिन्होंने अन्तिम रूप से हीनयान एवं महायान के बीच भेद को जन्म दिया।

महायान का मौलिक अर्थ

महायान शब्द का सबसे पहले प्रयोग सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त, या मत, या ज्ञान को वर्णित करने के लिए किया गया था, जिसकी चेतन और अचेतन प्राणियों सहित ब्रह्माण्ड एक अभिव्यक्ति है, और केवल इसके माध्यम से ही वे मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं। किसी धार्मिक सिद्धान्त को महायान का नाम

नहीं दिया गया था, न ही किसी सैद्धान्तिक विवाद से इसका कोई संबंध था, यद्यपि बाद में एक प्रगतिशील वर्ग द्वारा इसका ऐसा प्रयोग किया गया था।

अश्वघोष, महायान बौद्धधर्म के प्रथम व्याख्याता के रूप में हमें विदित हैं—ईसा के समय के लगभग आस-पास रहने वाले अश्वघोष ने अपने **श्रद्धोत्पादशास्त्र**[1] नामक धार्मिक-दार्शनिक ग्रंथ में इस शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने इसका प्रयोग **भूततथता या धर्मकाय**,[2] महायान बौद्धधर्म के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त के पर्याय के रूप में किया था। उन्होंने इसकी पहचान एक सर्वोत्कृष्ट सत्, विश्वास एवं सिद्धान्त की तुलना एक साधन के साथ की थी जो हम सबको सुरक्षित रूप से संसार के जन्म एवं मृत्यु के समुद्र से निर्वाण के शाश्वत तट की ओर ले जाता है।

इसके तुरन्त बाद, बौद्धधर्म के दो संप्रदायों के बीच विवाद, पुरातनपंथी एवं प्रगतिशील संप्रदायों में ज्यादा से ज्यादा उद्घोषित होता चला गया; और जब यह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा जो संभवतः नागार्जुन एवं अश्वघोष का समय था, अर्थात्, अश्वघोष के कुछ शताब्दियों बाद एक प्रगतिशील वर्ग ने महायान के विरोध में हीनयान शब्द चतुराई से खोज निकाला। महायानियों ने इसे अपने संप्रदाय के नारे के रूप में स्वीकार कर लिया। तब महायानियों ने हीनयानियों एवं तीर्थंकरों[3] की जबरदस्त रूप में यह कह कर निन्दा की थी कि वे चेतन प्राणियों के लिए एक सार्वभौमिक निर्वाण को प्राप्त करने में असमर्थ थे।

बौद्धों का एक पुराना वर्गीकरण

हीनयानियों एवं महायानियों में भेद के निश्चित होने से पहले, अर्थात्, नागार्जुन या इससे भी पहले, उन बौद्ध लोगों ने, जो अधिक प्रगतिशील एवं व्यापक दृष्टिकोण रखते थे, बुद्ध के अनुयायियों ने तीन यानों में भेद करना प्रारंभ कर दिया था जैसे बोधिसत्त्वयान, प्रत्येक बुद्धयान, और श्रावकयान; यान वर्ग के लिए ही दूसरा नाम था।

बोधिसत्त्व बौद्धों का वह वर्ग है, जो बोधि में विश्वास रखते हुए, जो

---

1. 1900 में लेखक द्वारा अँग्रेजी में अनूदित। दि ओपन कोर्ट पब्लिशिंग कम्पनी, शिकागो।
2. इन शब्दों की अन्यत्र व्याख्या की गई है।
3. बौद्धधर्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य धर्म के अनुयायी। यह शब्द कभी-कभी घृणा की भावना से भी प्रयुक्त होता है, जैसे ईसाईयों द्वारा काफिर शब्द का प्रयोग।

बोधि मानव में **धर्मकाय** का प्रतिरूप है, यह वर्ग इस अनुभूति के लिए अपनी तमाम आध्यात्मिक ऊर्जा को लगाता है और इसे अपने साथियों के लिए विकसित करता है।

प्रत्येक बुद्ध एक "अकेला चिन्तक" या एक दार्शनिक होता है, जो एकान्त में रहकर सांसारिक सुखों की क्षणभंगुरता पर शान्ति से विचार करता है, अपनी मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है परन्तु, अपने साथियों के दुःख के बारे में निश्चिन्त बना रहता है। यदि धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाए तो, एक प्रत्येकबुद्ध शान्त, धीर, अहंकारी होता है और सारी मानवता के लिए उसमें प्रेम का अभाव होता है। श्रावक, जिसका अर्थ "सुननेवाला" है, महायानियों के हिसाब से प्रत्येकबुद्ध से घटिया होता है; क्योंकि उसके पास कोई ऐसी बुद्धि नहीं होती है, जो उसको स्वतन्त्र रूप से सोचने के लिए समर्थ बना सके, और स्वयं अपने लिए अन्तिम मुक्ति का मार्ग खोज सके। फिर भी, एक पवित्र हृदय से युक्त होने के कारण वह बुद्ध के आदेशों को सुनने को तैयार रहता है, वह उसमें विश्वास करता है, बुद्ध के द्वारा दिए गए सभी नैतिक नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करता है, और अपनी सामान्य बुद्धि के संकुचित क्षितिज से पूर्णतया संतुष्ट बना रहता है।

बोधिसत्त्व की और अधिक विस्तृत व्याख्या के लिए तथा इसके महायान बौद्धधर्म पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव के लिए हम आगे इसके लिए एक विशेष अध्याय समर्पित करेंगे। क्योंकि महायान संप्रदाय बोधिसत्त्वों के बौद्धधर्म संप्रदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जब कि प्रत्येकबुद्ध एवं श्रावक लोग महायानियों द्वारा हीनयान के अनुयायी समझे जाते हैं।

महायान बौद्धधर्म परिभाषित

महायान बौद्धधर्म क्या है, अब हम इसके बारे में एक निश्चित राय बना सकते हैं। यह वह बौद्धधर्म है, जिसने अपनी प्रगतिशील भावना से प्रेरित होकर अपने मौलिक क्षेत्र का विस्तार किया, अब तक इसने बुद्ध की शिक्षाओं के आन्तरिक महत्त्व का विरोध नहीं किया, और इसने अपने आप में दूसरे धार्मिक-दार्शनिक विश्वासों को भी आत्मसात् किया। तब इसने यह अनुभव किया कि ऐसा करने से व्यापक रूप से विभिन्न चरित्रों एवं बौद्धिक गुणों के लोगों को बचाया जा सकता है। इस समय हमें इसी कथन से ही संतुष्ट रहना चाहिए, जब तक हम

आने वाले पृष्ठों में इसकी सैद्धान्तिक विशेषताओं की और अधिक विस्तृत व्याख्या न कर लें। चलते-चलते यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि इस ग्रंथ में महायान शब्द का प्रयोग केवल बौद्धधर्म के उस स्वरूप के विरोध में किया गया है, जो श्रीलंका, बर्मा एवं दूसरे मध्य एशिया के देशों में फल-फूल रहा है, और जिनका साहित्य मुख्यतया पालि भाषा में लिखा गया है, जो पालि भाषा संस्कृत से ही निकली है। ''महायान'' शब्द, जिस प्रकार यह यहाँ प्रयुक्त हुआ है, किसी भी अर्थ में हीनयान से श्रेष्ठता को द्योतित नहीं करता है। जब महायान के ऐतिहासिक स्वरूप की चर्चा की जाती है, स्वाभाविक रूप से यह विश्वास हो सकता है कि इसके अधिक जोशीले एवं एकांगी भक्तों ने इसकी सच्ची भावना का परित्याग करके अनावश्यक रूप से इसकी विवादास्पद एवं रूढ़िवादी स्थिति पर बल दिया था; परन्तु पाठक को यह नहीं सोचना चाहिए कि इस ग्रंथ का उन उलझनों से कोई लेना-देना है। वास्तव में, महायान बौद्धधर्म एक अथाह समुद्र होने की घोषणा करता है, जिसमें विचार के सभी स्वरूप एवं विश्वास अपना अनुकूल एवं आदरणीय स्थान उपलब्ध कर सकते हैं; हम फिर क्यों इसे अपने साथी-सिद्धान्त, हीनयान के विरुद्ध भिड़ाएँ?

2. क्या महायान बौद्धधर्म ही बुद्ध की मौलिक शिक्षा है?

पश्चिमी देशों में जो सामान्यतया बौद्धधर्म के नाम से विदित है, वह हीनयान है, जैसा ऊपर कहा गया है, उसके ग्रंथ पालि में लिखे गए हैं और अधिकांश रूप से श्रीलंका, बर्मा और स्याम में उनका अध्ययन किया जाता है। यही वह भाषा थी जिसके माध्यम से प्राच्यशिक्षाविदों के द्वारा बौद्धधर्म का पहला ज्ञान प्राप्त किया गया था; और स्वाभाविक रूप से उन्होंने हीनयान या दक्षिणी बौद्धधर्म को ही केवल बुद्ध की मौलिक शिक्षा के रूप में समझा था। उन्होंने इस बात पर बल दिया, और उसमें से कुछ आज भी इस बात पर बल देते हैं कि बौद्धधर्म का संपूर्ण एवं समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उन्हें अपने आप को मुख्यतया पालि के अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहिए। दूसरे स्रोतों से जो भी सीखा जाए, अर्थात् संस्कृत, तिब्बती या चीनी ग्रंथों से प्राप्त किए गए ज्ञान को पालि से प्राप्त किए विश्वसनीय ज्ञान पर केवल गौण-प्रकाश डालने वाला समझा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, पालि से प्राप्त होने वाले ज्ञान को बौद्ध धर्म के एक विकृत स्वरूप के वर्णन के रूप में त्याग दिया जाना चाहिए। इन छोटी-छोटी अटकलों के कारण एक जीवित धर्म के रूप में महायान बौद्धधर्म

का महत्त्व पूरी तरह उपेक्षित हो गया है। जो इस विषय के सर्वोत्तम अधिकारी विद्वान समझे जाते हैं वे अधिकांश रूप में अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं, और जो सबसे बुरी बात है, वे बिल्कुल पूर्वाग्रही होते हैं।

विकास के बिना कोई जीवन नहीं

आलोचकों की ओर से यह बहुत ही अनुचित है क्योंकि मानवता के इतिहास में जो धर्म है, उसने कुछ भी विकास नहीं किया है, वह अब तक वही बना रहा है, जैसे अपनी संपूर्ण यात्रा में एक ग्रेनाइट पत्थर। हमें यह पूछना चाहिए कि क्या कोई ऐसा धर्म है जिसने प्राणवत्ता के कुछ चिह्न दिखलाए हैं और फिर भी उसने अपनी आदिम अवस्था को सुदृढ़ बनाए रखा है और प्रत्येक हालत में अरूपान्तरित रहा है। प्रत्येक शरीर-रचना का विकास होता है, जिसका अर्थ किसी एक या दूसरे रूप में परिवर्तन है। पृथिवी पर कहीं भी जीवन का ऐसा कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं है, जिसका विकास नहीं होता है या उसमें परिवर्तन नहीं होता है या कि जिसमें आसपास के वातावरण की स्थिति के अपने आपको अनुकूल बनाने की कोई अन्तर्निहित शक्ति न हो।

उदाहरण के लिए ईसाईयत को लीजिए। क्या प्रोटेस्टैण्ट धर्म जीसिस के नजेरथ की सही शिक्षा है? या क्या केथोलिक धर्म उसकी सही भावना को अभिव्यक्त करता है? स्वयं जीसिस के पास त्रिमूर्ति सिद्धान्त का कोई निश्चित विचार नहीं था, और न ही उसने कर्मकाण्ड के लिए कोई सुझाव प्रस्तुत किया था। मैथ्यु के सिद्धान्तों के अनुसार उसने पाल द्वारा कल्पित एक विशुद्ध आदर्श की अपेक्षा ईश्वर के राज्य के एक अपरिपक्व विचार को सँजोए रखा था, और उसके व्यक्तिगत शिष्य, जो दार्शनिक रूप से स्वयं अपने स्वामी के समान ही बिल्कुल निरक्षर थे, तमाम संभावनाओं में इसकी सांसारिक अनुभूति के लिए बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रज्ञा के उन दिनों में क्या ईसाई, केथोलिक या प्रोटेस्टैण्ट आने वाले राज्य के इस भौतिक विचार की शाब्दिक व्याख्या देने का साहस कर सकते थे?

फिर, विवाह एवं सामाजिक जीवन के बारे में जीसिस के विचारों को सोचो। क्या यह एक प्रतिष्ठित सत्य नहीं है कि उसने अत्यधिक रूप से ब्रह्मचर्य की वकालत की और विवाहित लोगों के संदर्भ में उसने कठोर संयम की बात की थी, और सामान्य रूप से उसने अधिकांश पवित्र गरीबी एवं संन्यास का पक्ष

लिया था? इन संदर्भों में मध्य युग के भिक्षु एवं आजकल के केथोलिक पुजारियों को यद्यपि मैं यह नहीं कह सकता कि वे संन्यासी हैं और अपने रहन-सहन में गरीब है। अपने प्रोटेस्टैण्ट भाइयों की अपेक्षा उनको अपने स्वामी की शिक्षा के अधिक अनुकूल कहा जाना चाहिए। परन्तु क्या प्रोटेस्टैण्ट जीसिस के उन तमाम विचारों का गंभीरता से बचाव करने का साहस करेंगे, उनकी इस स्वीकृत घोषणा के बावजूद कि वे अपने ईश्वर के पदचिह्नों पर सच्चे ढंए से चल रहे थे। इनको सबको साथ लेकर चलने पर ये विरोधाभास प्रोटेस्टेण्टों को और केथोलिकों को भी अपने आपको ईसाई कहने से नहीं रोकते हैं, और वे अच्छे, पवित्र, समर्पित ईसाई हैं, जब तक कि जाने या अनजाने में उनमें वहीं भावना अनुप्राणित है, जो भावना लगभग दो हजार पूर्व, गैलिली के एक अज्ञात गाँव में रहने वाले नजेरथ के बढ़ई के बेटे में धधक रही थी।

महायान बौद्धधर्म के बारे में भी वही तर्कप्रणाली सही है, और हीनयान के मूल्य पर महायान की प्रामाणिकता पर बल देना मूर्खता ही होगी। यह सही मानिए कि बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय ने दूसरी भारतीय धार्मिक-दार्शनिक पद्धतियों से कुछ तत्त्वों को अपने आप में आत्मसात् कर लिया है; परन्तु इसका क्या करें? क्या ईसाईयत भी जैविश, ग्रीक, रोमन, बेबिलोनियाई, मिस्री एवं दूसरे काफिर विचारों का सम्मिश्रण नहीं है। वास्तव में, प्रत्येक स्वस्थ एवं ऊर्जापूर्ण धर्म ऐतिहासिक है, इस अर्थ में कि अपने विकास के क्रम में इसने निरन्तर परिवर्तनशील वातावरण के अनुकूल अपने आपको ढाल लिया है, और अपने में विभिन्न तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया है, जो तत्त्व पहले इसकी अपनी सत्ता को ही ललकारते नजर आते थे। ईसाईयत में आत्मसात् करने, ढालने और सुधारों की यह प्रक्रिया प्रारंभ से चली आई है। इसके परिणामस्वरूप, हम आज की ईसाईयत में इसके असली स्वरूप का रूपान्तरण देखते हैं, जहाँ तक इसके बाह्य स्वरूप का संबंध है, कोई भी व्यक्ति इसको इसके आदि प्रारूप की सच्ची प्रति नहीं समझेगा।

महायान : एक जीवित विश्वास

महायान बौद्धधर्म के बारे में इतना ही। अपने ऐतिहासिक विकास में इसने जो भी परिवर्तन किए हैं, इसकी भावना एवं प्रमुख विचार सभी इसके संस्थापक के हैं। यह प्रश्न कि क्या यह असली है या नहीं, यह हमारे ''असली'' शब्द की व्याख्या पर पूरी तरह निर्भर करता है। यदि हम इसका तात्पर्य मूल के निर्जीव

के परिरक्षण से लेते हैं, हमें यह कहना चाहिए कि महायान बौद्धधर्म बुद्ध की मौलिक शिक्षा नहीं है, और हम यह भी कह सकते हैं कि महायानियों को इस तथ्य पर गौरव रहा होगा, क्योंकि एक जीवित धार्मिक शक्ति होने के कारण यह एक बीते हुए विश्वास का शव बनने के लिए कभी भी नहीं झुकेगा। फिर भी, भली भाँति सुरक्षित जीवाश्म और कुछ नहीं हैं अपितु ठोस निरवयव पदार्थ है, जिनसे जीवन हमेशा के लिए पृथक् हो चुका है। महायान इससे बहुत दूर है; यह हमेशा विकसित होने वाला है तथा जैसे ही पुराने वस्त्र फट जाते हैं, यह हर समय उन पुराने वस्त्रों को फेंकने के लिए तैयार रहता है। परन्तु इसकी भावना "देव और मनुष्यों के शास्ता" से प्रेरित होकर प्रदूषण एवं विकार के विरुद्ध अत्यधिक स्वस्थ रूप में सुरक्षित है। अत: जहाँ तक इसकी भावना का संबंध है, इसकी वास्तविकता के बारे में सन्देह करने का कोई अवकाश ही नहीं है, और जो बौद्धधर्म के संपूर्ण सर्वेक्षण को जानना चाहते हैं, वे महायान बौद्धधर्म के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

यह कुछ नहीं, परन्तु एक शरीर-रचना के ऐतिहासिक मूल्य पर प्रश्न करना एक बेकार की बात है, जो अब जीवन्तता से परिपूर्ण है और अपने सभी क्रिया-कलापों में क्रियाशील है और पृथिवी की गहराई से खोदे गए एक पुरातत्त्वयीय पदार्थ या एक प्राचीन शाही महल के खण्डहरों से निकाली गई कलाकृतियों के समान इसके साथ व्यवहार करना अनुचित है। महायान बौद्धधर्म ऐतिहासिक कुतूहलता का विषय नहीं है। इसकी जीवन्तता एवं गतिविधि का हमारे दैनन्दिन जीवन से संबंध है। यह एक महान अवयव-संस्थान है; इसकी नैतिक एवं धार्मिक शक्ति का लाखों लोगों के ऊपर अत्यधिक प्रभाव है; और इसके आगे के विकास की धार्मिक चेतना द्वारा संसार की उन्नति के लिए एक बहुत ही मूल्यवान योगदान देना निश्चित है। तब इससे क्या अन्तर पड़ता है कि महायान बौद्धधर्म बुद्ध की शिक्षा का वास्तविक स्वरूप है या नहीं?

हमारे दिमागों में अत्यधिक घोर विरोधों का एक उदाहरण विद्यमान है, परन्तु अपने पूर्व निर्धारित विचारों के कारण हम इसके बारे में सचेत नहीं हैं। ईसाई आलोचक बहुत जोर देकर अपने धर्म की वास्तविकता पर बल देते हैं जो बाहर से एक मिले-जुले धर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, परन्तु वे अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म को विकृत कहकर निरस्त करना चाहते हैं, क्योंकि (प्रतिद्वन्द्वी धर्म) यह भी उनके धर्म के समान विकास की विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरा है। इस प्रकार

के बेकार के प्रश्न से परेशान होना कोई व्यावहारिक उपयोग की बात नहीं है— महायान बौद्धधर्म की वास्तविकता का प्रश्न, बाहर के लोगों द्वारा तथा कुछ अज्ञानी बौद्धों द्वारा भी संयोगवश बार-बार उठाया जाता है।

3. महायान सिद्धान्तों के विषय में कुछ गलत कथन

इस ग्रंथ के उचित विषय में पूर्ण रूप से प्रवेश करने से पहले, हमें महायान बौद्धधर्म के बारे में कुछ भ्रामक विचारों पर एक दृष्टि डालनी चाहिए, जो कुछ पश्चिमी विद्वानों की है, और स्वाभाविक रूप से असंख्य पाठकों का भी ऐसा ही विचार है, वे अन्धों के पीछे अन्धों के चलने के समान हैं। इस अध्याय में उनके लिए एक सरसरी दृष्टिकोण प्रस्तुत करना एक फालतू काम नहीं हो सकता है और उनको मोटे तौर पर यह दिखलाना कि महायान बौद्धधर्म क्या नहीं है।

बौद्धधर्म के साथ अन्याय क्यों किया गया है?

वे लोग, जिनके विचार एवं भावनाएँ एक विशिष्ट प्रकार की धार्मिक रूढ़ियों से प्राय: शिक्षित हैं, उन विचारों के मूल्यों को प्राय: गलत समझते हैं जो विचित्र एवं उनसे अपरिचित हैं। हम इस कोटि के लोगों को धर्मान्ध या धार्मिक उत्साही कह सकते हैं। जहाँ तक उनकी अपनी धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, उनमें अतीव सुन्दर धार्मिक एवं नैतिक भावनाएँ हो सकती हैं, परन्तु जब एक व्यापक दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाता है तो हम पाते हैं कि वे एक बड़ी सीमा में, पूर्वाग्रहों, अन्धविश्वासों और कट्टर विश्वासों से ग्रस्त होते हैं, वे बातें बचपन से ही उनके दिमागों में भर दी गई हैं, इससे पहले कि वे पर्याप्त रूप से विकसित होते और अपना स्वतन्त्र निर्णय ले सकते। यह तथ्य उनकी भावनाओं की पवित्रता को बुरी तरह से दूषित कर देता है और उनकी बुद्धि की पारदर्शिता को धुँधला कर देता है, और तथाकथित काफिर धर्मों में जो कुछ भी अच्छा, सुन्दर, एवं सत्य है, वे उन सबको देखने एवं प्रशंसा करने के अयोग्य होते हैं। यही मुख्य कारण है कि वे ईसाई मिशनरी धर्म की भावना को सामान्यता ठीक प्रकार से समझने में असमर्थ होते है— मेरा तात्पर्य है, वे मिशनरी लोग, जो अन्धविश्वासों की एक शृंखला के बदले दूसरी शृंखला को लागू करने के लिए पूर्व की ओर आते हैं।

फिर ईसाई मिशनरी के विरुद्ध सामान्य शक्तिशाली विरोध किसी भी एकांगी भावना से प्रेरित नहीं है। इसके विपरीत मेरी इच्छा उन विचारों एवं संवेदनाओं से

न्याय करने की है जो अनादिकाल से जाने या अनजाने में मानव मस्तिष्क में कार्य कर रहे हैं और मैं अन्तिम निर्णय के दिन तक काम करता रहूँगा, यदि कभी ऐसा दिन आए तो संयोगवश, ये विचार एवं संवेदनाएँ प्रत्येक धर्म के सार का निर्माण करते हैं और ये क्या हैं—इनको देखने के लिए हमें बिना किसी झिझक के सभी पूर्वाग्रहों को छोड़ना चाहिए, जिनको हम बिना जाने अपने में संजोए रखते हैं; और हमेशा ही इस बात को दृष्टि में रखना चाहिए कि धार्मिक चेतना में सबसे आवश्यक तत्त्व क्या है, हमें धर्म को इसकी गौण बातों से नहीं मिलाना चाहिए जो समय के साथ नियति के गर्त में चली जाएँगी।

अन्याय के उदाहरण

ईसाई आलोचकों द्वारा महायान बौद्धधर्म के प्रति किए गए अन्याय के नमूनों के रूप में हम निम्नलिखित उदाहरण मोनियर-विलियम्स के ग्रंथ "बुद्धिज़्म" वाड्डेल के "बुद्धिज्म इन तिब्बत" के ग्रंथ, और सेम्युअल बील के "बुद्धिज्म इन चीन" के ग्रंथ से उद्धृत करते हैं, ये सभी प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में प्रतिनिधि ग्रंथ समझे जाते हैं।

मोनियर-विलियम्स

मोनियर-विलियम्स संस्कृत साहित्य के सुविदित अधिकारी विद्वान हैं, और उनके ग्रंथों का इस विभाग में लम्बे समय तक एक मूल्यवान योगदान रहेगा। परन्तु, दुर्भाग्यवश, ज्यों ही वे धार्मिक विवाद के क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं, उनकी बुद्धि उनके पूर्वकथित विचारों से तरस खाकर धुँधली हो जाती है। उदाहरण के लिए, वे सोचते हैं कि महायान बौद्धधर्म का प्रमुख विषय केवल बोधिसत्त्वों की संख्या का विस्तार करना ही है, जो उनके मतानुसार, "अपने लगातार स्वर्ग के निवास से संतुष्ट हैं, और बुद्धत्व एवं परिनिर्वाण के लिए अपनी सभी इच्छाओं का त्याग करने के लिए तैयार हैं।" (पृ. 190)

यह टिप्पणी इतनी बेहूदी है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा इसे तत्काल अस्वीकार कर दिया जाएगा, जिसके पास महायान बौद्धधर्म परम्परा का प्रथम दर्जे का ज्ञान है और वह इस बात को नकारने के योग्य भी नहीं समझेगा, परन्तु मोनियर-विलियम्स अपने महायान बौद्धधर्म के चरित्र चित्रण को एक तार्किक व्याख्या प्रदान करने के लिए विशेष प्रयास करते हैं। "निस्सन्देह," वे कहते हैं, "अपने स्व-विनाश से सहज रूप से झिझकने वाले लोगों ने और इसी प्रकार बुद्ध के अनुयायियों ने

निर्वाण के सही विचार को ही बदल दिया और इसको असत् की स्थिति से स्वर्गिक क्षेत्रों के एक आलस्यपूर्ण आनन्द की स्थिति में परिवर्तित कर दिया (!), जबकि उन्होंने सभी लोगों को— चाहे भिक्षु या सामान्य जन— को स्वर्ग में स्वप्निल आनन्द का अर्थ समझने के लिए उत्साहित किया। (!) और जीवन की पूर्ण समाप्ति के लिए ही नहीं अपितु अपने सभी प्रयासों के अन्त के लिए उत्साहित किया।'' (पृ. 156)

बौद्ध स्वर्ग का मोनियर-विलियम्स द्वारा व्याख्यायित यह दृष्टिकोण कुछ भी नहीं है परन्तु यह मूर्तिपूजा से रंजित ईसाई स्वर्ग का भाव है। इस स्वर्गिक अस्तित्व की एक विशिष्ट संस्कृतज्ञ की व्याख्या और अधिक कुछ विदेशी नहीं हो सकती है। देवों का जीवन (स्वर्गिक लोग) वैसे ही जन्म एवं मृत्यु के अधीन है जैसे पृथिवी पर अन्य मानवों का। अस्तित्व के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त के लिए संघर्ष करने वाले महायानियों के लिए और क्या सान्त्वना हो सकती है, वे केवल एक स्वर्गिक निवास में अपने आपको देशान्तरित कर पाते हैं, यह भी अफसोसों एवं दुःखों से भरा है। हमेशा ही अपने साथियों की भलाई के लिए काम करते हुए बोधिसत्त्व अपने लिए कभी भी कोई पार्थिव या स्वर्गिक प्रसन्नता की कामना नहीं करते हैं। कर्म सिद्धान्त के अनुसार, उनके अच्छे कार्य के लिए जो भी पुण्य एकत्रित होगा, उनकी इसे अपने लिए भोगने की कोई इच्छा नहीं है, परन्तु वे इन पुण्यों को अपने साथियों के हित के लिए परिवर्तित कर देंगे। बोधिसत्त्वों का यही आदर्श है, अर्थात् महायान बौद्धधर्म के अनुयायियों का।

बील

सेम्युल बील, जो पश्चिमी विद्वानों द्वारा चीनी बौद्धधर्म के एक अधिकारी विद्वान समझे जाते हैं धर्मकार्य[1] की महायानी अवधारणा की ओर संकेत करते हुए अपने ''बुद्धिज्म इन चीन'' नामक ग्रंथ (पृ. 156) में कहते हैं, ''तब हमें कम सन्देह होता है कि पुराने दिनों में बौद्धों द्वारा अनेक स्थलों पर पूजा की जाती थी, प्राचार्य की उपस्थिति द्वारा अभिषिक्त होकर एक अदृश्य उपस्थिति में (देव आदि) की पूजा की जाती थी। यह उपस्थिति बाद के बौद्धों द्वारा धर्मकाय के अन्तर्गत सूत्रबद्ध की गई थी।

1. धर्मकाय की अवधारणा महायानी संप्रदाय में एक केन्द्रिय बिन्दु है, और इसकी सही समझ बहुत महत्त्व की है। धर्मकाय सुनिश्चित नहीं है और प्रायः पूरी पद्धति को गलत समझने की ओर अग्रसर हो जाता है। यह बात नीचे पूरी तरह चर्चित है।

तब बुद्ध के आदेश की ओर संकेत करते हुए, जो कहता है कि उनके परिनिर्वाण के बाद उनके द्वारा बतलाए गए धर्म को उनके रूप में समझा जाना चाहिए, बील आगे कहते हैं, ''यहाँ एक ऐसा बीज था जिसने एक अदृश्य उपस्थिति के विचार या फार्मूले को आगे बढ़ाया, शिक्षा एवं धर्म की शक्ति आदेश सहित धर्मकाय को अभिव्यक्त करती थी, और यह पूजा के योग्य भी थी।''

धर्मकाय की धर्म के रूप में व्याख्या करना गलत एवं भ्रामक है। हीनयानियों के लिए आदर की वस्तु के रूप में त्रिपिटक के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है, अतः उनके लिए धर्म का विचार कोई अर्थ नहीं रखता है। यह विचार विशिष्ट रूप से महायानी है, परन्तु जिस तरह यह बौद्धों द्वारा समझा जाता है, बील इसके असली महत्त्व के बारे में सुविदित नहीं हैं। जैसा मैं निर्णय करता हूँ, धर्म को ''नियम'' के रूप में समझने में उनकी गलत व्याख्या ही प्रमुख कारण है, जब कि धर्म का यहाँ तात्पर्य है, ''वह जो टिका रहता है'' या ''जब सभी अनित्य प्रकार तिरोहित हो जाते हैं, जो तब भी अपने आपको बनाए रखता है,'' संक्षेप में, ''सत्'' या ''पदार्थ।'' अतः धर्मकाय एक प्रकार की परम चीज होगी या सभी चीजों का सार-तत्त्व। यह विचार महायान बौद्धधर्म में एक ऐसी भूमिका निभाता है कि महायान बौद्धधर्म को एक धार्मिक पद्धति के रूप में समझने के लिए इसका सही ज्ञान अपरिहार्य है।

वाड्डेल

पश्चिमी विद्वानों द्वारा महायान बौद्धधर्म के मिथ्या-निरूपण का एक और संदर्भ हमें बतलाना चाहिए। ''बुद्धिज्म इन तिब्बत'' नामक ग्रंथ के लेखक वाड्डेल उत्तरी एवं दक्षिणी बौद्ध धर्म की विभिन्नता के बिन्दु की चर्चा करते हुए कहते हैं (पृ. 10-11) ''यह एक ईश्वरवादी महायानी सिद्धान्त था जिसने अज्ञेयवादी आदर्शवाद एवं बुद्ध की सामान्य नैतिकता को स्थानापन्न कर दिया, यह एक ऊहापोह वाली ईश्वरवादी पद्धति थी जिसकी भूमिका में एक कुतर्कपूर्ण शून्यवाद का रहस्यवाद विद्यमान था।''

फिर ''यह महायान (अर्थात् नागार्जुन का माध्यमिक संप्रदाय) आवश्यक रूप से एक कुतर्कपूर्ण शून्यवाद या बल्कि परिनिर्वाण था, जब कि जीवन के अन्त को समाप्त करते हुए इसको रहस्यवादी स्थिति में परिवर्तित कर दिया गया

था, जिसकी कोई भी परिभाषा नहीं थी।''

एक व्यापक अर्थ में महायान बौद्धधर्म को ऊहापोह वाली ईश्वरवादी पद्धति से पुकारना गलत नहीं है। परन्तु यह पूछा जाना चाहिए कि किस आधार पर वाड्डेल यह सोचते हैं कि इसकी भूमिका में ''एक कुतर्कपूर्ण शून्यवाद का रहस्यवाद'' विद्यमान है। क्या एक धार्मिक पद्धति को कुतर्कपूर्ण कहा जा सकता है, जब यह द्वन्द्वात्मकता की विद्या में एक गहन जाँच-पड़ताल करती है, इस विद्या का प्रयोग यह दिखलाने के लिए किया जाता है कि केवल बुद्धि के माध्यम से ही मुक्ति खोजना कितना बेकार है? क्या एक धार्मिक पद्धति को शून्यवाद कहा जा सकता है जब यह सर्वोत्कृष्ट यथार्थ पर पहुँचने का प्रयत्न करती है जो वैयक्तिक अस्तित्त्वों की ठोस प्रातिभासिकता को अतिक्रान्त करती है। क्या एक सिद्धान्त को शून्यवादी कहा जा सकता है जब यह परम सत्य को न तो शून्य या अशून्य के रूप में परिभाषित करता है।

मैं पश्चिम के बौद्ध विद्वानों से कुछ और संदर्भ चुन सकता हूँ और यह दिखला सकता हूँ कि उनके द्वारा कहाँ तक महायान बौद्धधर्म को अयथार्थ-निरूपण का विषय बना लिया गया है। परन्तु चूंकि यह ग्रंथ खण्डनात्मक नहीं हैं, यह इसके आधारभूत सिद्धान्त की सकारात्मक व्याख्या के लिए समर्पित है, मैं ऐसा करने से परहेज करता हूँ। केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि ईसाई आलोचकों द्वारा किए गए बौद्धदर्शन के प्रति अन्याय का प्रमुख कारण उनकी पूर्वकल्पनाओं से उद्भूत है, जिनके बारे में वे सचेत न हों, परन्तु यह उनके ''निष्पक्ष'' निर्णयों को और अधिक दूषित कर देता है।

4. धर्म का महत्त्व

ऊपर बतलाई गई बौद्धधर्म के बारे में भ्रान्त धारणाएँ इस प्रास्ताविक भाग में मुझे विषयान्तर करने के लिए प्रेरित कर रही हैं और धर्म के स्वरूप एवं भावना के बीच के संबंध के विषय में कुछ शब्द कहने के लिए प्रेरित कर रहीं हैं। इस भेद का एक स्पष्ट ज्ञान महायान बौद्धधर्म के सही विचार का निर्धारण करने में अधिकांश रूप से सहायक होगा और एक जीवित धार्मिक विश्वास के रूप में इसके महत्त्व की समुचित प्रकार से प्रशंसा करने में हमारी सहायता भी करेगा।

धर्म की भावना से मेरा तात्पर्य है कि धर्म का वह तत्त्व जो इसके विकास

एवं सुधार की निरन्तर अवस्थाओं में अपरिवर्तित रहता है; जब कि इसका स्वरूप बाह्य खोल है जो वातावरण के अनुसार किसी भी रूपान्तरण के अधीन है।

उद्घाटित धर्म नहीं

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अन्य सभी वस्तुओं के समान धर्म विकास के नियमों के अधीन है। अत: उद्घाटित धर्म जैसी कोई चीज नहीं है, जिसकी शिक्षाएँ मानवतारोपी अतिप्राकृतिक शक्ति के हाथों से हमें सीधे ही प्रदत्त समझी जाएँ, और जो एक निरवयव पदार्थ के समान हमेशा ही वैसा बना रहता है, बिना परिवर्तन, बिना विकास, वातावरण की स्थिति के अनुसार बिना अपने आप को रूपान्तरित करते हुए। जब तक इस प्रकार के धर्म के विश्वास से इतने अन्धे न हो जाएँ और इस बात पर बल दें कि इसकी रूढ़ियों में अपने ''उद्घाटन'' से बिल्कुल भी कोई परिवर्तन नहीं आया है, किसी भी सही दिमाग वाले व्यक्ति के समान उन्हें इस तथ्य को पहचानना चाहिए कि प्रत्येक धर्म के कुछ क्षणभंगुर तत्त्व होते हैं जिनको इसके सार तत्त्व से सावधानी से भिन्न समझा जाना चाहिए, जो सारतत्त्व हमेशा वही रहता है।

जब यह भेद नहीं रखा जाता है, पूर्वाग्रह तुरन्त वहाँ उपस्थित हो जाएगा, उनको यह कल्पना करने के लिए प्रेरित करेगा कि जिस पूर्ण सच्चाई एवं अन्धविश्वासों वाले धर्म में उनका लालन-पालन हुआ है, संसार में वह ही एक पुराणपंथी धर्म है और दूसरे सभी धर्म काफिरवाद, मूर्तिपूजा, नास्तिकता, धर्मत्याग के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। फिर ऐसे धार्मिकों की प्रवृत्ति केवल उनके दिमाग की संकीर्णता और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के धुँधलेपन को धोखा देती है। किसी भी व्यक्ति को, जो मानव हृदय की आन्तरिक गुफाओं में झाँकने की इच्छा करता है और जीवन का सही अर्थ जानने की कामना करता है अपने आप में धर्मान्धता के प्रति कम से कम अंश में ऐसे झुकाव को रखना चाहिए।

रहस्य

धर्म मानव हृदय की सबसे सघन आवाज है जो प्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अस्तित्त्व के जुए के नीचे अत्याचार सहती है और कष्ट में यात्रा करती है। पृथिवी पर अपने सबसे पहले आविर्भाव से मानवता जीवन की निश्चितता एवं अनित्यता से कभी भी संतुष्ट नहीं रही है। वह हमेशा ही कुछ ऐसी चीज के लिए लालायित रही है जो उसे इस मर्त्य कुण्डली की गुलामी से मुक्त करेगी या

पुनर्जन्म के अभिशप्त बन्धन से मुक्त करेगी, जैसा हिन्दू विचारक इसे बतलाते हैं। फिर, इसके पार्थक्य एवं वैयक्तिकता के सभी सिद्धान्तों के अतिक्रान्त करने के कारण यह, जो इस सांसारिक जीवन की घटना के लक्षण हैं, हमेशा ही अनिश्चित, अपर्याप्त, अव्यवस्थित एवं रहस्यमय रहा है। विभिन्न युगों एवं राष्ट्रों में बौद्धिक विकास के विभिन्न अंशों के अनुसार लोगों ने इस कुछ रहस्यमय (वस्तु में) अपनी सभी प्रकार की मानव भावनाएँ एवं बुद्धि का निवेश करने का प्रयत्न किया है। आज के वैज्ञानिक अब इस कल्पना से संतुष्ट हैं कि यह रहस्य मानव मन के द्वारा मापने योग्य नहीं है, जो सापेक्षता के सिद्धान्त से नियमित है, और यहाँ हमारा नैतिक एवं बौद्धिक व्यवहार हमारा हमेशा ही पीछा करने वाली एवं हमको परेशान करने वाली रहस्य की समस्या के बिना भी चल सकता है; इस सिद्धान्त को अज्ञेयवाद कहा जाता है।

परन्तु इस परिकल्पना को किसी भी प्रकार से रहस्य पर कहा गया अन्तिम वाक्य नहीं समझा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अज्ञेयवाद का फार्मूला सर्वोत्तम है, क्योंकि विज्ञान अयथार्थ के क्षेत्र में प्रवेश करने का बहाना नहीं करता है। फिर असन्तोष अपने आपको प्रस्तुत कर देता है, जब हम मानव हृदय की इस अन्तिम इच्छा को इस परिकल्पना से शान्त करने का प्रयत्न करते हैं।

बुद्धि एवं कल्पना

मानव हृदय एक बौद्धिक स्फटिक नहीं है। जब बुद्धि अपने आपको अपनी पूरी आभा में अभिव्यक्त करती है, हृदय अभी भी पीड़ा का अनुभव करता है और कुछ इससे परे (की चीज को) पकड़ने के लिए संघर्ष करता है। बुद्धि कभी-कभी यह घोषणा कर सकती है कि इसने उसको प्राप्त कर लिया है जो हृदय माँगता है। समय बीतता जाता है, और रहस्य की दूसरे बिन्दुओं से परीक्षा की जाती है, जिन पर पहले विचार नहीं हो सका था, और हृदय की घोर निराशा के लिए प्रस्तुत समाधान अनुपस्थित पाया जाता है। बुद्धि भोंचक्की हो जाती है। परन्तु मानव हृदय लालसा करने से कभी भी नहीं थकता है और ज्यादा जोर से एक संतोष की माँग करने लगता है। क्या इनको केवल कल्पना का दुःस्वप्न समझा जाना चाहिए? निश्चित रूप से नहीं, क्योंकि यहाँ वह क्षेत्र विद्यमान है जहाँ धर्म सर्वोच्च शक्ति का दावा करता है, और इसका दावा पूर्ण रूप से उचित है।

परन्तु धर्म जो भी कुछ चाहता है, धर्म उसका निर्माण नहीं कर सकता है; इसे पूरी तरह बुद्धि के अनुसार काम करना चाहिए। जैसे मनुष्य की आवश्यक प्रकृति का निर्माण बुद्धि या इच्छा या भावना से नहीं होता है, परन्तु इन सभी मानसिक तत्त्वों के सामञ्जस्य से ही मनुष्य की प्रकृति का निर्माण होता है, धर्म को कल्पना की असंयमित उड़ान के विरुद्ध अपने आपको सुरक्षित करना चाहिए। एक पवित्र हृदय द्वारा प्यार से सँजोए गए अधिकांश अन्धविश्वास धर्म में बौद्धिक तत्त्व की अवहेलना के कारण ही होते हैं।

कल्पना सृष्टि रचना करती है; बुद्धि विवेक पैदा करती है। बिना विवेक के सृष्टि-रचना जंगली है: बिना सृष्टि-रचना के विवेक बांझ है। धर्म एवं विज्ञान, जब ये पारस्परिक समझ से कार्य नहीं करते हैं, तो इनका एकांगी होना अवश्यंभावी है। एक बिन्दु तक आत्मा एक असामान्य विकास करती है, अपना संतुलन खो देती है, और अन्त में सारी व्यवस्था चरमराकर टूट जाती है। वे पवित्र उत्साही लोग, जो विज्ञान में एक प्राकृतिक शत्रु का दर्शन करते हैं और अपनी पूरी शक्ति से इसका तिरस्कार करते हैं, मेरी राय में उतने ही मन्दबुद्धि एवं विकृत है, जितने विज्ञान के वे लोग, जो यह सोचते हैं कि विज्ञान की आत्म-गतिविधियों के संपूर्ण क्षेत्र एवं प्रकृति के क्षेत्र का भी दावा करना चाहिए। मेरी सहानुभूति उनमें से किसी के साथ नहीं है: क्योंकि एक उतना ही घमंडी है जितना कि दूसरा। ढाल के दोनों पक्षों का परीक्षण किए बिना, हम इस पर सही राय देने योग्य नहीं हैं।

परन्त कल्पना धर्म का ऐकान्तिक अधिकार नहीं है, न ही विवेक है, न ही तर्क विज्ञान का एकाधिकार है। वे पारस्परिक रूप में एक दूसरे के पूरक हैं: कोई भी व्यक्ति एक दूसरे के बिना काम नहीं चला सकता है। विज्ञान एवं धर्म के बीच वह अन्तर नहीं है जो निश्चितता एवं संभावना के बीच है। बल्कि अन्तर उनकी गतिविधियों के क्षेत्र में है। विज्ञान का सम्बन्ध मूलत: सोपाधिक, सापेक्ष एवं सीमित से है। जब विज्ञान किसी घटना की कुछ निश्चित नियमों से व्याख्या करता है, जो कुछ भी नहीं हैं अपितु कुछ विशिष्ट तथ्यों का साधारणीकरण है, तब विज्ञान का काम समाप्त हो जाता है, और इससे परे जाने का कोई प्रयास अर्थात् चीजों का कब, किधर और क्यों, इसके क्षेत्र से बाहर है। परन्तु मानव आत्मा यहाँ संतुष्ट नहीं रहती है, यह तथाकथित सभी वैज्ञानिक नियमों एवं

परिकल्पनाओं के अन्तर्गत विद्यमान रहने वाले अन्तिम सिद्धान्त के बारे में प्रश्न करती है। विज्ञान वस्तुओं के सोद्देश्यवाद के बारे में उदासीन है: उनकी एक मशीनी व्याख्या इसकी बौद्धिक कुतूहलता को शान्त कर देती है। परन्तु धर्म में सोद्देश्यवाद परम महत्त्व का है, और यह एक अत्यधिक मौलिक समस्या है, तथा एक पद्धति, जो इस बिन्दु पर कोई निश्चित विचार नहीं देती है, धर्म नहीं है। फिर विज्ञान भी इस बात की परवाह नहीं करता है कि यदि इसके पास अनेक नियमों एवं सिद्धान्तों से परे या बाहर कोई चीज विद्यमान है: परन्तु एक धर्म, जिसके पास एक ईश्वर या इसके समानान्तर चीज नहीं है, धर्म नहीं रह जाता है, क्योंकि यह मानव हृदय को सान्त्वना देने में विफल हो जाता है।

विश्वास के अंशों में भिन्नता

धार्मिक समस्याओं का समाधान, जहाँ तक वे सापेक्ष अनुभव के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं, अधिकांश रूप से वैयक्तिक धारणा का मामला है, इन सब का निर्धारण एक व्यक्ति के बौद्धिक विकास, बाह्य वातावरण, शिक्षा एवं स्वभाव आदि से होता है। इस प्रकार सूत्रबद्ध की गई विश्वास की भावनाएँ स्वाभाविक रूप से एवं अनिश्चित रूप से विविध होती हैं; किसी निश्चित अन्धविश्वासों के अनुयायियों में भी ऐसा ही होता है, अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उनको अपने तरीके से समझता है। यदि हम उनके विश्वास की भावनाओं का सघन विश्लेषण करें, जैसे एक रसायनवेत्ता (केमिस्ट) अपनी सामग्री का विश्लेषण करता है तो हमें उनमें सभी प्रकार की संभव विभिन्नताओं के स्वरूप मिल जाएँगे। परन्तु इन सभी चीजों का संबंध धर्म के बाह्य स्वरूप से है और उनमें विद्यमान रहने वाले आवश्यक तत्त्वों से उनका कोई लेना-देना नहीं है।

धर्म के स्थायी तत्त्व अन्दर से आते हैं और उनका निर्माण मुख्यत: रहस्यात्मक संवेदना से होता है जो मानव हृदय की गहनतम गहराई में छिपी रहती है। जागृत होने पर यह व्यक्तित्त्व के संपूर्ण ढाँचे को हिला देती है और एक महान आध्यात्मिक क्रान्ति को उत्पन्न करती है, जो एक व्यक्ति के अपने सांसारिक-दृष्टिकोण में संपूर्ण परिवर्तन लाती है। जब इस रहस्यात्मक संवेदना को अभिव्यक्ति मिलती है और यह बुद्धि की भाषा में अपनी भावनाओं को सूत्रबद्ध करती है, यह विश्वासों की एक निश्चित पद्धति बन जाती है, जो लोकप्रिय ढंग से धर्म कहलाता है, परन्तु जिसे समुचित ढंग से रूढ़िवादिता का नाम दिया

जाना चाहिए, अर्थात् धर्म का एक बौद्धिक स्वरूप। दूसरी ओर, धर्म के बाह्य स्वरूपों का निर्माण उन परिवर्तनशील तत्त्वों से होता है, जिनका निर्धारण समय के बौद्धिक एवं नैतिक विकास से होता है और इनके साथ-साथ जिनका निर्माण वैयक्तिक सौन्दर्यात्मक भावनाओं से होता है।

अत: सच्चे ईसाई और प्रबुद्ध बौद्ध आन्तरिक संवेदना की पहचान में अपने समझौते की बात कर सकते हैं, जो हमारे अस्तित्त्व के आधार का निर्माण करते हैं, यद्यपि यह समझौता किसी भी प्रकार से उनको उनके विश्वास की भावनाओं एवं अभिव्यक्तियों को अपने व्यक्तित्त्व में बचाए रखने से रोक नहीं सकता है। मेरी धारणा है: यदि बुद्ध एवं ईसामसी अपने जन्म के आकस्मिक स्थानों को बदल लेते, तो यहूदी परम्परावाद के विरुद्ध खड़े होकर गौतम ईसामसी बन गए होते और जीसस क्राइस्ट एक बुद्ध बन गए होते और वे शायद अनंहार, निर्वाण एवं **धर्मकाय** के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे होते।

फिर एक व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह अपने समय ही भावना की प्रतिध्वनि ही होता है। जैसा कुछ लोग मानते हैं, वह कभी भी अकेला स्थित नहीं रहता है, वह कभी भी लोगों से इतना ऊँचा स्थित नहीं होता कि व्यावहारिक रूप से वह अकेला ही हो। इसके विरुद्ध, ''वह,'' जैसे एमरसन कहते हैं, ''वह अपने आपको विचारों एवं घटनाओं की नदी में पाता है, जिनको उसके समसामयिक लोगों के विचारों एवं आवश्यकताओं द्वारा जबरदस्ती आगे बढ़ाया गया है।'' इसलिए बुद्ध के साथ भी ऐसा ही हुआ और क्राइस्ट के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे कुछ भी नहीं थे अपितु विचारों एवं भावनाओं की ठोस अभिव्यक्तियाँ थे जो उस समय की प्रतिष्ठित संस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष कर रही थीं, जो तेजी से विकृत हो रही थीं और मानवता को जोखिम में डाल रहीं थीं। परन्तु इसके साथ-साथ वे विचार एवं संवेदनाएँ शाश्वत आत्मा के विस्फोट थे, जो कभी-कभी ही अपनी इच्छा की औपचारिक घोषणा महान ऐतिहासिक व्यक्तियों या महान सांसारिक घटनाओं के माध्यम से किया करते थे।

यह विश्वास करते हुए जैसे ऊपर कहा गया है, धार्मिक-दार्शनिक व्याख्या का एक थोड़ा सा भाग मेरे ईसाई पाठकों के मनों को सच्चे ढंग से अपनी धार्मिक पद्धति के अतिरिक्त इस धार्मिक पद्धति के अध्ययन के लिए तैयार करेगा। मैं अब महायान बौद्धधर्म की सिलसिलेवार व्याख्या के लिए अग्रसर होता हूँ, जैसा आजकल सुदूरपूर्व में विश्वास किया जाता है।

अध्याय 1

बौद्धधर्म का एक सामान्य विवरण

न ईश्वर और न आत्मा

कुछ लोग बौद्धधर्म को बिना ईश्वर एवं आत्मा वाला धर्म समझते हैं। इन शब्दों को हम जो अर्थ देते हैं, उनके अनुसार यह कथन सत्य एवं असत्य दोनों हैं।

बौद्धधर्म एक व्यक्ति के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करता है जो अपनी ''सृष्टि'' से पृथक् रहता है, और जब भी उसकी मनमौजी इच्छा उसको अच्छी लगती है, वह मानव के मामलों में कभी-कभी दखलन्दाजी करता है। परम पुरुष का यह विचार बौद्धों के लिए घृणास्पद है। वे इस परिकल्पना में किसी भी प्रकार के सत्य को देखने में विफल होते हैं कि हमारे जैसे व्यक्ति ने ही इस ब्रह्माण्ड को बिना किसी साधन के पैदा किया और पहले एक चेतन प्राणी के जोड़े को यहाँ बसाया; उनके द्वारा किए गए एक अपराध के कारण, जो फिर, यदि सृष्टि का रचयिता ऐसा चाहता तो इसे बचा सकता था, उसने उनको नरक दण्ड देकर उसकी निन्दा की। इसी बीच सृष्टि रचयिता अभिशप्त लोगों पर दया का अनुभव करते हुए या अपने कुछ उतावले काम के लिए पश्चाताप के दण्ड का दुःख अनुभव करते हुए उसने पृथिवी पर मानवता को सार्वभौमिक दुःख से बचाने के उद्देश्य से अपने प्रिय पुत्र को भेज दिया। कविता को वास्तविक तथ्य के रूप में न स्वीकारने के कारण यदि बौद्धधर्म को निरीश्वरवाद कहा जाता है, इसके अनुयायियों को इस संज्ञा पर आपत्ति नहीं होगी।

इसके बाद, यदि हम अँग्रेजी के ''सोल'' (soul) शब्द से आत्मा समझते हैं, जो सभी प्रकार की मानसिक गतिविधियों की पीछे गोपनीय ढंग से अपने आप को छुपा कर उनको एक संघटनकर्ता के इच्छा के समान उनको निर्देश देता है, बौद्ध लोग जोर देकर एक ऐसे काल्पनिक व्यक्ति के अस्तित्त्व को नकारते

हैं। पाँच स्कन्धों[1] के मिश्रण से बाहर एक स्वतन्त्र आत्मा को मानना, बौद्धों के अनुसार एक व्यक्ति का निर्माण इन्हीं से माना गया है, निसंकोच भाव से सभी हानिकारक परिणामों सहित अहंकार का स्वागत करने के समान है। बौद्धधर्म को अन्य सभी धर्मों से जो अत्यधिक विलक्षण ढंग से एवं जोरदार ढंग से पृथक् करता है, वह अनात्म का सिद्धान्त है, वह आत्म-द्रव्य के मानने के बिल्कुल विरुद्ध है। अधिकांश धार्मिक उत्साही लोग इसे अपने में संजोए रखते हैं। इस अर्थ में, निस्सन्देह बौद्धधर्म बिना आत्मा वाला धर्म है।

एक सामान्य तरीके से इन बिन्दुओं को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें इस अध्याय में बौद्धधर्म के ऐसे प्रमुख मुद्दों— कर्म, आत्मन्, अविद्या, निर्वाण, धर्मकाय आदि का संक्षेप में वर्णन करना चाहिए। इनमें कुछ सिद्धान्त बौद्धधर्म के हीनयान एवं महायान संप्रदायों में आम होने के कारण, उनकी संक्षिप्त एवं व्यापक व्याख्या हमारे पाठकों को बौद्धधर्म के सामान्य स्वरूप के बारे में जानकारी प्रदान करेगी। यह उनको महायान बौद्धधर्म की एक विशिष्ट व्याख्या को समझने के लिए तैयार करेगी।

कर्म

बुद्ध के द्वारा स्थापित किया गया सबसे मौलिक सिद्धान्त है कि इस संसार में कोई भी चीज बिना एक कारण उद्भूत नहीं होती है, एक ब्रह्माण्ड का अस्तित्व अनेक हेतुओं एवं प्रत्ययों के संमिश्रण का परिणाम है। इसके साथ-साथ भविष्य में एक कार्य को उत्पन्न करने वाली यह एक क्रियाशील ऊर्जा है। जहाँ तक संघटनात्मक अस्तित्त्वों का प्रश्न है, कार्यकरण का यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत है। कोई भी चीज, यहाँ तक कि ईश्वर भी, इस प्रकार निर्मित की गई वस्तुओं के व्यवहार में भौतिक एवं नैतिक रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। यदि कोई ईश्वर वास्तव में विद्यमान है और उसका सांसारिक मामलों से कोई लेना देना है तो उसे कार्यकरण भाव के सिद्धान्त के सबसे पहले अनुरूप होना चाहिए। क्योंकि कर्म का सिद्धान्त जो नैतिक रूप से कल्पित कार्यकारणभाव की बौद्ध संज्ञा है, सार्वकालिक एवं सर्वत्र रूप से सर्वमान्य है।

बौद्ध नैतिकता में कर्म का विचार अतीव महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

1. पाँच स्कन्ध हैं: (1) रूप, (2) वेदना, (3) संज्ञा, (4) संस्कार, एवं (5) विज्ञान। इनकी अन्यत्र व्याख्या की गई है।

कर्म ब्रह्माण्ड का क्रियाशील सिद्धान्त है। यह घटनाओं के व्यवहार एवं हमारे अस्तित्त्व के भाग्य का नियमन करता है। एक कारण कि क्यों हम अपनी वर्तमान स्थिति में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते हैं— यह है कि अपने पूर्ण जन्मों के किए गए कर्मों द्वारा ही यह पहले ही नियमित हो चुका है, न केवल व्यक्तिगत रूप में अपितु, सामूहिक रूप में। परन्तु इसी कारण से, हम अपने भविष्य के भाग्य का निर्माण करने में समर्थ हो सकेंगे, जो अनेक कारणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो कार्य कर रहे हैं और जो इस जीवन में हमारे द्वारा किए जा रहे हैं।

अतः बुद्ध कहते हैं:

> अपना किया पाप अपने को मलिन करता है।
> अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है।
> शुद्धि और अशुद्धि अपने से ही होती है।
> दूसरा (आदमी) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है।[1]

फिर,

> जगत में वह स्थान नहीं है,
> जहाँ रह कर पाप कर्मों से बचा जा सके,
> न अन्तरिक्ष में, न समुद्र के बीच में,
> न पहाड़ों की गुफाओं में घुसकर।[2]

कर्म के सिद्धान्त को हमारे नैतिकता के क्षेत्र में ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त के प्रयोग के रूप में समझा जा सकता है। एक बार किया गया प्रत्येक कार्य हमेशा के लिए कर दिया जाता है; हमारे नैतिक एवं सामाजिक विकास की रेत पर उसके (कर्म के) पदचिह्न हमेशा के लिए पड़े रह जाते हैं; नहीं, पड़े रह जाने से भी अधिक, वे अच्छे या बुरे के रूप में उत्पादक होते हैं, और अनुकूल परिस्थितियों में आगे के विकास के लिए प्रतीक्षा करते हैं। भौतिक जगत में हमारे अंगों की छोटी सी भी संभव गति पृथिवी की सामान्य ब्रह्माण्डीय गति को प्रभावित नहीं कर सकती है, चाहे वह कितनी भी अत्यल्प हो; यदि हमारे पास एक

1. धम्मपद 5.165.
2. धम्मपद 5.127.

उचित उपकरण हो तो हम इसके प्रभाव की सीमा को निश्चित रूप से माप सकते हैं। हमारे कर्मों के साथ भी ऐसा ही है। अपने वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों सहित किया गया एक बार का कर्म व्यक्तिगत चेतना या अति-वैयक्तिक, अर्थात् सामाजिक चेतना पर अपने कुछ संस्कार छोड़े बिना कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है।

हमें आगे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कर्म का विचार अपने सामान्य रूप से वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध है। हमारे नैतिक एवं भौतिक जीवन में, जहाँ सापेक्षता का सिद्धान्त सर्वोच्च माना जाता है, कर्म के सिद्धान्त को पूर्णतया प्रामाणित समझा जाना चाहिए। जब तक इस क्षेत्र में उसकी प्रामाणिकता स्वीकृत है, एक व्यक्तिगत ईश्वर की परिकल्पना की शरण में गए बिना हम अपना सामान्य जीवन जी सकते हैं, जैसा कि लैमारक द्वारा घोषित किया गया था, जब उन्होंने विकास पर अपना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ शहंशाह नैपोलियन को भेंट किया था।

परन्तु यह बौद्धधर्म के साथ अन्याय करेगा यदि जोड़ने वाले अन्तिम अस्तित्त्व के सिद्धान्त को नकारकर या इसकी उपेक्षा कर हम इसे अज्ञेयवाद या प्रकृतिवाद का नाम देते हैं, जिसमें सभी प्रकार के विरोधाभास धुँधले हो जाते हैं। इस सर्वोच्च सिद्धान्त को बौद्धों द्वारा **धर्मकाय** का नाम दिया गया है, यह नाम केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं दिया गया है अपितु, धार्मिक दृष्टिकोण से यह नाम दिया गया है। **धर्मकाय** में बौद्ध लोग जीवन के परम महत्त्व को प्राप्त करते हैं, जिसे इसको संघटनात्मक आयाम से देखने पर कर्म के बन्धन एवं इसके अकाट्य नियमों से यह बच नहीं सकता है।

अविद्या

इसके बाद जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह अविद्या की समस्या है, जो बौद्धधर्म के अत्यधिक आवश्यक लक्षणों में से एक है। बौद्ध लोग सोचते हैं कि अविद्या कर्म का व्यक्ति-निष्ठ स्वरूप है, जो हमें पुनर्जन्मों की शृंखला में उलझाता है। पुनर्जन्म अपने आप में कोई नैतिक बुराई नहीं है, बल्कि पूर्णता की ओर एक आवश्यक परिस्थिति है, यदि पूर्णता यहाँ कभी भी प्राप्त हो सके। यह तब बुराई होती है जब यह अविद्या का परिणाम होती है, हमारे पार्थिव अस्तित्त्व के सच्चे अर्थ के रूप में अविद्या।

वे लोग अज्ञानी हैं जो सांसारिक वस्तुओं के तिरोभाव को नहीं पहचानते

हैं और जो उनको अन्तिम यथार्थ मानकर उनसे दृढ़ता से चिपके रहते हैं; जो अपनी मूर्खता के कारण लाई गई परेशानी को छोड़ने के लिए पागलपन ढंग से संघर्ष करते हैं; जो ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जंगलीपन से आत्मा से चिपके रहते हैं, जैसा कि ईसाईयों का कहना है। वे लोग विशिष्ट चीजों को अन्तिम अस्तित्त्व समझते हैं और उनके अन्दर विद्यमान रहने वाले एक व्यापक यथार्थ की उपेक्षा करते हैं। जो मेरे और तेरे के बीच एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर लेते हैं: एक शब्द में कहें तो वे अज्ञानी लोग हैं जो यह नहीं समझते हैं कि अहंकार आत्म जैसी कोई चीज नहीं है और सभी वैयक्तिक अस्तित्त्व **धर्मकाय** की व्यवस्था में एकीकृत हैं। अतः बौद्धधर्म जोर देकर यह मानता है कि निर्वाण का आनन्द लेने के लिए हमें इस भ्रम, इस अविघा, इस जीवन की सभी बुराइयों एवं दुःखों की जड़ को मूलतः त्याग देना चाहिए।

अविद्या का सिद्धान्त तकनीकी रूप से निम्नलिखित फार्मूले में अभिव्यक्त किया गया है, जिसको सामान्यतया बारह निदान या प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है।

(1) सबसे प्रथम प्रारम्भ में अविद्या है; (2) अविद्या से संस्कार आता है; (3) संस्कार से विज्ञान आता है; (4) विज्ञान से नाम-रूप आते हैं; (5) नाम रूप से षडायतन आते हैं; (6) षडायतनों से स्पर्श आता है; (7) स्पर्श से वेदना आती है; (8) वेदना से तृष्णा आती है; (9) तृष्णा से उपादान आता है; (10) उपादान से भव; (11) भव से जाति आती है; और (12) जाति से दुःख आता है।

वसुबन्धु के अभिधर्मकोश के अनुसार इस फार्मूले की निम्नलिखित ढंग से व्याख्या की गई है; अपने जीवन के महत्त्व के बारे में अपने पूर्व नाम में अज्ञानी होने के कारण हम अपनी इच्छाओं को खुली छूट दे देते हैं और मनमाने ढंग से काम करते हैं। इस कर्म के कारण इस जीवन में विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन और वेदना से युक्त होना हमारी नियति है। इनकी क्षमता के प्रयोग से हम इन भ्रामक अस्तित्त्वों की इच्छा करते हैं, इनके पीछे भागते हैं, इनसे चिपकते हैं, जिनका कुछ भी अन्तिम यथार्थ नहीं है। ''जीवित रहने की इच्छा' के परिणाम स्वरूप हम कर्म का संग्रह करते हैं, या कर्म करते हैं, जो हमें पुनर्जन्म की ओर अग्रसर करता है।

यह फार्मूला किसी भी प्रकार से तर्कसंगत नहीं है और न ही यह व्यापक है, परन्तु यह भौतिक विचार कि जीवन अविद्या के कारण या एक अन्धी इच्छा के कारण प्रारम्भ हुआ, वास्तविक बना रहता है।

अनात्म

अविद्या की समस्या स्वाभाविक रूप से सामान्यतया अनात्म के नाम से विदित सिद्धान्त की ओर अग्रसर होती है, जिसकी ओर इस अध्याय के प्रारंभ में संकेत किया गया था। बौद्धधर्म का यह सिद्धान्त उन विषयों में से एक है जिसकी ईसाई विद्वानों ने बहुत आलोचना की है। उनकी स्थापना इस प्रकार है: अहंकार-आत्म नाम की कोई चीज नहीं है, जो, एक भद्दी व्याख्या के अनुसार, हमारी मानसिक गतिविधियों का कर्त्ता है। यही कारण है कि क्यों बौद्धधर्म को कभी-कभी बिना आत्म वाला धर्म कहा जाता है, जैसा पहले बतलाया जा चुका है।

यह अहंकार-आत्म को बौद्धों का नकारना शायद कुछ लोगों के लिए चौंकाने वाला है। उनके पास ऊहापोह की शक्ति न होने के कारण वे आत्मा का परम्परागत एवं भौतिक स्वरूप स्वीकार करते हैं। वे सोचते हैं, आत्मा एवं देह के द्वैतवाद को स्वीकार करने से वे बहुत आध्यात्मिक हैं, और आत्मा, को कुछ शरीरिक जैसी इकाई बनाने में वे बहुत आध्यात्मिक हैं, यद्यपि यह इन्द्रियों के सामान्य विषय से कहीं अधिक लोकोत्तर है। वे आत्मा को एक फरिश्ते के स्वरूप से भी अधिक समझते हैं, जब वे यह शिक्षा देते हैं कि यह अपनी भौतिक जेल से छूटने के तुरन्त बाद स्वर्गारोहण करती है।

वे आगे यह कल्पना करते हैं कि शरीर में कैद होने के कारण आत्मा अपनी मुक्ति के लिए दर्द में कराहती है क्योंकि यह अपनी सांसारिक सीमाओं को सहन करने में समर्थ नहीं है। इसके शरीरिक, नक्षत्रीय एवं प्रेत-जैसी इकाई के भौतिक तत्त्वों के विघटन के बाद भी आत्मा का अमरत्त्व जारी रहता है, जो सांख्य के लिंग या वेदान्त के सूक्ष्म शरीर से मिलता-जुलता है। अपनी इस निरन्तर रहने वाली गतिविधि में आत्म-चेतना लेशमात्र भी दुःखी नहीं होती है, क्योंकि यह शरीर का आवश्यक धर्म है। भाई और बहन, माता-पिता एवं पुत्र तथा पुत्रियाँ, पत्नियाँ एवं पति सभी अपनी रूपान्तरित एवं परिशुद्ध स्थिति में स्वर्ग में फिर मिल जाएँगे, और अपने सांसारिक जीवन के तरीके से कहीं ज्यादा अच्छे ढंग से अपनी घरेलू जीवन को आगे बढ़ाएगें। उन लोगों को जो आत्मा एवं अमरत्त्व

का यह दृष्टिकोण रखते हैं, काफी निराशा एवं अप्रसन्नता भी होनी चाहिए, जब उनको बौद्धों के अनात्म के सिद्धान्त को स्वीकारने के लिए कहा जाता है।

कुछ ब्रह्मविद्यावादियों द्वारा बतलाए गए आत्मा को एक प्रकार के नक्षत्रीय जीवन पर थोपने का बेतूकापन इसके समानान्तर नाम एवं विषय के भ्रम के कारण से है। आत्मा, या जो एक भेद विचार के अनुसार अहंकार के बराबर है, एक नाम है जो मानसिक गतिविधियों के एक सामञ्जस्य को दिया गया है। अपने बौद्धिक श्रम को बचाने के लिए हमारे द्वारा अमूर्त नाम खोजे जाते हैं और निस्सन्देह ही एक ठोस वस्तुनिष्ठ संसार में इनके समानान्तर विशिष्ट उपस्थित (वस्तु) के रूप में कोई यथार्थ नहीं होता है। भद्दे दिमाग अमूर्त नामों को घड़ने के इतिहास को भूल चुके हैं। कुछ नामों के अनुसार कुछ लोग हमेशा ही कुछ वस्तुनिष्ठ यथार्थ या ठोस व्यक्तियों को खोजने के आदि होने के कारण वे भोले-भाले यथार्थ-वादी यह कल्पना करते हैं कि अपनी प्रकृति के बावजूद भी सभी नामों की इस ऐन्द्रिय संसार में ठोस वैयक्तिक समानताएँ होनी चाहिएँ। उनका तथाकथित आदर्शवाद या अध्यात्मवाद वास्तव में भौतिकवाद का एक स्थूल स्वरूप है, उनके भौतिकवाद के अनीश्वरवादी एवं अनैतिक होने के निराधार भय के बावजूद भी यह अविद्या का अभिशाप ही है।

अनात्म का सिद्धान्त इस बात से इन्कार नहीं करता है कि विभिन्न मानसिक क्रियाओं का एक सामञ्जस्य या एकीकरण होता है। बौद्ध धर्म इस सामञ्जस्य की व्यवस्था को विज्ञान कहता है, आत्मा नहीं कहता है। विज्ञान चेतना है, जबकि आत्मा एक ठोस रूप में कल्पित इकाई के रूप में अहंकार है, एक साररूप-कर्ता, जो मन की गहनतम कन्दराओं में निवास करता हुआ, अपने विवेक के अनुसार सभी व्यक्तिनिष्ठ गतिविधियों का निर्देशन करता है। बौद्धधर्म के द्वारा यह दृष्टिकोण मूलतः तिरस्कृत किया गया है।

अनात्म के सिद्धान्त को उदाहृत करने का परिचित सादृश्य चक्र या एक घर का भाव है। ताड़ियाँ, धुरी, टायर, नाभि, नेमि आदि के स्वरूपों के एक निश्चित संमिश्रण का नाम चक्र है; छतों, खम्भों, खिड़कियाँ, फर्श दीवारों का किसी उद्देश्य वाले एक माडल के संमिश्रण को घर का नाम दिया जाता है। अब इन भागों को स्वतन्त्र रूप से ग्रहण कीजिए, तो घर या चक्र कहाँ उपलब्ध होता है? किसी एक स्वरूप को बतलाने वाले को घर या चक्र का केवल नाम दिया गया है जिसमें भागों को सिलसिलेवार एवं निश्चित ठंग से लगाया गया है। एक

चक्र या घर के एक कर्त्ता के रूप में इसके स्वतन्त्र अस्तित्त्व पर बल देना तब कितना बेतूकापन होना चाहिए जो कर्त्ता कुछ हिस्सों के संमिश्रण को निश्चित क्रम में व्यवस्थित करने वाला है।

यह आश्चर्यजनक है कि बौद्धधर्म ने उस समय के आधुनिक मानसिक शोधकार्यों के परिणाम को पहले से ही जान लिया था जब सभी दूसरी धार्मिक एवं दार्शनिक पद्धतियाँ अहंकार की प्रकृति से संबंधित रूढ़िवादी अन्धविश्वासों को सँजोए रख रहीं थीं। वेदना, विचार, भावना, निश्चय जैसे सभी मानसिक अनुभवों के योग के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान का आत्मा को कोई अन्य समझना ही ठीक-ठीक बौद्धों के अनात्म सिद्धान्त का पूर्वाभ्यास है। यह इस बात से इन्कार नहीं करता है कि विज्ञान की एकता विद्यमान है, क्योंकि इसमें सन्देह करना हमारे प्रतिदिन के अनुभवों के बारे में सन्देह करना है, परन्तु यह इस दावे से इन्कार करता है कि यह एकता परम, अप्रतिबन्धित और स्वतन्त्र है। अस्तित्त्व के इस घटनात्मक स्वरूप में प्रत्येक वस्तु कर्म के सिद्धान्त के अनुसार हेतु एवं प्रत्यय का संमिश्रण है; और प्रत्येक वस्तु जो यौगिक है, वह निश्चित एवं विनाश के अधीन हैं, और अत: हमेशा ही किसी अन्य से सीमित है। जहाँ तक संघटनात्मकता का प्रश्न है, आत्म-जीवन भी इस सार्वभौमिक नियम का अपवाद नहीं है। आत्म-पदार्थ के अस्तित्त्व को स्वीकारना, जो विज्ञान की संघटना के पीछे छिपा पड़ा है, न केवल भ्रामक है, अपितु हानिकारक एवं कुछ खतरनाक नैतिक परिणामों का उत्पादक भी है। यह मान्यता कि जहाँ वास्तव में कुछ भी नहीं है, वहाँ कुछ है, एक काल्पनिक स्वरूप के चिपके रहना है, इसका अपने आपको दु:खों की एक शाश्वत शृंखला के अधीन करने के अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं हैं। इसलिए हम लंकावतारसूत्र III में पढ़ते हैं:

''आकाशपुंज या शशशृंग,
प्रस्तरमयी गर्भवती महिला:
जो है उसको न के बराबर समझना,
मिथ्या निश्चय कहलाता है।
''हेतुओं के मिश्रण में,
मूर्ख आत्मा का यथार्थ खोजता है
वे सत्य को नहीं समझते,

जन्म से जन्म तक वे पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं।''

पदार्थों की अनात्मता

अनात्म के सिद्धान्त के विकास के बारे में हीनयान की अपेक्षा महायान एक कदम आगे बढ़ गया है, क्योंकि अहंकार-पदार्थ वस्तुओं के तात्त्विक विचार को अस्वीकारने के अतिरिक्त अर्थात् वैशिष्ट्यों में किसी परम तत्त्व के होने को नकारने के अतिरिक्त यह इन सबको अभिव्यक्त रूप से अस्वीकार करता है। हीनयान वास्तव में स्वलक्षण के इस भाव को भी नापसन्द करता है, परन्तु यह ऐसा अप्रत्यक्ष रूप से ही करता है। यह महायान ही है जो निश्चित रूप से पुद्गल एवं धर्म के अनस्तित्त्व पर बल देता है।

एक अशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार, विशिष्ट अस्तित्त्व यथार्थ होते हैं, उनमें, स्थायी ठोस अस्तित्त्व विद्यमान रहता है और वे हमेशा ऐसे ही बने रहते हैं। अत: वे सोचते हैं कि अवयवी पदार्थ हमेशा अवयवी ही बना रहता है, जैसे निरवयवी पदार्थ हमेशा निरवयवी ही रहता है; क्योंकि वे आवश्यक रूप से भिन्न ही रहते हैं, उनमें कोई पारस्परिक रूपान्तरण नहीं होता है। मानव आत्मा निम्न प्रकार के पशुओं की आत्मा से भिन्न होती है एवं चेतन प्राणी अचेतन प्राणियों से भिन्न होते हैं; इनका भेद भली-भाँति परिभाषित और स्थायी है, कोई ऐसा पुल नहीं है जिसे पार कर कोई दूसरी तरफ जा सकता है। हम इस दृष्टिकोण को स्वाभाविक अहंकारवाद कह सकते हैं।

महायान, संसार के इस अहंकारवादी विचार के विरुद्ध अपने अनात्म के सिद्धान्त को हमारे से बाहर विद्यमान रहने वाले क्षेत्र तक विस्तारित करता है। यह मानता है कि विशिष्ट जीवन में कोई अपरिवर्तनीय यथार्थ नहीं है जब तक वे कर्म के सिद्धान्त एकत्रित किए गए अनेक कारणों एवं परिस्थितियों के संमिश्रण हैं। ज्यों ही इसकी ऊर्जा समाप्त हो जाती है, इनके अस्तित्त्व को संभव बनाने वाली परिस्थितियाँ अपनी कार्यक्षमता खो देती हैं और विनष्ट हो जाती हैं, और उनके स्थानों पर दूसरी परिस्थितियाँ एवं अस्तित्त्व आ जाते हैं। अत: जो आज अवयवी है, कल वह निरवयवी बन सकता है और इसके उलट भी। उदाहरण के लिए, कार्बन, जो पृथिवी के अन्दर जमा है, कोयले या ग्रेफाइट या हीरे के रूप में प्रतीत होता है, परन्तु जो अपनी तह पर विद्यमान रहता है, वह पशु या सब्जियों के रूप में दूसरे तत्त्वों के साथ मिलकर ही उपलब्ध होता है, कभी-कभी

यह अपनी स्वतन्त्र प्रारंभिक स्थिति में भी उपलब्ध होता है। यह सर्वत्र वही कार्बन होता है; यह अपने कर्म के अनुसार अयवयी या निरवयवी बन जाता है, इसमें कोई आत्मा नहीं होती है जो इसके रूपान्तरण को अपनी स्व-निश्चयात्मक इच्छा से निर्देशित करता है। पारस्परिक रूपान्तरण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है; ऊर्जाओं का लगातार खिसकना चलता रहता है, तत्त्वों का शाश्वत पुनर्जन्म भी होता है—वे सभी वैयक्तिक अस्तित्त्वों की अनित्यता एवं अनात्मता को प्रगट करते हैं। ब्रह्माण्ड एक चक्रवात के समान गतिशील है, इसमें से कुछ भी इसको स्थिर नहीं सिद्ध करता है, इसमें से कुछ भी इसकी अपने जीवन के स्वरूप से सख्ती से चिपके रहते हुए सिद्ध नहीं करता है।

दूसरी ओर मानो, प्रत्येक विशिष्ट सत् के पीछे एक आत्मा होती; यह भी मानो कि यह परम, नित्य एवं स्वयं-कर्त्री होती है, और इस घटनात्मक संसार में तब गतिरोध आ गया होता एवं जीवन हमेशा के लिए समाप्त हो गया होता। क्योंकि क्या परिवर्तनशीलता जीवन का आवश्यक लक्षण एवं स्थिति नहीं है, और वैयक्तिक चीजों के अनस्तित्त्व के यथार्थ के रूप में यह सबसे शक्तिशाली सबूत नहीं होता? भौतिक विज्ञान इस पारस्परिक रूपान्तरण के सार्वभौमिक तथ्य को एक सकारात्मक रूप में स्वीकार करता है, और इसे ऊर्जा एवं पदार्थ के संरक्षण का नियम कहा जाता है। इसके नकारात्मक पक्ष को स्वीकार करते हुए महायान वस्तुओं में अनात्मता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, अर्थात् सभी विशिष्ट अस्तित्त्वों की अनित्यता। अतः यह कहा गया है: **''सर्वम् अनित्यम्, सर्वं शून्यं, सर्वम् अनात्मन्।''**

महायानी लोग इस अशिष्ट दृष्टिकोण की निन्दा करते हैं, जो सभी लोगों के एकतत्त्ववाद एवं पारस्परिक रूपान्तरण को नकारता है, न केवल इसलिए कि यह वैज्ञानिक रूप से संभव नहीं है, परन्तु मुख्यतया क्योंकि यदि नैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह अत्यधिक खतरनाक विचारों से भरा हुआ है—विचार जो अन्तिम रूप से ''भाई भाई को मृत्यु के मुख में पहुँचा दे और पिता अपने बच्चे को मृत्यु में पहुँचा दे''। ''यह बच्चों को अपने माता-पिता के विरुद्ध खड़ा होने से और उनको मृत्यु तक पहुँचाने से'' रोकता है। क्यों? क्योंकि अहंकार से उत्पन्न यह दृष्टिकोण मानव प्रेम के कुए एवं सहानुभूति को सूखा देगा, और हमको पाशविक स्वार्थीपन के प्राणियों में परिवर्तित कर देगा; क्योंकि यह दृष्टिकोण हमारे में पारस्परिकता एवं सहानुभूति की भावना को प्रोत्साहन

करने में समर्थ नहीं है और यह हमें अपने साथियों के बारे में अरुचिकार ढंग से सोचने के लिए विवश करता है। तब सभी अच्छी मानव संवेदनाएँ हमारे हृदयों से विदा हों जाएँगी, हम ठोस निर्जीव शवों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगें, न कोई नब्ज चल रही होगी और न ही हम में रक्त का संचार हो रहा होगा। अहंकार की इस वेदी पर कितने शिकार प्रतिदिन भेंट किए जाते हैं? प्रकृति से वे आवश्यक रूप से अनैतिक नहीं है, परन्तु जीवन एवं संसार के मिथ्या विचार से प्रेरित होकर वे अपने पड़ोसियों में अपने आध्यात्मिक द्वन्द्वों को देखने में असमर्थ बना दिए जाते हैं। अपने ऐन्द्रिय आवेगों से नियंत्रित न होने पर वे मानवता के विरुद्ध पाप करते हैं, प्रकृति एवं अपने विरुद्ध भी पाप करते हैं।

हम महायान-अभिसमय सूत्र (नाञ्जो संख्या 196) में पढ़ते हैं:
''शून्य, शान्त अहंकार रहित,
सभी वस्तुओं का स्वभाव है:
कोई व्यक्तिगत मानव नहीं है
जो वास्तव में विद्यमान है।
''न अन्त, न ही आदि का
कोई मध्य मार्ग है
सब दिखावा है, यहाँ कोई यथार्थ नहीं है;
यह एक दृष्टि एवं स्वप्न के समान है।
''यह बादलों में बिजली के समान है,
यह जाली में तैरते हुए बुलबुले के समान है,
यह भयानक घूमने वाले चक्र के समान है
यह पानी छिड़कने के समान है।
''हेतु एवं प्रत्ययों के कारण चीजें यहाँ हैं।
इनमें कोई स्वभाव नहीं है।
सभी चीजें जिनमें जाति एवं क्रिया है
उनको ऐसा जानती हैं।

''अविद्या एवं प्यासी इच्छा
वे जन्म एवं मृत्यु का कारण हैं:
हृदय के सही चिन्तन एवं अनुशासन से
इच्छा एवं अविद्या नष्ट होते हैं।
''संसार के सभी लोग,
वे शब्दों से परे हैं और मात्र अभिव्यक्तियाँ हैं:
उनका अन्तिम स्वभाव, शुद्ध एवं सत्य
आकाश की शून्यता के समान है।[1]

धर्मकाय

धर्मकाय जिसका शाब्दिक अर्थ ''धर्म का शरीर'' है, महायानियों के अनुसार वह अन्तिम यथार्थ है जो सभी विशिष्ट संघटनाओं के अन्तर्गत विद्यमान है, यही है जो सभी व्यक्तियों के जीवन को संभव बनाता है; यह ब्रह्माण्ड का उद्देश्य है; यह सत् का नियम है जो घटनाओं एवं विचारों के मार्ग को नियमित करता है। **धर्मकाय** का विचार विशेष रूप से महायानी है, क्योंकि हीनयान संप्रदाय ब्रह्माण्ड के अन्तिम सिद्धान्त के निर्माण करने तक की दूरी पर नहीं पहुँचा था। इसके अनुयायी बौद्धधर्म की एक सकारात्मक व्याख्या करने से कुछ पहले ही रुक गए थे। उनके लिए **धर्मकाय** केवल नियम की व्यवस्था ही बन कर रह गया था या उनके द्वारा बतलाए गए सत्य में मात्र बुद्ध का व्यक्तित्त्व बन कर रह गया था।

एक अर्थ में **धर्मकाय** की तुलना ईसाईयत के ईश्वर से और दूसरे अर्थ में वेदान्त के ब्रह्म या परमात्मा से की जा सकती है। फिर भी, इसमें ईसाईयत से एक भेद है कि यह अनुभवातीत रूप से ब्रह्माण्ड से ऊपर स्थित नहीं है, जो ईसाई दृटिकोण के अनुसार, जो ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया गया था, यह महायान के अनुसार, स्वयं **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म से भी इस अर्थ में भिन्न है कि यह परम रूप से निरवैयक्तिक नहीं है, न ही यह केवल एक सत् है। इसके विरुद्ध **धर्मकाय** इच्छा करने वाला तथा विचारशील है या यदि बौद्ध

1. इस अन्तिम उद्धरण को जीवन की पूर्ण समाप्ति के अर्थ में नहीं समझा जाना चाहिए। सर्वोच्च सिद्धान्त की पारमार्थिकता ही केवल इसका अर्थ है।

शब्दावली का प्रयोग करें तो यह **करुणा** एवं **बोधि** है, और यह केवल मात्र सत् की स्थिति नहीं है।

यह सर्वेश्वरवादी और इसके साथ-साथ अनीश्वरवादी **धर्मकाय** प्रत्येक चेतन प्राणी में कार्य कर रहा है, क्योंकि चेतन प्राणी **धर्मकाय** की स्व-अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसा अधिकांश लोग कल्पना करते हैं, व्यक्ति अकेले अस्तित्त्व नहीं हैं। यदि वे अकेले हैं, तो वे कुछ भी नहीं हैं, बहुत से साबुन के बुलबुले होते हैं जो आकाश के शून्य में एक के बाद एक तिरोहित हो जाते हैं। सभी विशिष्ट जीवनों को तब ही उनका अर्थ मिलता है जब उनको **धर्मकाय** में उनकी एकता के संदर्भ में सोचा जाता है। माया का पर्दा, अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ अविद्या हमारे **धर्मकाय** के सार्वभौतिक प्रकाश को देखने में एक अस्थायी बाधा उपस्थित कर सकती है जिसमें हम सब एक ही हैं। परन्तु जब हमारी **बोधि** या बुद्धि, जो संयोगवश मानव मस्तिष्क में **धर्मकाय** का एक प्रतिबिम्ब है, इतनी पूर्ण प्रबुद्ध हो जाती है, हम अपनी आध्यात्मिक आँख के सामने अहंकार की कृत्रिम बाधा और अधिक नहीं खड़ी करते हैं, मेरे एवं तेरे का भेद समाप्त हो जाता है, द्वैतवाद हमारे ऊपर उलझन का कोई भी जाल नहीं फेंकता है; मैं तुम में अपने आप को देखता हूँ और तुम मेरे में अपने आपको देखते हो; तत् त्वम् असि या

''जो यहाँ है, वह वहाँ है,
जो वहाँ है, वह यहाँ है,
जो यहाँ द्वैत देखता है,
वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।''[1]

प्रज्ञा की इस स्थिति को अहंकार का आध्यात्मिक विस्तार कहा जा सकता है, या नकारात्मक ढंग से, अहंकार का आदर्शमय उच्छेद। सहानुभूति एवं प्रेम का कभी भी न सूखने वाला स्त्रोत ही, धर्म का जीवन है, **धर्मकाय** के फब्बारे में से अब यह सहज भाव से फूट निकलेगा।

अनात्म का सिद्धान्त हमें यह शिक्षा देता है कि वैयक्तिक जीवन में कोई यथार्थ नहीं है, कि हमारे पास अहंकार पदार्थ नामक कोई अनुभवातीत इकाई

---

1. कठोपनिषद् 4.10.

नहीं है। इसकी पूर्ति के लिए **धर्मकाय** हमें यह शिक्षा देता है कि सत् की व्यवस्था में हम सब एक हैं और इस रूप में हम अमर्त्य हैं। एक हमको वैयक्तिक जीवन के चिपके रहने की मूर्खता दिखलाता है और अहंकार-आत्म की अमर्त्यता के बारे में लालच करने की मूर्खता दिखलाता है, दूसरा इस सत्य के बारे में मनवाता है कि हम **धर्मकाय** की एकता में जीवित रह कर अपने को सुरक्षित रखते हैं। अनात्म का सिद्धान्त हमें आश्रयहीन अहंकार की जकड़ से मुक्त करवाता है; और मुक्ति के रूप में इसका कोई सकारात्मक अर्थ नहीं है और शायद यह हमें संन्यास की ओर ले जाए, इस प्रकार बची हुई ऊर्जा को हम **धर्मकाय** की इच्छा के संपादन में लगा देते हैं।

ये प्रश्न: ''हमें अपने पड़ोसियों से अपने जैसा प्यार क्यों करना चाहिए? हमें दूसरे के साथ वे सब क्यों करना चाहिए, जिन्हें वे हमारे साथ भी करेंगे?'' ये प्रश्न बौद्धों द्वारा इस प्रकार उत्तरित किए जाते हैं, ''यह इस कारण है कि सब **धर्मकाय** में एक हैं, क्योंकि जब अविद्या एवं अहंकार के बादल पूरी तरह छँट जाते हैं, सार्वभौमिक प्रेम एवं बुद्धि का प्रकाश चमके बिना नहीं रह सकता है और यह अपनी पूरी शान से चमकता है। इस शान से युक्त होकर हम किसी शत्रु या पड़ोसी को नहीं देखते हैं, हमें इस बात का ध्यान भी नहीं रहता है कि हम **धर्मकाय** में एक हैं। यहाँ कोई ''मेरी इच्छा'' नहीं हैं, परन्तु केवल ''तुम्हारी इच्छा'' **धर्मकाय** की इच्छा है, जिसमें हम जीते हैं और चलते-फिरते हैं और सत् को धारण करते हैं।'' प्रचारक पाल कहते हैं: ''क्योंकि जैसे एडम में सब मृत हो जाते हैं, उसी प्रकार क्राइस्ट में सभी जीवित हो जाएँगे।'' क्यों? बौद्ध इसका उत्तर देंगे, ''क्योंकि एडम ने अपने आप को अविद्या को देने का दावा किया (ज्ञान का वृक्ष वास्तव में अविद्या का वृक्ष है, क्योंकि इसी से मेरे एवं तेरे का द्वैतभाव आता है); इसके विरुद्ध क्राइस्ट ने अपने अहंकारमय दावे को सार्वभौमिक **धर्मकाय** की बुद्धि को समर्पित कर दिया था। सही कारण है कि हम क्राइस्ट में मृत होते हैं और **धर्मकाय** में जीवित हो जाते हैं।''

निर्वाण

निर्वाण शब्द के अर्थ की व्याख्या बौद्धेतर विद्यार्थियों द्वारा भाषा वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न प्रकार से की गई है; परन्तु इससे बहुत ही कम अन्तर पड़ता है कि वे किन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, क्योंकि हम यहाँ उनके सारांशों

को प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं; न ही यह हमारे द्वारा नीचे दिए गए बौद्धों के अपने दृटिकोण की प्रस्तुति को बिल्कुल भी प्रभावित करने वाला है। क्योंकि यहाँ हमारा संबंध सबसे अधिक बौद्धों के दृष्टिकोण से है और यह समस्या का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। हमने इस विषय में पर्याप्त मात्रा में बौद्धेतर ऊहापोह कर लिया है। अधिकांश आलोचक स्पष्ट एवं निष्पक्ष होने का दावा करते हुए अपने पूर्व निर्धारित विचारों के कारण एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, जो बुद्धिमान बौद्ध लोगों को बिल्कुल भी स्वीकार्य नहीं है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य उनके ध्यान में नहीं आया है कि पालि साहित्य, जिससे इस विषय पर वे अपनी सूचना प्राप्त करते हैं, उन अनेक संप्रदायों में से एक के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है जो शास्ता की मृत्यु के तुरन्त उपरान्त उद्भूत हुआ था और वे अपने आपको अशोक के समय से और उसके बाद लगातार दूर होते जा रहे थे। सँभावना यह है कि स्वयं बुद्ध के पास निर्वाण का कोई घिसा-पिटा विचार नहीं था, और, जैसे अधिकांश महान मष्तिष्क किया करते हैं, उन्होंने विभिन्न वातावरणों में बनाए गए अपने विचारों को सीधे- सीधे अभिव्यक्त कर दिया, यद्यपि निस्सन्देह रूप से वे उनके मुख्य विश्वासों के विरुद्ध नहीं थे; जो उनके धार्मिक जीवन में पूर्ण रूप से वही रहे होंगे। अत: एक समस्या को अपने आपातत: तमाम विरोधी आयामों में समझने के लिए प्रारंभ में ही समस्या के लेखक की भावना को समझना बहुत आवश्यक है, और जब यह हो जाएगा, बाकी सब कुछ बहुत ही आसानी से समझ में आ जाएगा। बौद्धेतर आलोचकों में इस अतीव महत्त्वपूर्ण गुण की कमी है; अत: यह कोई आश्चर्य नहीं है कि बौद्ध स्वयं उनकी व्याख्या को मानने के लिए अनुच्छक हैं।

बौद्धों के अनुसार निर्वाण चेतना के उच्छेद को नहीं बतलाता है और न ही एक अस्थायी या स्थायी मनोभाव[1] के दबाने की बतलाता है, जैसा कुछ लोग

---

1. एक फ्राँसीसी समाजशास्त्री गुयाऊ अपनी पुस्तक 'नान-रिलीजन ऑफ् फ्युचर'' में **निर्वाण** की बौद्ध भावना को संकेतित करता है। मैं उसकी व्याख्या को बौद्धेतर आलोचकों जैसी विशिष्ट व्याख्या समझता हूँ जो विषय से बहुत कम ही परिचित है परन्तु बहुत जानने का बहाना करते हैं (अंग्रजी अनुवाद पृ. 472-474)।

''यह बात निश्चित है कि जीवन में दु:ख है, जो निराशावादी नुस्खा प्रस्तुत करते हैं, नई धार्मिक मुक्ति का है, जिसे आधुनिक बौद्ध लोकप्रिय बनाना चाहते हैं · · · , **निर्वाण** की यही भावना है। उन सभी बन्धनों को तोड़ देना जो आपको बाह्य

कल्पना करते हैं; यह अहंकार-पदार्थ एवं सभी इच्छाओं के भाव का उच्छेद है जो इस भ्रामक विचार से उत्पन्न होता है। परन्तु यह सिद्धान्त के नकारात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, और इसका सकारात्मक पक्ष सभी प्राणियों के लिए **करुणा** में विद्यमान है।

निर्वाण के ये दो पक्ष, अर्थात् नकारात्मक रूप में सभी बुरे आवेगों का विनाश और सकारात्मक रूप में **करुणा** का अभ्यास एक दूसरे के पूरक हैं; और जब हमारे पास इनमें से एक होता है तब दूसरा भी होता है। क्योंकि ज्यों ही हृदय अहंकार के पिंजड़े में से मुक्त होता है, वही हृदय, अब तक इतना ठंडा एवं इतना सख्त पूरी तरह परिवर्तित हो जाता है, सजीवता दिखलाता है, और प्रसन्नतापूर्वक स्वयं की कैद से बचकर **धर्मकाय** के हृदय में मुक्ति को प्राप्त

संसार से जोड़ते हैं; इच्छा के सभी युवा तन्तुओं को नोंच देना, और यह अनुभव करना कि इनसे छुटकारा पाना ही मुक्ति है, एक प्रकार के मानसिक परिच्छेदन का अभ्यास करना; अपने आपको पीछे हटाना और यह विश्वास करना कि ऐसा करने से आप चीजों की महान पूर्णता में प्रवेश करते हैं (रहस्यवादी कहेंगे कि ईश्वर की पूर्णता में); एक आन्तरिक शून्य पैदा करना, और शून्य में भौचक्का अनुभव करना, फिर भी, यह विश्वास करना कि यह शून्य ही परम पूर्णता है, ये चीजें मानवता को हमेशा ही लुभावनी लगती रहीं हैं। मानवता इसमें हस्तक्षेप करने के लिए लालायित रही है, जैसे यह खड़ी चट्टानों के किनारों पर रेंगने के लिए लालायित होकर भौचक्की हो गई है और दूर देखने के लिए · · · **निर्वाण** वास्तव में व्यक्ति एवं जाति को उच्छेद की ओर अग्रसर करता है और तार्किक बेतूकेपन की ओर भी अग्रसर करता है कि पराजित लोग मुसीबतों एवं जीवन की परेशानियों के विजेता हैं।''

फिर लेखक अपने किसी परिचित के संदर्भ को उद्धृत करता है, जिसने **निर्वाण** का व्यावहारिक अनुभव किया था। उसने अपने भोजन की विभिन्नता को छोड़ कर माँस, मदिरा, सब प्रकार का मांस, प्रत्येक प्रकार की मिठाई को छोड़ दिया और इच्छा नामक शब्द को सबसे कम संभव सीमा तक कम कर दिया, जो इच्छा प्रत्येक प्राणी में अत्यधिक आवश्यक है— भोजन की इच्छा, और इसका स्थान कुछ प्याले शुद्ध दूध को दे दिया। ''अपने स्वाद और भारी-भरकम भूख को थोथा करके, सभी प्रकार की शारीरिक गतिविधियों का परित्याग करके, उसने अमूर्त ध्यान एवं सौन्दर्यात्मक विचार के आनन्द में क्षतिपूर्ति पाने के बारे में सोचा था। उसने एक ऐसी स्थिति में प्रवेश कर लिया था जो स्वप्नलोक की नहीं थी, और न ही वह यथार्थ जीवन की थी जिसमें इसकी निश्चित बारीकियाँ विद्यमान थीं''

करता है। इस परवर्ती अर्थ में निर्वाण धर्मकाय का "मानवीकरण" है, अर्थात् "ईश्वर की इच्छा पृथिवी पर चलती है जैसे वह स्वर्ग में स्थित है।" यदि हम व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, निर्वाण व्यक्तिनिष्ठ है और धर्मकाय वस्तुनिष्ठ है, उसी सिद्धान्त के एक ही रूप। फिर, मानसिक रूप से निर्वाण प्रज्ञा, बोधिचित्त का वास्तवीकरण है।[1]

प्रेम का सिद्धान्त और निर्वाण का सिद्धान्त कुछ लोगों को एक दूसरे का विरोध करते हुए प्रतीत हो सकते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि प्रेम का सिद्धान्त ऊर्जा एवं गतिविधि का स्रोत है, जबकि निर्वाण का सिद्धान्त, निर्जीव, अमानवीय एवं तापस शान्ति है। परन्तु सत्य यह है, प्रेम भावानात्मक पक्ष है और निर्वाण आन्तरिक धार्मिक चेतना का बौद्धिक पक्ष है जो बौद्ध जीवन का सार है।

निर्वाण स्वार्थी इच्छाओं का विनाश है— यह स्पष्ट रूप से इस पद में दिखलाया गया है:

"दाता के पुण्य की वृद्धि होती है;
जब इन्द्रियाँ नियंत्रित होती हैं, क्रोध नहीं आता है,
बुद्धिमान बुराई का परित्याग करते हैं,
इच्छा, पाप एवं मोह के विनाश से
व्यक्ति निर्वाण प्राप्त करता है।"[2]

निम्नलिखित पद बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं के एक वर्ग को संबोधित किया गया था, यह इस बात को सिद्ध करता है कि जब निर्वाण को शान्ति या निराशावाद के अर्थ में समझा जाता है, बुद्ध ने बहुत जोर देकर इसका निराकरण किया था:

"जन्म एवं मृत्यु की अनन्त शृंखला से भयभीत होकर,
और पुनर्जन्म की परेशानी से,
हृदय घबराहट से भर जाता है,
परन्तु वे केवल अपनी सुरक्षा की कामना करते हैं।
"शान्त भाव से बैठे और साँस लेते हुए

---

1. इस शब्द की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए अध्यया 11
2. उदान, अध्याय VIII पृ. 118 अनुवाद, जनरल स्ट्रोंगं।

वे अनापान[1] करने में दृढ़ हैं
वे शरीर की गन्दगी पर विचार करते हैं,
यह सोचते हुए कि यह कितना अशुद्ध है!
"वे त्रिलोकी की धूल से बचते हैं,
और तापसी अभ्यास में वे अपनी सुरक्षा को खोजते हैं;
वे प्रेम एवं सहानुभूति के लिए समर्थ नहीं हैं,
क्योंकि निर्वाण उनके विचारों में निवास करता है।[2]

कुछ भिक्षुओं के इस तापसी व्यवहार के विरुद्ध बुद्ध एक बात कहते हैं जिसे बौद्ध जीवन का आदर्श कहा जा सकता है:

"अपने परम एवं महान संकल्प को जाग्रत करो
प्रेम एवं सहानुभूति का अभ्यास करो, प्रेम एवं सुरक्षा दो,
आपका प्रेम आकाश के समान है
यह बिना भेद, बिना सीमा के होना चाहिए।
पुण्य स्थित होते हैं, आपकी खातिर नहीं,
परन्तु सार्वभौमिक परोपकार के लिए,
सभी प्राणियों को बचाओ और उन्हें मुक्ति प्रदान करो,
उन्हें प्रशस्त मार्ग की प्रज्ञा प्राप्त करने दो।"

यह स्पष्ट है कि निर्वाण के सिद्धान्त का नैतिक प्रयोग तथाकथित स्वर्णिम

---

1. यह विशेष रूप से एक भारतीय धार्मिक अभ्यास है, जिसमें एक व्यक्ति अन्दर एवं बाहर जाने वाले श्वासों को गिनता है। जब एक व्यक्ति दृढ़ रूप से इसका अभ्यास कर रहा होता है तो अपने आस-पास एवं अपने अन्दर घटित होने वाली सब चीजों को भूलकर वह शान्ति से समाधि की अवस्था में चला जाता है। इस अभ्यास में घबराहट को कम करने का लाभ हो सकता है और इसमें मन को शान्ति का आनन्द मिलता है परन्तु यह प्राय: व्यक्ति को स्व-सम्मोहक की स्थिति की ओर ले जाता है।
2. यहाँ **निर्वाण** को स्व-अस्वीकृति या संसार से भागने या शान्ति के अर्थ में समझा गया है, जो इस शब्द की सच्ची बौद्ध व्याख्या के अनुकूल नहीं है।

नियम[1] के अतिरिक्त कुछ नहीं है। फिर भी, स्वर्णिम नियम कोई कारण नहीं बतलाता है कि हमें ऐसा क्यों करना चाहिए, यह मात्र एक आज्ञा है जिसकी प्रामाणिकता किसी अतिमानव सत्ता की मानी जाती है। एक बौद्धिक मन को यह बात संतुष्ट नहीं करती है, जो किसी भी बात को केवल प्रामाणिकता के आधार पर मानने से इन्कार करता है, क्योंकि वह पदार्थों की तह में जाना चाहता है और वह देखना चाहता है कि वे किस आधार पर खड़े हैं। बौद्धधर्म ने **धर्मकाय** में पदार्थों की एकता को खोजकर इस समस्या का समाधान कर दिया है। **धर्मकाय** से ही प्रेम एवं सहानुभूति की शाश्वत नदी बहती है। जैसा हम पहले देख आए हैं, जब अहंकार की अभिशप्त बाधा हट जाती है, तो ऐसी कोई भी चीज नहीं रहती है जो हमें दूसरों से अपने समान प्रेम करने से रोकती हो।

अहंकार के उच्छेद के बाद जो लोग हृदय के अत्यधिक बंजरपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखना चाहते हैं, वे मानव हृदय के अपने अनुमान में बहुत ज्यादा भ्रम में हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि इसकी सजीवता स्वार्थीपन से आती है और हमारे जीवन की सब प्रकार की गतिविधियों स्वयं एवं जाति को सुरक्षित रखने की इच्छा से ही केवल संचालित होती हैं। अत: वे स्वाभाविक रूप से इस सिद्धान्त से झिझकते हैं, जो यह शिक्षा देता है कि सभी सांसारिक पदार्थ शून्य हैं, और अहंकार-पदार्थ जैसी कोई चीज नहीं है जिसकी अमर्त्यता के बारे में अधिकांश लोग इतने लालायित रहते हैं। परन्तु सचाई यह है, प्रेम का फव्वारा आत्मा के विचार में विद्यमान नहीं है परन्तु यह इसकी बरखास्तगी में विद्यमान है। क्योंकि मानव हृदय **धर्मकाय** का प्रतिबिम्ब होने के कारण, (**धर्मकाय**) जो प्रेम एवं बुद्धि है, अपनी मूलभूत शक्ति एवं भलाई को केवल तब ही प्राप्त करता है जब अविद्या

---

1. इस स्वर्णिम नियम की भावना पर ईसाईयत का एकाधिकार नहीं है; अधिकांश लोगों के विचारों द्वारा इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है, उदाहरण के लिए: ''घृणा के बदले सद्गुण दो'' (लाओत्से)। ''घृणा प्रेम से शान्त होती है'' (बुद्ध)। ''दूसरों से ऐसा व्यवहार मत करो, जो आप अपने लिए नहीं चाहते हों'' (कनफूसियस)। ''एक व्यक्ति को बुराई का बदला नहीं लेना चाहिए, न ही मनुष्यों में किसी के लिए बुराई करनी चाहिए, तब भी नहीं, जब व्यक्ति को उनसे नुकसान हो।'' (प्लेटो)

एवं अहंकार का पर्दा अलग हटा दिया जाता है। सजीवता, ऊर्जा, कठोरपन, जो एक आम-केन्द्रित संकल्प द्वारा प्रकट किए गए थे, अतः, जो पूर्णतः तिरस्करणीय थे, घृणित वातावरण की बरखास्तगी से वे निश्चित रूप से समाप्त नहीं हो सकेंगे, जिसमें अहंकारवाद ने उनको विकसित कर लिया था। परन्तु उनकी हमेशा ही एक श्रेष्ठ व्याख्या की जाएगी, वे हमेशा ही अधिक उन्नत एवं सन्तोषप्रद महत्त्व को प्राप्त करेंगे, क्योंकि वे एक अग्नि परीक्षा में से निकल चुके हैं, जिसके द्वारा अहंकारवाद का अन्तिम चिह्न पूरी तरह ध्वस्त कर दिया जाता है। पुरानी बुराई के स्वामी को शाश्वत रूप से दफना दिया जाता है। परन्तु आज्ञा मानने वाले नौकर अभी भी यहाँ है और अपनी सेवा करने के लिए हमेशा तत्पर हैं, अब और अच्छी तरह से अपने नए वैध एवं अधिक प्रामाणिक शास्ता के लिए।

विनाश घनिष्ठ रूप से शून्यता के साथ समान ढंग से जुड़ा हुआ है, अतः निर्वाण, अहंकार के विनाश को सामान्य रूप से उच्छेदवाद के पर्याय के रूप में समझा जाता है। परन्तु अन्धकार का हटना विध्वंस उत्पन्न नहीं करता है, परन्तु इसका अर्थ प्रज्ञा, व्यवस्था एवं शान्ति होता है। यह वही कक्ष है, सारा सामान वहाँ ही छोड़ दिया जाता है जैसा पहले था। अन्धकार में अव्यवस्था का राज्य था, भूत-प्रेत जंगली ढंग से घूमते थे; प्रज्ञा में प्रत्येक पदार्थ अपने उचित स्थान पर है। क्या हमने स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया कि निर्वाण ही प्रज्ञा है?

बौद्धधर्म की बौद्धिक प्रवृत्ति

इस संदर्भ में मैं एक चीज की ओर संकेत करना चाहता हूँ, वह यह है जो बौद्धधर्म को किसी ढंग से शीतल एवं शान्त प्रतीत होने देता है। इससे मेरा तात्पर्य इसकी बौद्धिकता से है।

तथ्य यह है कि भारत से आने वाले हर पदार्थ में दर्शन की गन्ध आती है। प्राचीन भारत में ऊँचे वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक एवं ऊहापोह के कामों में लगा हुआ प्रतीत होता है। प्राकृतिक साधनों में अत्यधिक धनी होने के कारण और इस प्रकार से जीवन के लिए संघर्ष सब से कम था, ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अपने आपको अत्यधिक घने वृक्षों में एकत्रित कर लिया करते थे या सांसारिक चहल-पहल से निर्बाधित पर्वत-कंदराओं में चले जाते थे, और वहाँ वे अपना खाली समय तात्त्विक ऊहापोह एवं विवाद में लगाते थे। लोगों में विकसित बौद्धधर्म स्वाभाविक रूप से बौद्धिकता से गंभीर प्रकार से ओत-प्रोत है।

इसके अतिरिक्त भारत में धर्म एवं दर्शन में कोई भेद नहीं था। प्रत्येक दार्शनिक पद्धति साथ-साथ धर्म भी थी और इसके उलट-भी था। हिन्दुओं के लिए दर्शन तार्किक सूक्ष्मता का थोथा प्रदर्शन नहीं था जो सामान्यतया अपने आपको कुतर्क की झाड़ियों में उलझाकर समाप्त हो जाता है। उनके दर्शन का उद्देश्य जीवन के महत्त्व में और मानवता के भाग्य में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना था। वे अन्धे ढंग से किसी भी पदार्थ में वे विश्वास नहीं करते थे, न ही किसी पदार्थ को केवल परम्परा के आधार पर स्वीकार करते थे। बुद्ध बहुत ही विशिष्ट ढंग से इस भावना को प्रतिध्वनित करते हैं, जब वे कहते हैं, ''मेरी शिक्षाओं का अनुसरण करो, ऐसे नहीं कि वे बुद्ध द्वारा कही गई हैं, परन्तु क्योंकि वे सत्य के अनुकूल हैं।'' आत्म-आश्रित एवं स्व-मुक्ति की यही भावना बाद में आगे चलकर ऐकान्तिक रूप से बौद्धधर्म संबंधी बन गई। तब भी जब बुद्ध निर्वाण के लिए अभी एक उत्साही आकांक्षी थे, उनमें यह भावना अत्यधिक प्रबल रूप में विद्यमान प्रतीत होती है, क्योंकि अपने पिता के मन्त्रियों के करुणापूर्ण अनुनय के उत्तर में उन्होंने यह निम्नलिखित प्रसिद्ध उद्धरण बहुत जोर देकर उद्घोषित किया था, ये मन्त्री उनको अपने साथ घर ले जाना चाहते थे, ''यह सन्देह कि कोई पदार्थ विद्यमान है या नहीं, मेरे लिए किसी दूसरे के शब्दों द्वारा निर्णीत नहीं होगा। तपस्या या शान्ति से सत्य पर पहुँचकर, इसके बारे में जो भी निश्चित करने योग्य है, मैं स्वयं इसे ग्रहण कर लूँगा। एक दृष्टिकोण जो विरोधों, अनिश्चितताओं एवं विरोधाभासों से भरा पड़ा है, ऐसे दृष्टिकोण को स्वीकार करना मेरी आदत नहीं है। प्रबुद्ध लोग दूसरों के विश्वास का क्या करेंगे, अधिकांश लोग अन्धकार में अन्धों के पीछे चलने वाले होते हैं।''[1]

केवल यह कहना, ''अपने शत्रु से प्रेम करो'' हिन्दू मन के लिए यह सन्तोषप्रद नहीं था, यह उस कारण को जानना चाहता था कि ऐसा क्यों है। ज्यों ही लोग बौद्धिक रूप से कायल हुए, वे अपने जीवन के विश्वासों की रक्षा करने की सीमा तक चले गए। यह एक कोई असाधारण घटना नहीं थी कि हिन्दू दार्शनिकों के एक वर्ग के विवाद के शुरु करने से पहले ही, वे एक समझौता कर लेते थे कि हार की सजा अपने जीवन का बलिदान नहीं होगी। आखिरकार वे बुद्धिमान लोग थे, यद्यपि निस्सन्देह उनमें धार्मिक भावना की कमी नहीं थी।

1. बुद्ध चरित, अध्याय IX. 63-64।

तब यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि बुद्ध ने अपने संदेश की पहली घोषणा इन शब्दों से नहीं की, ''अफसोस करो, क्योंकि स्वर्ग का साम्राज्य निकट है,'' परन्तु उन्होंने चार आर्य सत्यों की घोषणा से अपना पहला संदेश दिया।[1] एक भावना को अपील करता है, और दूसरा बुद्धि को अपील करता है। बुद्धि को अपील करने वाला स्वाभाविक रूप से कम भावपूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु सत्य यह है कि बिना बुद्धि के सहारे भावना कट्टरपन की ओर ले जाती है और वह हमेशा ही कट्टरता एवं अन्धविश्वासों के सामने झुकने के लिए तैयार रहती है।

निस्सन्देह **निर्वाण** का सिद्धान्त ईसाईयत के प्रेम के संदेश की अपेक्षा अधिक बौद्धिक है। यह सबसे पहले मानव जीवन के दु:खीपन को पहचानता है, जैसा हमारे प्रतिदिन के अनुभवों से सिद्ध होता है, यह तब जीवन के सच्चे अर्थ के रूप में हमारे व्यक्तिनिष्ठ अज्ञान में इसके कारण को ढूँढता है। हमारी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को धूमिल करने वाली हमारी आत्म-केन्द्रित इच्छाएँ हमारें काल्पनिक पदार्थों के साथ दृढ़ता से चिपकने के लिए मजबूर कर देती हैं। तब सभी बुराइयों की जड़ अहंकार का पूर्ण उच्छेद **निर्वाण** प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा व्यक्तिनिष्ठता और हृदय की शान्ति पुन: स्थापित हो जाती है, और सार्वभौमिक प्रेम की अनुभूति वस्तुनिष्ठ रूप से संभव हो पाती है। इस प्रकार बौद्धधर्म **निर्वाण** के सिद्धान्त एवं सार्वभौमिक प्रेम के विकास में अत्यधिक तार्किक दृष्टि से अग्रसर होता है।

विक्टर ह्युगो का कथन है (लेस मिजरबेल्स् वाल्यूम 2); ''ब्रह्माण्ड का एक अकेली इकाई में परिवर्तित होना, एक अकेले व्यक्ति का ईश्वर तक का विस्तार यही प्रेम है।'' जब एक आदमी आत्मा से चिपका रहता है और दूसरे साथियों से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता है, वह अपने व्यक्तित्व का विस्तार ईश्वर तक नहीं कर सकता है। जब वह अपने आपको अहंकार के सीमित खोल में बन्द रखता है और सारे विश्व को अपने से बाहर रखता है, वह ब्रह्माण्ड को अपनी आन्तरिक आत्मा में नहीं घटा सकता है। अत: प्रेम करने के लिए एक व्यक्ति को पहले **निर्वाण** में प्रवेश करना चाहिए।

1. उत्तरी बौद्ध परम्परा के अनुसार, अपने चरम आध्यात्मिक आनन्द के समय बुद्ध ने यह घोषणा की थी: ''आश्चर्य! सभी चेतन प्राणी बुद्धि एवं तथागत के गुणों से सार्वभौमिक रूप से युक्त हैं।''

सत्य सर्वत्र वही है और अविद्या की बरखास्तगी के माध्यम से उसे प्राप्त किया जाता है। परन्तु पूर्व कर्मों के अनुसार वैयक्तिक स्वभाव में भेद होता है, कुछ लोग बौद्धिकता के लिए अधिक प्रवण होते हैं, जब कि दूसरे लोग भावनात्मकता के लिए अधिक प्रवण होते हैं (मानसिक अर्थ में)। हमें अपने झुकाव का अनुसरण चेतन्न रूप में करना चाहिए और दूसरों की बुराई नहीं करनी चाहिए। यह मध्यम मार्ग का सिद्धान्त कहलाता है।

अध्याय 2

महायान बौद्धधर्म का ऐतिहासिक विवरण

अब हम महायान सिद्धान्त की विशिष्ट व्याख्या को प्रस्तुत करने की स्थिति में आ गए हैं। परन्तु ऐसा करने से पहले हमारे लिए उन दृष्टिकोणों पर विचार करना श्रेयस्कर होगा जो इसके विवरणात्मक लक्षणों से संबंधित विचार हिन्दू-बौद्ध विचारकों द्वारा स्वीकार किए गए थे। दूसरे शब्दों में इसकी विशेषताओं का एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करना।

जैसा भूमिका में बतला दिया गया है, महायान शब्द नागार्जुन एवं आर्यदेव (ईसा के लगभग तीसरी या चौथी शताब्दी बाद) के समय में खोजा गया था, जब श्रावकों एवं बोधिसत्त्वों के बीच का सैद्धान्तिक संघर्ष अपनी सीमा पर पहुँच गया था। अपने सिद्धान्तों के आवश्यक लक्षणों की घोषणा करने के इच्छुक प्रगतिशील हिन्दू-बौद्धों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों की कीमत पर स्वाभाविक रूप से ऐसा किया और उन्होंने यह संकेत दिया कि उनका दृष्टिकोण क्यों महायान बौद्धधर्म से बड़ा या श्रेष्ठ है। इस प्रकार उनके विचार आवश्यक रूप से एक पक्षपाती भावना से दूषित थे, और महायान बौद्धधर्म के लक्षणों को निष्पक्ष भाव से तथा आलोचनात्मक ढंग से वर्णित करने की अपेक्षा उन्होंने उन बिन्दुओं पर इतना ज्यादा बल दिया, जो आज के इन दिनों में अत्यधिक आवश्यक प्रतीत नहीं होते हैं, परन्तु उन विचारों को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्वशाली समझा था। फिर भी, ये बिन्दु महायान बौद्धधर्म की प्रकृति पर इसके सगोत्रीय प्रतिद्वन्द्वी एवं सह-सिद्धान्त से भेदक के रूप में कुछ प्रकाश डालते हैं।

स्थिरमति का महायान बौद्धधर्म संबंधी विचार

अपनी महायान बौद्धधर्म की भूमिका में स्थिरमति[1] कहते हैं कि महायान बौद्धधर्म **बोधिसत्त्वों** के लिए एक विशिष्ट सिद्धान्त है, जिनमें **श्रावकों** एवं **प्रत्येक-बुद्धों** की दो कोटियों से भेद किया जाता है। सिद्धान्त का आवश्यक भेद इस विश्वास में विद्यमान है कि इन्द्रियों के विषय केवल संघटनात्मक हैं और उनका कोई परम यथार्थ नहीं है, अविनाशी **धर्मकाय**, जो सर्वव्यापी है, ही जीवन के नियम का निर्माण करता है, सभी **बोधिसत्त्व**[2] **धर्मकाय** के अवतार हैं, जो पहले से संग्रहित अपने बुरे कर्मों से नहीं अपितु पूर्ण मानवता के प्रति अपने अनन्त प्रेम के कारण शारीरिक अस्तित्त्वों को धारण करते हैं, और वे लोग, जो शरीर से सर्वोच्च बुद्ध के अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं, सभी संभव सामाजिक रिश्तों में अपने आपको जनता से जोड़ लेते हैं, ताकि वे उनको एक **प्रज्ञा** की स्थिति की ओर अग्रसर कर सकें।

यह महायान सिद्धान्त का एक अत्यधिक संक्षिप्त वर्णन है, हीनयान के सिद्धान्तों के विरुद्ध एक अधिक व्यापक एवं विस्तृत वर्णन अपने विशिष्ट लक्षणों सहित इन ग्रंथों में दिया गया है। 'मिसलेनिया ऑन् महायान मेटाफिजिक्स''[3] दि स्पिरिचुअल स्टेजिज ऑफ् दि योगाचार,''[4] एन एक्सपोजिसन ऑफ् दि होलि

---

1. उनका समय विदित नहीं है, परन्तु उनके ग्रंथों की सूची को देखकर, जिनमें चीनी त्रिपिटकों में से दो या तीन आजकल हमारे पास हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वे **अश्वघोष** के बाद, परन्तु **नागार्जुन** से पहले या उनके समकक्ष हुए थे। भारत में महायान बौद्धधर्म के विकास में यह लघु पुस्तिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। **अश्वघोष** के **श्रद्धोत्पादशास्त्र** के बाद यह ग्रंथ उन विद्वानों द्वारा ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए जो महायान संप्रदाय के इतिहास की प्रत्येक अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ तक इसका चीनी ग्रंथों के माध्यम से अध्ययन किया जा सकता है।
2. यहाँ यह बतलाया जाना चाहिए कि **बोधिसत्त्व** कुछ चुने हुए व्यक्तियों में से अनुग्रहित अर्थ में कोई व्यक्ति नहीं है। एक प्रकार से हम सभी **बोधिसत्त्व** हैं, अर्थात् जब हम सत्य की अनुभूति कर लेते हैं कि हमने समान रूप से **'सम्यक् संबोधि** विद्यमान है जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी अपवाद के अन्तिम **प्रज्ञा** प्राप्त कर सकता है।
3. **महायान-अभिधर्म-संगीति-शास्त्र,** असंग द्वारा नाञ्जों नं. 1199।
4. **योगाचार-भूमि-शास्त्र,** नाञ्जों न. 1170। यह ग्रंथ एक काल्पनिक बोधिसत्त्व द्वारा असंग को निर्देशित करके लिखवाया गया था।

डाक्ट्रिन''[1] ''ए कंपिहेन्सिव ट्रिटाइज ऑन् महायानिज्म''[2] और अन्य। सबसे पहले हमें पहले बतलाए गए तीन ग्रंथों में वर्णित, ''सात सामान्य लक्षणों'' की व्याख्या करनी चाहिए।

महायान बौद्धधर्म के सात लक्षण

असंग के अनुसार, जो नागार्जुन के कुछ समय बाद हुए थे, अर्थात्, उस समय जब महायान बौद्धधर्म आगे योगाचार एवं माध्यमिक संप्रदायों में विभाजित किया गया था, हीनयान से भेद के रूप में सात विशिष्ट लक्षण नीचे दिए गए हैं:

(1) **इसकी व्यापकता :** महायान बौद्धधर्म अपने आपको केवल एक ही बुद्ध तक सीमित नहीं रखता है; परन्तु जहाँ कभी भी और कभी भी सत्य उपलब्ध होता है, सबसे बेतूके अन्धविश्वासों में भी, इसे धान को भूसे से अलग करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं होती है और उसको अपनी व्यवस्था में आत्मसात् करने में भी कोई संकोच नहीं है। सभी समयों एवं स्थानों के[3] बुद्धों के द्वारा बतलाए गए असंख्य अच्छे नियमों को महायान बौद्धधर्म की सुसंगत व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया है।

(2) **सभी चेतन प्राणियों के लिए सार्वभौमिक प्रेम :** हीनयान बौद्धधर्म अपने आपको व्यक्तियों की मुक्ति तक ही सीमित रखता है; यह अपने आनन्द का सार्वभौमिक रूप से विस्तार नहीं करता है, इस प्रकार एक व्यक्ति को अपनी मुक्ति स्वयं प्राप्त करनी चाहिए। दूसरी ओर महायान बौद्धधर्म सभी की मुक्ति को अपना उद्देश्य बनाता है; यह हमको व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं परन्तु सार्वभौमिक रूप में हमको बचाने के लिए प्रयत्न करता है। **बोधिसत्त्वों** के सभी उद्देश्य, प्रयत्न एवं कार्य सार्वभौमिक प्रेम की धुरी पर घूमते हैं।

(3) **बौद्धिक समझ में इसकी महानता :** महायान बौद्धधर्म न केवल चेतन प्राणियों के संदर्भ में अनात्म के सिद्धान्त को मानता है परन्तु साधारण रूप से

---

1. असंग द्वारा, नान्जो, नं. 1177।
2. **महायान-संपरिग्रह-शास्त्र**, असंग द्वारा नान्जो न. 1183
3. प्रत्येक आध्यात्मिक नायक में उसकी राष्ट्रीयता तथा घोषित जाति के बावजूद भी **धर्मकाय** का एक अवतार देखकर महायानी लोग सोक्रेटिज, मोहम्मद, जीसस, असिसि के फ्रेन्सिस, कनफूसीयस लाओत्से और अनेक नायकों में एक बुद्ध को पहचानते हैं।

सभी पदार्थों के संदर्भ में भी अनात्म के सिद्धान्त को मानता है। जब कि यह हमारी मानसिक गतिविधियों को निर्देशित करने वाले एक तात्त्विक कर्त्ता की कल्पना को नकारता है, यह उस दृष्टिकोण को भी अस्वीकार करता है जो तात्त्विक पदार्थों के अस्तित्त्व के यथार्थ पर बल देता है, वे पदार्थ जो हमारी इन्द्रियों को इस प्रकार प्रतीत होते है।

(4) **इसकी अद्भुत आध्यात्मिक ऊर्जा :** बोधिसत्त्व कभी भी सार्वभौमिक मुक्ति के लिए काम करते हुए थकते नहीं है, इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक लम्बे समय के कारण भी वे निराश नहीं होते हैं। सबसे कम सम्भव समय में **प्रज्ञा** को प्राप्त करने का प्रयत्न और जनता की भलाई की ओर कोई ध्यान दिए बिना अपने में पूर्ण होना महायान बौद्धधर्म की शिक्षा नहीं है।

(5) **उपाय के प्रयोग में इसकी महानता :** उपाय शब्द का शाब्दिक अर्थ कार्यकुशलता है। बोधिसत्त्व के महान पितृतुल्य सहानुभूतिपूर्ण हृदय के पास उसकी सेवा में असीम स्त्रोत हैं ताकि वह जनता को अन्तिम **प्रज्ञा** की ओर अग्रसर कर सके, प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वभाव एवं वातावरण के अनुसार महायान बौद्धधर्म निर्वाण की अकर्मण्य शान्ति में प्रवेश करने के लिए जन्म एवं मृत्यु के पुनर्जन्म से बचने के लिए अपने अनुयायियों को नहीं कहता है; क्योंकि पुनर्जन्म अपने आप में कोई बुराई नहीं है, और **निर्वाण** अपनी बेहोशी में किसी भी अच्छे कार्य का उत्पादक नहीं है। जब तक दुःख में कराहने वाली आत्माएँ विद्यमान हैं, बोधिसत्त्व **निर्वाण** में चैन से नहीं रह सकता है। जब तक वह अपने साथियों को शाश्वत आनन्द की ओर अग्रसर नहीं कर लेता है उसके अस्वार्थी हृदय के लिए कोई चैन नहीं है, जो इतना प्रेम एवं सहानुभूति से भरपूर है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपने निःस्वार्थ प्रेम से प्रेरित होकर असंख्य उपायों का प्रयोग करता है।

(6) **इसकी उच्च आध्यात्मिक उपलब्धि :** हीनयान बौद्धधर्म में प्राप्त करने योग्य सर्वोच्च आनन्द अर्हत्त्व से आगे नहीं बढ़ता है जो एक संन्यासी की साधुता है। परन्तु महायान बौद्धधर्म के अनुयायी अपनी सभी आध्यात्मिक शक्तियों के साथ भी बुद्धत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

(7) **इसकी महती गतिविधि :** जब बोधिसत्त्व बुद्धत्त्व की स्थिति में पहुँच

जाता है, वह ब्रह्माण्ड[1] की दस दिशाओं में सर्वत्र अपने आपको अभिव्यक्त करने में समर्थ हो जाता है और सभी चेतन प्राणियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ बन जाता है।

ये सात विशेषताएँ उन कारणों के रूप में बतलाई गईं हैं कि प्रगतिशील बौद्धों द्वारा समर्थित सिद्धान्त हीनयान के विरुद्ध महायान को बौद्धधर्म क्यों कहा जाता है। अतः प्रत्येक संदर्भ में असंग इन दो संप्रदायों के बीच एक विभाजक रेखा खींचने का प्रयास करते हैं और बौद्धधर्म एवं सभी दूसरे धार्मिक सिद्धान्तों के बीच, जो उनके समय में विद्यमान थे।

बौद्धधर्म के दस आवश्यक लक्षण

''कॉम्प्रिहेन्सिव ट्रिटाइज ऑन् महायानिज्म'' में प्रस्तुत महायान के दस आवश्यक लक्षणों का निम्नलिखित कथन पिछले कथन की अपेक्षा एक भिन्न दृष्टिकोण से किया गया है, क्योंकि यह महायान की अपेक्षा असंग के योगाचार संप्रदाय का घोषणा-पत्र है। यह संप्रदाय नागार्जुन के माध्यमिक संप्रदाय सहित महायान[2] बौद्धधर्म के दो भाग हैं।

असंग एवं वसुबन्धु द्वारा अपनी पद्धति में बतलाए गए अत्यधिक आवश्यक बिन्दु दस हैं।

---

1. अपने दार्शनिक साथियों के साथ प्राचीन हिन्दू बौद्ध लोग आध्यात्मिक रूप से रूपान्तरित व्यक्तियों के अस्तित्त्व में विश्वास करते थे, जो दिक एवं काल की सीमाओं से बिना बाधित हुए सभी चेतन प्राणियों की भलाई के लिए सर्वत्र अपने आप को अभिव्यक्त कर सकते हैं। हम लगभग सभी महायान सूत्रों में कुछ, रहस्यात्मक आकृतियों को देखते हैं, जो प्रायः प्रकाश की असंख्य किरणें अपने माथे से विकीर्ण करते बतलाए गए हैं और तीन हजार लोकों को एक साथ प्रकाशित करते बतलाए गए हैं। यह मात्र साहित्यिक अतिशयोक्ति हो सकती है। परन्तु इस संभोगकाय को (देखिए अश्वघोश का **श्रद्धोत्पादशास्त्र** (पृ. 101) हमारे लिए समझना कठिन है, जैसे यह शाब्दिक रूप में बतलाया गया है विस्तृत वर्णन के लिए ''त्रिकाय'' अध्याय देखिए।
2. यद्यपि मैं इन दो महायान सिद्धान्तों के एक विशिष्ट अध्ययन को विषयान्तर करने और उसमें प्रवेश करने के लिए मैं बहुत ही लालायित हूँ, मैं अनिच्छा से ऐसा करने से परहेज करता हूँ, क्योंकि इसके लिए कुछ व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है और यह इस ग्रंथ के क्षेत्र में बिल्कुल भी नहीं आता है।

(1) यह आलयविज्ञान में सभी वस्तुओं के आन्तरिक अस्तित्त्व की शिक्षा देता है। ऐसा दावा किया जाता है कि **आलयविज्ञान** का विचार बुद्ध के द्वारा तथाकथित हीनयान सूत्रों में प्रस्तुत किया गया था; परन्तु इसके गंभीर अर्थ एवं इसके अहंकार–आत्म के विचार के साथ गड़बड़ हो जाने की संभावना के कारण उन्होंने उन सूत्रों में इस के पूर्ण महत्त्व को उद्घाटित नहीं किया; परन्तु इसको केवल महायान सूत्रों में बतलाया था।

योगाचार संप्रदाय के अनुसार, आलय कोई सार्वभौमिक आत्मा नहीं है परन्तु एक वैयक्तिक मन या आत्म है, हम इसे कुछ भी नाम दें जिसमें सभी वस्तुओं के **''बीज''** अपनी आदर्श अवस्था में विद्यमान रहते हैं।[1] वस्तुनिष्ठ संसार वास्तव में विद्यमान नहीं रहता है, परन्तु अविद्या के द्वारा उत्पन्न होने वाले व्यक्तिनिष्ठ भ्रम के कारण, हम बाह्य संसार को ये सभी ''बीज'' आलयविज्ञान में फेंकते हैं, और यह कल्पना करते हैं कि वे वहाँ वास्तव में हैं जैसे वे हैं, जब कि मनोविज्ञान, जो भ्रम का एक उत्पाद भी है **आलयविज्ञान** के साथ एक वास्तविक आत्मा के साथ चिपका हुआ, अपने अहंकार का कभी भी परित्याग नहीं करता है फिर, **आलयविज्ञान** मनोविज्ञान की इन तमाम गलतियों के प्रति उदासीन है और इन सब के लिए वह जिम्मेदार है।[2]

---

1. यहाँ बतलाए गए दृष्टिकोण से अश्वघोष का **आलय** का भाव भिन्न हैं, परन्तु **श्रद्धोत्पादशास्त्र** के पाठकों के लिए यह सुपरिचित हो सकता है। यह महायान बौद्धधर्म के दर्शन में अत्यधिक गूढ़ समस्याओं में से एक है, और इसकी प्रकृति, लक्षण एवं गतिविधियों के बारे में अनेक विरोधी सिद्धान्त हैं। इस प्रकार के ग्रंथ में उन विवादों के बारे में एक सामान्य सा कथन करना असंभव है, फिर भारत के बौद्धिक विकास के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह रुचिकर हो सकता है।

   सांख्य दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करते हुए **आलयविज्ञान पुरुष** एवं **प्रकृति** का संमिश्रण है। यह आत्मा है, जहाँ तक यह सभी संघटनात्मक अभिव्यक्तियों के लिए तटस्थ एवं उदासीन हैं, जो हमारे बीच काम कर रहे हैं और बाहर भी। यह प्रकृति है, उतना ही यह प्रत्येक पदार्थ का खजाना भी है, जिसका ढक्कन अविद्या के हाथों उठाया जाता है, तब इस सार्वभौमिक सीमा एवं सापेक्षता का यह ब्रह्माण्ड तत्काल उठ खड़ा होता है। अत: **निर्वाण** या **प्रज्ञा** अविद्या की गलती को पहचानने में विद्यमान हैं, न कि कल्पना के उत्पादों के चिपकने में।

2. **योगाचार** के आदर्श दर्शन की और अधिक विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए मेरा पत्र इस विषय पर, ले म्यूसेओन, 1905।

(2) **योगाचार संप्रदाय** तीन प्रकार के ज्ञान में भेद करता है : (1) **परिकल्पित**, (2) **परतन्त्र**, और (3) **परिनिष्पन्न**।

इस भेद को रस्सी एवं साँप के सुविदित साम्य से सबसे बढ़िया ढंग से दर्शाया जा सकता है। सादृश्य की समानता से धोखा खाकर लोग प्राय: जमीन पर पड़ी हुई रस्सी को जहरीला साँप समझ लेते हैं और इस कारण भयानक रूप से डर जाते हैं। परन्तु जब वे उसके पास जाते हैं और सावधानी से इसकी जाँच करते हैं, और तुरन्त ही इस निराधार आशंका के कायल हो जाते हैं, जो भ्रम का स्वाभाविक परिणाम था। इसको उसके समानान्तर समझा जा सकता है जिसे **काण्ट 'जाइन'** कहते हैं।

फिर, अधिकांश लोग अपनी पड़ताल में गहरे नहीं जाते हैं। जिस पदार्थ के संपर्क में वे आते हैं, वे उस पदार्थ के ऐन्द्रिय एवं सांसारिक ज्ञान से ही संतुष्ट हो जाते हैं। जब वे यह समझ जाते हैं कि जिसको उन्होंने साँप समझा था, वह वास्तव में एक निर्दोष रस्सी का एक गज का टुकड़ा था, वे समझते हैं कि उनका एक पदार्थ का ज्ञान पूर्ण है, और इस दार्शनक जाँच-पड़ताल से अपने आप को परेशान नहीं करते हैं कि जो रस्सी उनको दिखाई देती है, क्या उसका कोई वास्तविक अस्तित्त्व है? वे इस बात पर विचार करने के लिए एक क्षण भी नहीं रुकते कि उनका ज्ञान केवल सापेक्ष है, क्योंकि जिन पदार्थों को वे देखते हैं, वे उन पदार्थो के संघटनात्मक महत्त्व से आगे नहीं जाते हैं।

परन्तु क्या वास्तव में एक पदार्थ ऐसा है जैसा वह हमारी इन्द्रियों को दिखलाई देता है। क्या विशिष्ट संघटनाएँ वास्तव में यथार्थ हैं? उन तथाकथित वास्तविकताओं से संबंधित हमारे ज्ञान का क्या मूल्य है? जब हम उन जैसी समस्याओं की जाँच पड़ताल करते हैं, तो **योगाचार** संप्रदाय कहता है, हम यह पाते हैं कि उनका अस्तित्त्व केवल सापेक्ष है और उनका कोई परम मूल्य नहीं है चाहे वे दिखलाई देने वाले पदार्थ से कितने भी स्वतन्त्र क्यों न हों! बाह्य संसार में वे हमारे विचारों के ''प्रक्षेपण'' है जो हमारे आलयविज्ञान में केन्द्रित एवं सुरक्षित रहते हैं और वे व्यक्तिनिष्ठ अविद्या के कारण गतिविधि में जाग्रत हो जाते हैं। पदार्थों के स्वभाव में यह स्पष्ट अन्तर्दृष्टि, अर्थात् उनमें अनात्म के रूप में अयथार्थ दृष्टि ही पूर्ण ज्ञान है।

(3) जब हम पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, हम ब्रह्माण्ड के आदर्श को

पहचान लेते हैं। एक वस्तुनिष्ठ संसार जैसी कोई चीज नहीं है, जो वास्तव में **आलयविज्ञान** नामक मन की भ्रामक अभिव्यक्ति है। परन्तु **आलयविज्ञान** द्वारा स्वीकृत यथार्थ अस्तित्त्व भी अज्ञानी मनोविज्ञान द्वारा उत्पन्न की गई विशिष्टता का उत्पाद ही है। मनोविज्ञान या सांसारिक अहंकार, जैसा इसे नाम दिया गया है, **आलय** के सही स्वभाव के उचित ज्ञान के अभाव में **आलय** को एक तात्त्विक कर्त्ता के रूप में समझ लेता है कि कठपुतली के नाच के स्वामी के समान सभी मानसिक गतिविधियों को अपने परिहास के अनुसार व्यवस्थित करता है। जैसे रेशम का एक कीड़ा अपने द्वारा उत्पन्न किए गए जाल में अपने आप को कैद कर लेता है, मनोविज्ञान अपने आपको अविद्या एवं भ्रम में उलझाते हुए अपनी भ्रामक सृष्टि को वास्तविक यथार्थ समझ बैठता है।

(4) **योगाचार** संप्रदाय अन्य महायान संप्रदायों सहित नैतिक जीवन के नियंत्रण के लिए छः पारमिताओं के अभ्यास की बात करता है: वे हैं : (1) **दान**, (2) **शील**, (3) **क्षान्ति**, (4) **वीर्य**, (5) **ध्यान**, और (6) **प्रज्ञा**। व्याख्या के रूप में असंग कहते हैं, ''धन या सुखों के न चिपकने से (1), नियमों को तोड़ने के विचारों को न सँजोए रखने से (2), बुराइयों के संदर्भ में निराश न अनुभव करने से (3), भलाई का अभ्यास करते समय अकर्मण्यता के विचार को न जाग्रत करने से (4), इस संसार में बाधा एवं भ्रम के बीच मन की शान्ति बनाए रखने से (5), और अन्तिम रूप से हमेशा ही एकचित्त[1] का अभ्यास करने से और पदार्थों के स्वभाव को सही ढंग से समझने से (6), **बोधिसत्त्व विज्ञान मात्र** के सत्य की अनुभूति करते हैं— यह सत्य कि ऐसा कुछ नहीं है जो आदर्श या व्यक्तिनिष्ठ सृष्टि नहीं है।

(5) महायान यह शिक्षा देता है कि **बोधिसत्त्व** की दस आध्यात्मिक स्थितियाँ होती हैं, अर्थात् 1. **प्रमुदिता**, 2. **विमला**, 3. **प्रभाकरी**, 4. **अर्चिष्मती**, 5. **सुदुर्जया** 6. **अभिमुखी**, 7. **दूरंगमा**, 8. **अचला** 9. **साधुमति**, 10. **धर्ममेघ**। इन सभी स्थितियों में से एक के बाद एक में गुजरने से हम **धर्मकाय** की एकता में पहुँच जाते हैं।

---

1. ''एक मन'' या ''एक हृदय'' का अर्थ मानसिक प्रवृत्ति है, जो अपने व्यापक अर्थ में प्रकृति के संन्यासी दृष्टिकोण से सामञ्जस्य रखता है।
2. आध्यात्मिक विकास की ये दस स्थितियाँ कुछ बारीकी से आगे व्याख्यायित की गई हैं। देखिए अध्याय XII.

(6) योगाचारी यह दावा करते हैं कि महायानियों के अनुयायियों द्वारा अभ्यास में लाए गए नियम हीनयानियों से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं। हीनयानी बाहरी चीजों एवं औपचारिकता में पड़ जाते हैं, और हमारे आध्यात्मिक एवं व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यों में गहरे नहीं उतरते हैं। बुद्ध द्वारा अपनाए गए शारीरिक, वाचिक, एवं आध्यात्मिक नियम हैं। अन्तिम की उपेक्षा करते हुए वे पहले दो नियमों का पालन करते हैं, जो बाकी शेष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए **श्रावक** की दस शिक्षाओं[1] की व्याख्या, शाब्दिक है, आध्यात्मिक नहीं है, इसके अतिरिक्त, वे इन नियमों का पालन करते हैं क्योंकि वे अपनी खातिर **निर्वाण** प्राप्त करना चाहते हैं, और दूसरों के लिए नहीं चाहते हैं। दूसरी ओर **बोधिसत्त्व** नैतिक प्रतिबन्ध के संकुचित घेरे में बँधना नहीं चाहता है। मानवता की सार्वभौमिक मुक्ति को उद्देश्य बनाकर यदि आवश्क हो तो वह दस शिक्षाओं का उल्लंघन करने का साहस भी करता है। उदाहरण के लिए, पहली शिक्षा किसी भी जीवित प्राणी को हत्या करने के लिए मना करती है; परन्तु **बोधिसत्त्व** युद्ध में जाने से भी नहीं हिचकिचाता है, उस संदर्भ में जिस कारण को वह उचित समझता है और व्यापक रूप से मानवता की भलाई के लिए है।

(7) क्योंकि महायान बौद्धधर्म आन्तरिक जीवन की शुद्धि पर बल देता है, इसकी शिक्षा बाह्य पदार्थों पर लागू नहीं होती है, इसके सिद्धान्त तापसी एवं ऐकान्तिक प्रकार के नहीं हैं। महायानी लोग अपने आपको ''सांसारिकता की धूलि'' से संमिश्रित होने से भी परहेज नहीं करते हैं, उनका उद्देश्य **बोधि** की अनुभूति करना है, वे पुनर्जन्म के चक्रवात में फेंके जाने से भी नहीं डरते हैं। वे सभी चेतन प्राणियों को उनकी प्रवृत्ति का ध्यान रखे बिना भी उनको आध्यात्मिक लाभ देने का प्रयास करते हैं, चाहे वे शत्रु हों या मित्र हों, महायान में अचल श्रद्धा रखते हुए वे घमण्ड एवं सांसारिक सुखों से कभी भी दूषित नहीं होते हैं, वे इनके साथ सदैव संपर्क में रहते हैं। अनात्म के सिद्धान्त में उनकी एक स्पष्ट

---

1. बुद्ध के दस नैतिक नियम हैं : (1) किसी भी जीवित प्राणी की हत्या मत करो; (2) जो आपको नहीं दिया गया है, ऐसी किसी भी चीज को मत लो; (3) वैवाहिक शुचिता का पालन करो; (4) भूठ मत बोलो; (5) झूठी निन्दा मत करो; (6) अनादर मत करो; (7) बकबक मत करो; (8) लालची मत बनो, (9) ईर्ष्या मत करो; (10) सन्देह मत पालो।

अन्तर्दृष्टि बनी रहती है। सभी आध्यात्मिक दोषों से मुक्त होकर वे **तथता** के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं और बिना किसी घमण्ड या आत्म-दृढ़ता के वे अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं : एक शब्द में, उनका आन्तरिक जीवन **धर्मकाय** की अनुभूति है।

(8) एक बोधिसत्त्व की बौद्धिक श्रेष्ठता का प्रदर्शन उसके अनानार्थ[1] के ज्ञान के ग्रहण से होता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह परम का ज्ञान या ब्रह्माण्ड का ज्ञान है। बोधिसत्त्व का मन संसार एवं निर्वाण, सकारात्मकता एवं नकारात्मकता, एत् एवं असत्, पदार्थ एवं व्यक्ति तथा अहंकार एवं अनहंकार के द्वैत से मुक्त है। संक्षेप में उनका ज्ञान अन्तिम यथार्थों की सीमाओं को अतिक्रान्त करता हुआ परम के क्षेत्र एवं अविशिष्टता के निवास में ऊँचा उड़ता है।

(9) इस बौद्धिक ऊँचाई के परिणामस्वरूप एक बोधिसत्त्व **निर्वाण** में जन्म एवं मृत्यु की कार्य पद्धति को देखता है, और जन्म एवं मृत्यु के पुनर्जन्म में **निर्वाण** को देखता है। वह "कभी परिवर्तित न होने वाले" में "हमेशा ही परिवर्तित होने वाले अनेक" का दर्शन करता है, और "हमेशा ही परिवर्तित होने वाले अनेक" में "कभी परिवर्तित न होने वाले" का दर्शन करता है। उसका आन्तरिक जीवन तत्काल अनित्य संघटना एवं परम **तथता** के नियमों के अनुसार होता है। अनित्य संघटना के अनुसार वह उस प्रकार पीछे नहीं हटता जैसे संन्यासी पीछे हटते हैं जब वह इन्द्रियों के संसार के संपर्क में आता है, वह उन बुराइयों के दुःखों से नहीं डरता है जो हमारे शरीर के साथ जुड़ी हुई हैं; परन्तु परम **तथता** के अनुसार वह कभी भी क्षणभँगुर पदार्थों से नहीं चिपकता है, उसकी

---

1. महायान बौद्धधर्म दो "प्रवेशों" को पहचानता है जिसके माध्यम से ब्रह्माण्ड का एक व्यापक ज्ञान उपलब्ध होता है। पहला **"समता"** कहलाती है और दूसरा **"नानात्व"** कहलाता है। पहला प्रवेश हमारा परिचय पदार्थों की सार्वभौमिकता से करवाता है और अस्तित्त्व की एक सर्वेश्वरवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। दूसरा हमें पदार्थों की विशिष्टता की ओर अग्रसर करता है, जिसकी परिणति एकेश्वरवाद या बहुदेववाद में होती है, जैसा कि विभिन्न दृष्टिकोणों से पता चलता है। बौद्ध लोग यह घोषणा करते हैं कि इनमें कोई अकेला प्रवेश हमें अस्तित्त्व के मन्दिर-गर्भ की ओर नहीं ले जा सकता है; और सामान्यतया पदार्थों के सुदृढ़ एवं सन्तुलित ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें सार्वभौमिकता एवं विशिष्टता के दोनों प्रवेशों में से गुजरना चाहिए।

अत्यधिक आन्तरिक चेतना हमेशा ही शाश्वत तथता की शुचिता में निवास करती है।

(10) विशिष्ट रूप से महायानी कहा जाने वाला अन्तिम लक्षण **त्रिकाय** का सिद्धान्त है। यह दावा किया जाता है कि वहाँ सर्वोच्च सत् विद्यमान है जो ब्रह्माण्ड का अन्तिम कारण है और जिसमें सभी जीवन अपने आवश्यक उद्गम एवं महत्त्व को उपलब्ध करते हैं। महायानी लोगों द्वारा इसे **धर्मकाय** कहा जाता है। फिर, **धर्मकाय** अपनी परमता में विद्यमान नहीं रहता है, यह अपने आपको कारण एवं कार्य के क्षेत्र में उद्घाटित करता है। तब यह एक विशिष्ट स्वरूप धारण करता है। यह एक राक्षस या एक देवता या ईश्वर या एक मानव व्यक्ति या निम्न स्तर का एक पशु बन जाता है, और यह लोगों के बौद्धिक विकास के अंशों तक अपने आपको ढाल लेता है। क्योंकि ये लोगों की आन्तरिक आवश्यकताएँ ही हैं जो अभिव्यक्ति के विशिष्ट स्वरूपों को आवश्यक बनाती हैं। यह **निर्माण काय** कहलाता है, अर्थात्, रूपान्तरण का काय। बुद्ध, जिन्होंने अपने आपको लगभग दो हजार पाँच सौ साल पहले गंगा के तट पर राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम के रूप में प्रकट किया था, एक प्रकार के **निर्माणकाय** हैं। तीसरा **संभोगकाय** कहलाता है, या **आनन्दकाय** या बुद्ध का आध्यात्मिक कार्य है, जो सभी संभव शोभा के स्वरूप एवं सभी कल्पनीय मानसिक शक्तियों से युक्त हैं। **संभोगकाय** का विचार बेलगाम कल्पनाओं से पूर्ण है जो आधुनिक मनों के लिए समझना आसान नहीं है।[1]

ये सात या दस महायान के विशिष्ट बतलाए गए लक्षण हैं जिनको पहली शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक के बौद्ध दार्शनिक अपनी श्रद्धा के अत्यधिक आवश्यक बिन्दु समझते थे और उन्होंने जो सोचा था, उसे उन्होंने मुक्ति का साधन "महायान" नाम दिया। यह उनके अपने साथियों द्वारा अपनाए गए विश्वास के विरुद्ध था। परन्तु, जैसे अब हम उन पर विचार करते हैं, यहाँ बतलाए गए बिन्दु एक बड़ी सीमा तक एक एकांगी भावना से परिपुष्ट हैं, और इसके अतिरिक्त वे तथाकथित महायान के कमोबेश प्रमुख लक्षणों के रूप में बिखरे हुए हैं तथा आपस में असंबद्ध कथन हैं। न ही वे महायान की प्रकृति के बारे में एक धार्मिक-शिक्षाओं की एक सुसंगत व्यवस्था के रूप में अधिक सूचना प्रदान

---

1. इसी अध्याय में **त्रिकाय** के सिद्धान्त की आगे व्याख्या की जाएगी।

करते हैं। वे इसके बारे में एक सामान्य सा और धुँधला चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो महायान के विरुद्ध है। तथ्य यह है कि महायान बौद्धधर्म का एक संप्रदाय है और इसमें हीनयान के अनेक लक्षण साझे रूप में विद्यमान हैं। वास्तव में महायान की भावना भी हीनयान की भावना है और जहाँ तक बौद्धधर्म की सामान्य प्रवृत्ति का प्रश्न है तो एक संप्रदाय के महत्त्व पर दूसरे की अपेक्षा बल देने की आवश्यकता नहीं है। निम्नलिखित पृष्ठों में मैं बौद्धधर्म की और अधिक व्यापक एवं निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा, जो इसके अनुयायियों द्वारा महायान के रूप में लगातार बतलाई गई है।

अध्याय 3

मीमांसात्मक महायान

व्यवहार एवं मीमांसा

महायान बौद्धधर्म पर शायद दो विभागों में सबसे बढ़िया ढंग से विचार किया जा सकता है क्योंकि ये इसके सैद्धान्तिक विकास के दो विशिष्ट एवं प्रमुख लक्षण हैं। मैं एक को महायान बौद्धधर्म की मीमांसात्मक अवस्था कह सकता हूँ और दूसरी को व्यावहारिक कह सकता हूँ। पहला भाग आवश्यक रूप से एक प्रकार की बौद्ध तत्त्वमीमांसा है, जहाँ मन प्रमुख रूप से तर्क एवं कल्पना में व्यस्त रहता है। यहाँ बुद्धि एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, और यहाँ दर्शन की कुछ अत्यधिक गूढ़ समस्याओं पर स्वतन्त्र ढंग से विचार किया जाता है। बौद्धदर्शन के मीमांसकों ने इनके विवाद में बहुत रुचि ली है और विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं।[1] महायान बौद्धधर्म की दूसरी या व्यावहारिक अवस्था का संबंध ऐसे धार्मिक विश्वासों से है जो इस पद्धति का जीवन एवं

---

1. भारत, चीन एवं जापान में महायानी विचारों के विकास के इतिहास को खोजने के लिए कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किए गए हैं। जो सामान्य दिशा इसने ग्रहण कर ली है, कम से कम उसका अनुसरण करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री है, जहाँ तक चीनी एवं तिब्बती त्रिपिटक संग्रहों का प्रश्न है। जब निष्पक्ष एवं दुराग्रहहीन विद्वानों द्वारा इन ग्रंथों का पालि एवं संस्कृत साहित्य से पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन कर लिया जाता है, तब हम मानव विचारों का एक व्यापक इतिहास लिखने में सफल हो सकेगें, जिन्होंने पिछले दो हजार वर्ष में प्राचीन लोगों पर अनुशासन किया है। जब यह हो जाता है, इस परिणाम की दूसरी धार्मिक पद्धतियों के इतिहास से आगे तुलना की जा सकती है, इस प्रकार मानवता के सामान्य विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकेगा।

सार हैं। महायानियों ने अपनी व्यावहारिक श्रद्धा की व्याख्या करने के लिए गलत ढंग से कारण दिए हों, परन्तु श्रद्धा स्वयं धार्मिक भावना का विस्फोट है, जो मानव स्वभाव में अन्तर्निहित है। अतः यह व्यावहारिक पक्ष कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, और वास्तव में यह कहा जा सकता है कि मीमांसात्मक भाग केवल उस दिशा में एक प्रारंभिक कदम है। क्योंकि महायान एक धर्म है और एक दार्शनिक पद्धति नहीं है, इसको व्यावहारिक होना चाहिए, अर्थात् मानव हृदय के आन्तरिक जीवन को इसे सीधे अपील करना चाहिए।

धर्म में भावना एवं बुद्धि का संबंध

दर्शन एवं धर्म के बीच के संबंध के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है; और ऐसे अनेक विद्वान हैं जो धर्म के अन्धविश्वासों या अतिप्राकृतिक रहस्योद्घाटन के साथ तादात्म्य में इतनी दृढ़ता से विश्वास करते हैं कि इस दावे के नकारने को उनके द्वारा व्यावहारिक रूप से सभी धर्मों की अस्वीकृति समझा जाता है। क्योंकि उनके अनुसार धर्म में कोई मध्यम मार्ग नहीं है, एक धर्म, जो तार्किक भी है और फिर भी व्यावहारिक है, कोई धर्म नहीं है। अब बौद्धधर्म न तो कल्पना की सनक है और न ही ऊपर से होने वाला कोई रहस्योदघाटन है, और इस कारण इसे कुछ लोगों द्वारा दर्शन घोषित कर दिया गया है। इस प्रकार इस शीर्षक "मीमांसात्मक महायान" को ऐसी राय की स्वीकृति के लिए उपयुक्त समझा गया है। अतः इन भ्रान्तियों को दूर करने के लिए महायान बौद्धधर्म की धार्मिक प्रकृति एवं बौद्धिकता के प्रति इसकी प्रवृत्ति के बारे में इन भ्रान्तियाँ का स्वागत किया जा सकता है, मैंने धर्म में भावना एवं बुद्धि के संबंध के बारे में कुछ शब्द कहना यहाँ उचित समझा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि धर्म आवश्यक रूप से व्यावहारिक होता है; इसको सैद्धान्तीकरण की आवश्यकता नहीं है। यदि सही ढंग से कहें तो सैद्धान्तीकरण दर्शन का काम है। यदि धर्म केवल बुद्धि का ही उत्पाद होता, तो यह मनुष्य के पूरे व्यक्तित्त्व की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता था। तर्क एक वैयक्तिक मानव के संगठित सर्वस्व का केवल एक भाग ही है। कितनी ही ऊँची उड़ान, और कितनी ही गहरी मीमांसा मानव हृदय की आन्तरिक आकांक्षाओं को उतना संतुष्ट नहीं करती हैं। परन्तु वे ऐसा कर सकती हैं जब वे एक व्यक्ति के आन्तरिक जीवन एवं शरीर में प्रवेश कर जाती हैं; अर्थात् जब कल्पना एक ठोस तथ्य बन

जाती है और मीमांसा एक व्यक्ति के अस्तित्त्व में जीवन्त सिद्धान्त बन जाता है, संक्षेप में, जब दर्शन धर्म बन जाता है।

अतः दर्शन में सामान्यतया इस प्रकार धर्म से भेद किया जाता है। परन्तु हमें यह नहीं मानना चाहिए कि मानव हृदय की एक गहन अभिव्यक्ति के रूप में धर्म में इससे बौद्धिक तत्त्व को बिल्कुल ही अलग नहीं कर सकता है। धर्म में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका कल्पना एवं भावना द्वारा निभाई जा सकती है, परन्तु तर्क को विश्वासों के सामञ्जस्य में अपने उचित अधिकार का दावा करने में विफल नहीं होने देना चाहिए। जब इस अधिकार को नकार दिया जाता है, धर्म पागलपन, अन्धविश्वास और मृगतृष्णा बन जाता है, और मानवता के विकास के लिए खतरा भी बन जाता है।

बुद्धि आलोचनात्मक एवं वस्तुनिष्ठ है और हमेशा ही उन चीजों से पृथक् रहती है जिनकी परीक्षा की जानी होती है। यह परकीयापन या बुद्धि द्वारा अपने आपको ठोस तथ्यों से अलग रखना जीवन के असली महत्त्व को निरन्तर तिरस्कार करना है। अतः भावना एवं तर्क, धर्म एवं विज्ञान, वृत्ति एवं ज्ञान का द्वन्द्व चेतना के जाग्रत होने के समय से ही चला आ रहा है।

इस तथ्य को देखते हुए बौद्धिक लोग धर्म को उसके वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल के विकास की स्वतन्त्रता को रोकने एवं उसमें बाधा डालने वाले रूप की सामान्यतया निन्दा करते हैं। यह सत्य है कि धर्म प्रायः दूसरे छोर पर चला गया और उसमें तर्क के उचित दावे को दबाने का प्रयत्न किया। यह सत्य है कि ईसाईयत का यह एक विशिष्ट संदर्भ था, जिसका इतिहास उन निन्दनीय घटनाओं से भरा पड़ा है, जिसके परिणामस्वरूप धर्म ने तर्क के क्षेत्र में हिंसीय अतिक्रमण किया था। यह भी सत्य है कि भावना एवं बुद्धि में कभी-कभी विभिन्नता होती है कि जिसको भावना सबसे मूल्यवान खजाना समझती है, वह तर्क द्वारा निष्ठुरता से रौंद दिया जाता है, जब कि भावना उन परिणामों को अत्यधिक घृणा से देखती है जो बुद्धि के द्वारा गहन अध्ययन के बाद प्राप्त किए गए हैं। परन्तु यह घातक द्वन्द्व उस लड़ाई से अच्छा नहीं है जो सर्प के सिर एवं पूँछ के बीच में होती है जब सर्प को दो हिस्सों में काटा जाता है; इसका परिणाम हमेशा ही आत्म विनाश होता है।

हम ऐसी दयनीय परिस्थिति में हमेशा नहीं रह सकते हैं, जब हम यह

जानते हैं कि हमारी समझ की अदूरदर्शिता के कारण ही बिल्कुल ऐसा है। सत्य यह है कि भावना और तर्क "एक दूसरे के बिना काम नहीं कर सकते हैं, और मानव विकास की प्रक्रिया में इन्हें अपृथक् रूप से मिलकर काम करना चाहिए, क्योंकि बिना भावना के तर्क के लिए करने के लिए कुछ भी नहीं होगा और यह कुछ भी करने में असमर्थ होगा, जबकि तर्क के बिना भावना निरंकुश और अन्धे ढंग से काम करेगी, अर्थात् यदि इनमें से कोई एक भी एक दूसरे के बिना विद्यमान रहता और काम करता, तो अन्त में न तो भावना काम करती है और न ही तर्क काम करता है, जो काम करता है, वह मनुष्य ही है जो जैसे वह अनुभव करता है और तर्क करता है, वह उसके अनुसार काम करता है।" (एच मौडस्ले का "नेचुरल काज़ल एण्ड सुपरनेचुरल सीमिंगिस्" पृ. 7)। यदि यह बात मान ली जाए कि भावना एवं तर्क को मानव आदर्शों की अनुभूति के लिए तालमेल रखना चाहिए और सहयोग करना चाहिए, यद्यपि धर्म भावनात्मक जीवन का एक आवश्यक संघटक होने के कारण बुद्धि के महत्त्व के प्रति उदासीन नहीं हो सकता है। वास्वत में धर्म और दर्शन भी उन समस्याओं की मीमांसा करते रहे हैं जो मानव जीवन के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। ईसाईयत में मीमांसा का काम ईश्वर मीमांसा के नाम के अन्तर्गत चला लिया गया है, यद्यपि यह मौलिक रूप से श्रद्धा का धर्म होने का दावा करती है। भारत में, जैसा अन्यत्र बतलाया गया है, दर्शन और धर्म में कोई विभाजक रेखा नहीं रही है; और प्रत्येक शिक्षा, प्रत्येक पद्धति, और प्रत्येक सिद्धान्त चाहे वह पश्चिमी दिमाग को कितना ही गूढ़ और मीमांसात्मक लगे, ये सभी अपनी तह में धार्मिक ही थे और इनका उद्देश्य हमेशा ही आत्मा की मुक्ति था। ऐसी कोई दार्शनिक पद्धति नहीं थी जिसका कोई व्यावहारिक उद्देश्य न हो।

भारतीय चिन्तक धर्म को दर्शन से पृथक् नहीं कर सके, और व्यावहार को सिद्धान्त से भी पृथक् नहीं कर सके। उनका दर्शन मानव हृदय के फव्वारे से ही फूट निकला था और यह बढ़िया बुद्धि का मात्र प्रदर्शन नहीं था। यदि उनका चिन्तन सही दिशा में नहीं चल रहा था और कुतर्क की ओर अग्रसर हो रहा था, जिससे जीवन और अधिक दयनीय बन जाता, तो जैसे ही एक श्रेष्ठ सिद्धान्त खोजा गया था, वे स्वयं उस श्रेष्ठ सिद्धान्त के प्रति झुकने के लिए हमेशा ही तैयार रहते थे। परन्तु जब उन्होंने सोचा कि वे सही रास्ते पर चल रहे

थे तो उन्होंने अपने जीवन को इसके लिए त्यागने में संकोच नहीं किया। उनके दर्शन में धर्म के समान ही अग्नि विद्यमान थी।

बौद्धधर्म एवं मीमांसा

इस तथ्य के कारण बौद्धधर्म एवं हिन्दूधर्म गूढ़ मीमांसा एवं दार्शनिक चिन्तन से भरपूर हैं कि कुछ ईसाई आलोचक बौद्धधर्म की धार्मिकता को नकारने के लिए तत्पर हैं। परन्तु तुलनात्मक धर्म के विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी आजकल ऐसे दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करेगा। बौद्धधर्म, अपनी प्रमुख बौद्धिकता के बावजूद वास्तव में एक धार्मिक पद्धति है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि किसी भी दूसरी धार्मिक शिक्षाओं की अपेक्षा यह धर्म के तार्किक तत्त्व पर बल देता है, परन्तु उस कारण हम यह नहीं कह सकते कि यह भावना द्वारा निभाए गए महत्त्व का बिल्कुल निरादर करता है। इसकी मीमांसात्मक एवं दार्शनिक अवस्था वास्तव में धर्म के व्यक्तिनिष्ठ महत्त्व की पूरी तरह प्रशंसा करने के लिए तैयार है; क्योंकि धर्म अन्तिम रूप से व्यक्तिनिष्ठ ही होता है, अर्थात् धर्म का सार प्रेम एवं श्रद्धा है या बौद्ध शब्दावली का प्रयोग करें तो यह **बोधि** की अभिव्यक्ति है जो **प्रज्ञा**[1] एवं **करुणा** से निर्मित होते हैं। मानव जीवन में मात्र ज्ञान का बहुत

---

1. **प्रज्ञा, बोधि, बुद्धि, विद्या** और **ज्ञा** या ज्ञान सभी पर्याय हैं और कई संदर्भो में परिवर्तनीय हैं। परन्तु उनमें एक बढ़िया भेद है। सामान्य ढंग से कहें तो **प्रज्ञा** तर्क है, **बोधि ज्ञान, बुद्धि प्रज्ञा, विद्या ज्ञान** है। इन पाँच शब्दों मे से **प्रज्ञा** एवं **बोधि** आवश्यक रूप से बौद्ध हैं और उन्होंने तकनीकी अर्थ ग्रहण कर लिया है। इस ग्रन्थ में **प्रज्ञा** एवं **बोधि** दोनों का अनुवाद बुद्धि से किया गया है, क्योंकि उनके अर्थ की सीमा एक दूसरे को बहुत नजदीक से अतिव्याप्त करती है। परन्तु यह अस्पष्ट है, और जहाँ कहीं भी मुझे **बोधि** शब्द भ्रामक लगा, मैंने या तो मूल शब्द को बिना अनुवाद के ही छोड़ दिया या उसको कोष्ठकों में रख दिया। यदि बिल्कुल ठीक से कहें तो **प्रज्ञा** अनेक संदर्भों में आसानी से **श्रद्धा** कही जा सकती है, उद्घाटित सत्यों में से एक विश्वास के रूप में नहीं, परन्तु समाधिस्थ बुद्धि द्वारा प्राप्त किया गया एक प्रकार का तात्कालिक ज्ञान। **प्रज्ञा** कुछ दृष्टियों से बुद्धि के समानान्तर है, जिसका अर्थ है सभी तर्कों एवं अनुभवों का आधार। परन्तु इसे ग्रीक शब्द सोफिया के बराबर भी समझा जा सकता है। दूसरी ओर **बोधि** का निश्चित रूप से एक धार्मिक एवं नैतिक महत्त्व है। स्वंयं अपने आप में **प्रज्ञा** होने के अतिरिक्त, यह **करुणा** भी है; क्योंकि

कम मूल्य है। जब ज्ञान प्रेम एवं श्रद्धा से निर्देशित नहीं होता है, यह अहंकार एवं ऐन्द्रियता का तुरन्त एक सबसे ज्यादा आज्ञाकारी सेवक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। निम्नलिखित पदों में जो टेनिसन कहते हैं, वह बौद्धधर्म के बारे में पूर्णतया सत्य है:

''ज्ञान से कौन प्रेम नहीं करता? उसके सौन्दर्य
की कौन निन्दा करेगा? वह पुरुषों से
मेल-जोल कर सकती है और समृद्ध बनेगीं। उसके लिए
कौन स्तम्भ लगाएगा। उसके काम को सफल होने दो।
''परन्तु उसके मस्तक पर एक अग्नि स्थित है;
वह उसके मुखमण्डल को आगे बढ़ाती है
और भविष्य के एक मौके के लिए छलांग लगाती है,
सभी चीजों को इच्छा को समर्पित करते हुए।
''अर्धविकसित अभी तक, एक बच्चा, और तुच्छ
वह मृत्यु के भय से लड़ नहीं सकता है।
प्रेम एवं श्रद्धा से कट कर वह क्या है
केवल दिमाग के कुछ जंगली परदे।
''राक्षस? फूटने के लिए गर्म-जोशीले
उसकी आगे की गति में सभी बाधक
शक्ति के लिए उसे अपना स्थान जानना चाहिए:

बौद्धधर्म के अनुसार ये दोनों **प्रज्ञा** एवं **करुणा बोधि** का सार है। कुछ अर्थों में **बोधि** को द्विव्य ज्ञान के पर्याय के रूप में समझा जा सकता है, जैसा कि ईसाई अन्धविश्वासी द्वारा समझा जाता है। परन्तु **बोधि** के **बौद्ध** विचार में कुछ ऐसा है जिससे ज्ञान या बुद्धि के द्वारा समुचित प्रकार से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह बौद्धों एवं ईसाईयों के ईश्वर के विचार की दार्शनिक व्याख्या में भेद के कारण ऐसा प्रतीत होता है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, यह और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

वह द्वितीय है, प्रथम नहीं है।

"एक द्विव्य हाथ को उसे नम्र बनाना चाहिए,

यदि सब कुछ बेकार न हो, और उसके

पदचिह्नों को साथ-साथ चलते हुए निर्देशित करें

जैसे एक युवा बालक को बुद्धि से।"

परन्तु यह याद रखना चाहिए कि बौद्धधर्म उस भूमिका की कभी भी उपेक्षा नहीं करता है जो श्रद्धा की विशुद्धि में बुद्धि द्वारा निभाई जाती है। क्योंकि बुद्धि के समझदार प्रयोग द्वारा ही सभी धार्मिक अन्धविशवासों एवं पूर्वाग्रहों का अन्तिम रूप से विनाश किया जाता है।

बुद्धि अब तक दूरगामी परिणाम वाली है और हमें इसका वज्रपाणि के रूप में स्वागत करना चाहिए, जो प्रत्येक पदार्थ को कुचल देती है, जो मात्र ढोंग एवं झूठी है। परन्तु इसके साथ-साथ हमें यह भी स्मरण करना चाहिए कि ठोस चट्टान पर बने एक घर के समान धर्म का सार इस विनाश के कारण कभी भी बाधित नहीं होता है। इसकी आधारशिला मावन हृदय में बहुत गहरे स्थित है जो ज्ञान या विज्ञान से क्षतिग्रस्त नहीं होती है। जब तक मानव हृदय गर्म खून एवं जीवन की आग से धधक रहा है, बुद्धि कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, कभी भी इसे (मानव हृदय) अपने पैर के नीचे कुलचने में समर्थ नहीं हो सकेगी। वास्तव में जितने ज्यादा कठोर ढंग से धार्मिक भावना को बुद्धि की कुठाली में जाँचा जाता है, इसका आन्तरिक मूल्य उतना ही शानदार और चमकदार बन जाता है। अतः सच्चा धर्म कभी भी वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल के अधिकरण के सामने प्रकट होने से संकोच नहीं करता है। वास्तव में धार्मिक चेतना के अन्तिम महत्त्व की उपेक्षा करने से विज्ञान स्वयं अपनी कब्र खोजता है। प्रकृति के रहस्यों को खोलने और जीवन के अर्थ को पढ़ने के अतिरिक्त विज्ञान का क्या उद्देश्य है। क्या यह धर्म की आधारशिला नहीं है? विज्ञान अन्तिम नहीं हो सकता है, इसे अपने तर्क धर्म में खोजने चाहिएँ; केवल एक बौद्धिक अभ्यास के रूप में यह हमारे विचार के योग्य नहीं है।

धर्म एवं तत्त्वमीमांसा

फ्रांसीसी समाज शास्त्री, एम, गुयाऊ अपने "नान-रिलिजन ऑफ् दि

फ्यूचर'' (अंग्रेजी अनुवाद, पृ. 10) नामक ग्रंथ में कहते हैं:

''प्रत्येक सकारात्मक एवं ऐतिहासिक धर्म तीन विशिष्ट एवं आवश्यक तत्त्व प्रस्तुत करता है (1) प्राकृतिक संघटना (द्विव्य हस्तक्षेप, चमत्कार, प्रभावशाली प्रार्थनाएँ आदि) की पौराणिक एवं अवैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास, या ऐतिहासिक तथ्यों (जीसस, क्राईस्ट या बुद्ध के अवतार, रहस्योद्घाटन) आदि की पौराणिक एवं अवैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास; (2) रूढ़ियों की व्यवस्था, अर्थात् प्रतीकात्मक विचारों, काल्पनिक विश्वासों की व्यवस्था, एक व्यक्ति की श्रद्धा पर परम सच्चाइयों के रूप में जबरदस्ती थोपे जाने की व्यवस्था, यद्यपि वे किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक प्रदर्शन या दार्शनिक सफाई के योग्य नहीं है; (3) एक पूजापद्धति और एक कर्मकाण्ड की पद्धति, अर्थात् कमोबेश अपरिवर्तनीय तरीकों की व्यवस्था, जिनका चीजों के ऊपर अद्भुत प्रभाव है, प्रायश्चित्तिक गुण। बिना मिथ, रूढ़ि, पूजापद्धति, कर्मकाण्ड के एक धर्म एक घटिया उत्पाद 'प्राकृत्कि धर्म' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जो तात्त्विक कल्पनाओं की एक व्यवस्था के प्रति संकल्पनीय है।''

एम. गुयाऊ ऐसा सोचते प्रतीत होते हैं कि जब धर्म अपने अन्धविश्वासों, काल्पनिक विश्वासों एवं रहस्यात्मक कर्मकाण्डों से कट जाएगा, तब धर्म में जो बचेगा, वह तात्त्विक मीमांसा की एक पद्धति होगी और अतः यह धर्म नहीं होगा। परन्तु मेरी राय में फ्रांसीसी समाजशास्त्री एक गलती में भागीदार हैं जो आज के वैज्ञानिक लोगों में बहुत अधिक प्रचलित है। वे धर्म को इसके सभी क्षणभंगुर तत्त्वों एवं बाह्य आवरणों से पृथक् करने के प्रयास में बिल्कुल सही हैं परन्तु वे बिल्कुल गलत हैं जब वे इसके सार की कीमत पर ऐसा करते हैं, जो मानव हृदय की आन्तरिक आकांक्षाओं में विद्यमान है। इस सार का अन्धविश्वासों के साथ कोई साम्य नहीं है जो अपर्याप्त या असामान्य आहार के परिणाम स्वरूप अनावश्यक वृद्धि के समान इसके आस-पास उग आते हैं। न ही इसका संबंध केवल तात्त्विक समस्याओं के बारे में चिन्तन करने एवं कल्पनाओं के निर्माण करने से है। धर्म इससे कहीं दूर मानव हृदय की अथाह गहराइयों की पुकार है, जिसको कभी भी शान्त नहीं किया जा सकता है, जब तक यह ऐसी कोई चीज खोज नहीं लेता है और इसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता है, यह जीवन एवं ब्रह्माण्ड के उद्देश्यपरक महत्त्व को उद्घाटित करता है। परन्तु इस कुछ में केवल एक व्यक्तिनिष्ठ मूल्य है, जैसा गेटे फाउस्ट से घोषित करवाते

हैं, ''भावना ही सब कुछ है, क्योंकि मेरे पास इसके लिए कोई नाम नहीं है।'' क्यों? यह वस्तुनिष्ठ रूप से या बौद्धिक रूप से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है, जैसा उन नियमों के संदर्भ में है जो संघटनात्मक जीवन को अनुशासित करते हैं; तर्कमूलक मानव समझ के उचित विषय। धर्म की यह व्यक्तिनिष्ठता ''पूरे औचित्य को गन्दे वस्त्र'' बना देती है। यदि धर्म पर रूढ़ियों एवं कर्मकाण्डों से पृथक् करके विचार किया जाता है जैसे एम् गुयाऊ सोचते हैं, तो धर्म कुछ नहीं है अपितु तत्त्वों की एक व्यवस्था है, हम इसके व्यक्तिनिष्ठ महत्त्व या भावनात्मक तत्त्व को बिल्कुल ओझिल कर देते हैं, जो वास्तव में इसका उद्देश्य है।

इसको दृष्टि में रखकर हम यह देखने के लिए अग्रसर होते हैं कि किन तात्त्विक कल्पनाओं पर मीमांसात्मक महायान आधारित है; परन्तु पाठक को यह याद रखना चाहिए कि महायान बौद्धधर्म की यह दशा अपने और अधिक आवश्यक भाग के लिए केवल प्रारंभिक ही है, जिसकी हम ''मीमांसात्मक महायान'' के विरुद्ध ''व्यावहारिक बौद्धधर्म'' के शीर्षक के अन्तर्गत बाद में व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

अध्याय 4

ज्ञान का वर्गीकरण

ज्ञान के तीन स्वरूप

महायान बौद्धधर्म सामान्यतया दो या तीन प्रकार के ज्ञानों में भेद करता है। यह वर्गीकरण एक प्रकार की ज्ञानमीमांसा है, इसके साथ-साथ यह धार्मिक दृष्टिकोण से मानव ज्ञान की सीमा एवं प्रकृति को जाँचने का प्रस्ताव रखती है। इसका उद्देश्य यह देखना है कि अज्ञान के विच्छेद एवं प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए किस प्रकार का मानव ज्ञान अत्यधिक भरोसेमन्द एवं मूल्यवान है। महायान संप्रदाय, जिसने बौद्धदर्शन के इस विभाजन की ओर अत्यधिक ध्यान दिया है, असंग एवं वसुबन्धु का योगाचार है। लंकावतारसूत्र एवं सन्धिनिर्मोचनसूत्र और कुछ सूत्र, जिन पर यह संप्रदाय सैद्धान्तिक आधार रखने का दावा करता है, तीन प्रकार के ज्ञानों की शिक्षा देते हैं। फिर, सूत्र साहित्य एक नियम के रूप में विषय की किसी विस्तृत व्याख्या के विवाद में नहीं पड़ता है, केवल ज्ञान का वर्गीकरण करता है और यह संकेतित करता है कि ज्ञान का कौन सा स्वरूप बौद्धधर्म के लिए अत्यधिक वांछनीय है। एक संपूर्ण और अधिक तर्कमूलक व्याख्या के लिए हमें उस संप्रदाय के अभिधर्मपिटक के पास आना चाहिए। योगाचार संप्रदाय के सबसे अधिक पढ़े जाने ग्रंथों में हम वसुबन्धु की विज्ञानमात्र और इस पर असंग की विस्तृत टीकाओं का उल्लेख कर सकते हैं। निम्नलिखित कथन मुख्यतया इन ग्रंथों से लिए गए हैं।

जिस प्रकार से योगाचार द्वारा वर्गीकृत किए गए हैं, ज्ञान के तीन स्वरूप ये हैं : (1) परिकल्पित; (2) परतन्त्र; और (3) परिनिष्पन्न।

परिकल्पित

काण्टियन शब्दावली में परिकल्पित एक इन्द्रिय-भाव है, जो समझ की कोटियों द्वारा समन्वित नहीं है, अर्थात् यह एक विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या है, जिसको वस्तुनिष्ठ यथार्थ एवं आलोचनात्मक निर्णय द्वारा जाँचा नहीं जा सकता है। जब तक हम इसका व्यावहारिक प्रयोग नहीं करते हैं, यह कोई खतरा पैदा नहीं करेगा; इसमें कोई बुराई नहीं है, कम से कम धार्मिक रूप में दृश्यात्मक परिकल्पित एक मानसिक तथ्य है, और इस प्रकार यह न्यायसंगत है। पानी में एक सीधी नली प्रकाश की किरण के कारण टेढ़ी दिखलाई पड़ती है; जब शरीर के एक हिस्से को काटा जाता है, तो झनझनाहट प्रायः अनुभव होती है; क्योंकि स्नायुतंत्र अभी तक अपने आपको नई परिस्थिति के अनुकूल ठीक नहीं कर पाता है। फिर, ये सभी भ्रम ही हैं। निःसन्देह वे व्यवहार के ऐन्द्रिय संस्कारों की सच्ची व्याख्या हैं, परन्तु वे दूसरे ऐन्द्रिय संस्कारों द्वारा समर्थित नहीं होते हैं, एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ को स्थापित करने के लिए जिसका तालमेल आवश्यक है। इसमें अन्तर्निहित शिक्षा यह है: सभी ठोस अनुमान एवं ठीक व्यवहार को आलोचनात्मक ज्ञान पर आधारित होना चाहिए न कि भ्रमात्मक आधार वाक्यों पर।

इस प्रकार तर्क करते हुए महायान बौद्धधर्म घोषणा करता है कि भद्दे दिमागों द्वारा पाला गया अहंकार ज्ञान की इस कोटि से सम्बन्धित है, यद्यपि यह एक भिन्न प्रकार का है, और जो अहंकार से अन्तिम किले के रूप में दृढ़ता से चिपके रहते हैं, वे मृगतृष्णा में विश्वास करने वाले होते हैं और वे उस हिरण के समान हैं जो जंगल में दिखाई देने वाले जल के पीछे पागल होकर भागता है या उस चालाक बन्दर के समान है जो जल में चन्द्रबिम्ब को पकड़ने का प्रयास करता है। हमारी मानसिक संघटना के पीछे एक तात्त्विक कर्त्ता के अस्तित्व में विश्वास के कारण, यह विश्वास अनुभव एवं ठोस निर्णय द्वारा समर्थित नहीं है, यह केवल अज्ञानी व्यक्तिनिष्ठता का एक उत्पादन ही है।

इस नैतिक एवं दार्शनिक अहंकारवाद के अतिरिक्त, विश्व-दृष्टिकोण के सभी रूपों को, जो व्यक्तिनिष्ठ भ्रम के बालूई आधार पर आधारित है, जैसे टोना-टोटका, मूर्तिपूजा, मानवीकरण आदि, भ्रमात्मक आधार-वाक्यों के सिद्धान्तों के रूप में परिकल्पित-लक्षण की कोटि में वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

परतन्त्र लक्षण

इसके बाद सापेक्ष ज्ञान पर आधारित **परतन्त्र-लक्षण** आता है या सापेक्षता के नियम के ज्ञान पर आधारित इस दृष्टिकोण के अनुसार, संसार में प्रत्येक पदार्थ का सापेक्ष एवं सोपाधिक अस्तित्त्व है, और सीमाओं से मुक्त एक परम यथार्थ के रूप में किसी भी पदार्थ का दावा नहीं किया जा सकता है। यह अधिकांश आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा दिए गए सिद्धान्त के बिल्कुल समानान्तर है, जिनका अनीश्वरवाद सापेक्षता के नियम का अतिक्रान्त करने की हमारी बौद्धिक सामर्थ्य को नकारता है।

अतः **परतन्त्र-लक्षण** बाह्य संसार से हमारे संवाद से प्राप्त किए गए ज्ञान में स्थित होता है। इसका सम्बन्ध सर्वोच्च कल्पनाओं से है जो हम अपने ऐन्द्रिय अनुभवों से निर्मित करते हैं। यह अपने पूरे कठोर अर्थ में सकारात्मक है। यह कहता है: ब्रह्माण्ड का केवल एक सापेक्ष अस्तित्त्व है, और हमारा ज्ञान आवश्यक रूप से सीमित ही है। सर्वोच्च साधारणीकरण भी सापेक्षता के नियम से परे नहीं जा सकता है। हमारे लिए जीवन का पहला कारण एवं इसका अन्तिम छोर जानना असंभव है, न ही हमें इस प्रकार जीवन के क्षेत्र से परे जाने की कोई आवश्यकता है, जो आवश्यक रूप से हमें रहस्यमय कल्पनाओं की भूलभुलैंया में उलझा देगा।

अतः **परतन्त्र लक्षण** अपनी भावना में सकारात्मकता, अनीश्वरवाद एवं अनुभववाद है। यद्यपि योगाचारी बौद्धलोग इन सभी आधुनिक दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग नहीं करते हैं, यहाँ जो व्याख्या दी गई है वह वास्तव में यह है जिससे उनका अभिप्राय ज्ञान के दूसरे रूप से था। महायानियों द्वारा इस दृष्टिकोण पर आधारित एक विश्व-दृष्टि की घोषणा की गई है, जहाँ तक हमारे दृश्य ज्ञान का संबंध है, वह ठोस है, परन्तु यह मानव अनुभव के संपूर्ण क्षेत्र को समाप्त नहीं करता है, क्योंकि यह हमारे आध्यात्मिक जीवन एवं हमारी आन्तरिक चेतना का लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करता है। मानव हृदय में ऐसा कुछ है जो तथाकथित उन बहुविध संस्कारों की प्रकृति के अन्तर्गत नियमों द्वारा ही केवल संतुष्ट होने से इन्कार करते हैं, जिन संस्कारों को हम बाह्य जगत से ग्रहण करते हैं। हमारे हृदय में एक अकेली भावना या संवेदना या आकांक्षा है, हम इसे कोई भी नाम दें, जो एक सामान्य सुझाव या एक अपरोक्ष कथन की अपेक्षा एक सीधे सादे

वर्णन की अवज्ञा करती है। इसके धुँधलेपन के बावजूद इस रहस्यात्मक चेतना में हमारे जीवन का अर्थ एवं ब्रह्माण्ड का अर्थ भी इसमें विद्यमान प्रतीत होता है। बुद्धि इस बेचैनी की भावना को अपने सभी सूक्ष्म तर्कों से शान्त करने के लिए हमें राजी करवाने का प्रयास कर सकती है और बुद्धि तथाकथित प्राकृतिक नियमों को सुव्यवस्थित करके संतुष्ट बनी रह सकती है। परन्तु ऐसा करने से यह अपने आपको धोखा दे रही है; क्योंकि बुद्धि हृदय का केवल एक सेवक ही है और जब तक आत्म–विरोध के लिए इसके साथ जबरदस्ती न की जाए, इसे अपने आप को हृदय की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहिए। अर्थात् हमें सोपाधिकता की संकुचित सीमाओं को अतिक्रान्त करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि कौन से अपरिहार्य आधार तत्त्व हमारे जीवन एवं अनुभवों में अन्तर्निहित हैं। यह अपरिहार्य आधार तत्त्वों की पहचान योगाचार के **परिनिष्पन्न** लक्षण नामक ज्ञान का तीसरा रूप है।

परिनिष्पन्न लक्षण

परिनिष्पन्न लक्षण का शाब्दिक अर्थ है: अत्यधिक संपूर्ण ज्ञान पर आधारित संसार का दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्माण्ड एक एकत्त्ववादी एवं सर्वेश्वरवादात्मक व्यवस्था है। जब कि संघटनात्मक अस्तित्त्वों का नियमन प्राकृतिक नियमों से होता है, ये नियम सोपाधिकता एवं वैयक्तिकरण से अभिलक्षित होते हैं, जो किसी भी प्रकार से हमारे सभी अनुभवों को समाप्त नहीं करते हैं, जो हमारी आन्तरिक चेतना में जमा हैं। ऐसा कुछ होना चाहिए,— यह मानवता की सर्वोत्कृष्ट माँग है, अनुभव का अन्तिम आधार तत्त्व, चाहे वह इच्छा हो या बुद्धि, जो सभी अस्तित्त्वों को अनुप्राणित करते हुए ब्रह्माण्ड, नैतिक एवं धार्मिक जीवन के आधार का निर्माण करती है। यह सर्वोत्कृष्ट इच्छा या बुद्धि या दोनों को ईश्वर कहा जा सकता है, परन्तु महायानी इसे धार्मिक दृष्टि से **धर्मकाय**, सत्तामीमांसीय दृष्टि से **भूततथता**, मानसिक दृष्टि से **बोधि** या **संबोधि** कहते हैं। वे सोचते हैं, यह ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एवं हर समय अपने आपको अभिव्यक्त करता रहता है; इसे शाश्वत सृष्टि का कारण होना चाहिए, यह नैतिकता का सिद्धान्त होना चाहिए। ऐसा होने पर हम इसकी उपस्थिति को कैसे पहचान सकते हैं? बौद्ध लोग कहते हैं कि जब हमारे दिमाग भ्रमों पूर्वाग्रहों, एवं अहंकारवादी अवधारणाओं से मुक्त हो जाते हैं, वे पारदर्शी बन जाते हैं और सत्य को धूलि

रहित दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करते हैं। हमारी चेतना में इस प्रकार का प्राप्त किया गया प्रकाश ही तथाकथित **परिनिष्पन्न** अत्यधिक पूर्ण ज्ञान है, जो **निर्वाण**, अन्तिम मुक्ति और शाश्वत आनन्द की ओर अग्रसर करता है।

तीन प्रकार के ज्ञानों पर आधारित विश्व दृष्टिकोण

पाठक को यह कारण स्पष्ट हो जाएगा कि क्यों **योगाचार** तीन प्रकार के ज्ञानों पर आधारित तीन प्रकार के विश्व दृष्टिकोणों में भेद करता है। **परिकल्पित-लक्षण** सबसे ज्यादा आदिम एवं अत्यधिक बचकाना है। फिर भी, **प्रज्ञा** के आजकल के दिनों में संसार की **परिकल्पित** भावना के अतिरिक्त जो जनता के द्वारा विश्वास किया जाता है, और कुछ नहीं है। भौतिक जीवन जैसा यह हमारी इन्द्रियों को दिखलाई देता है, ही उनके लिए सब कुछ है। वे अहंकारवादी भ्रम एवं सहज यथार्थवाद के जूए को फेंकने में समर्थ नहीं हैं। उनका ईश्वर उत्कृष्ट एवं मानवतावादी होना चाहिए, और वह अपनी सनक के अनुसार सांसारिक मामलों में दखल देने के लिए हमेशा ही तत्पर रहना चाहिए। संसार कितना भिन्न है, जिसमें अनेक अविचारशील दिमाग रह रहे हैं उस संसार से कितना भिन्न है जिसकी कल्पना बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों द्वारा की जाती है! एक जर्मन विचारक हार्टमेन सही है, जब वह कहता है कि जनता अपनी बौद्धिक संस्कृति में कम से कम एक शताब्दी पीछे है। परन्तु संसार में सबसे अजीब चीज यह है कि उनके तमाम अज्ञान एवं अन्धविश्वासी विचारों के बावजूद भी सार्वभौमिक सुधार की लहरें हमेशा ही उन्हें एक पड़ाव की ओर आगे ले जा रहीं हैं, शायद जिसका उन्हें थोड़ा सा भी सन्देह नहीं है।

परतन्त्र लक्षण एक कदम आगे जाता है, परन्तु इसमें अन्तर्निहित मौलिक गलती इसके सतत आत्म-विरोधी तिरस्कार में है और यह पदार्थ के लिए है जो हमारी आन्तरिक चेतना को लगातार हमारे लिए उद्घाटित कर रही है। केवल बुद्धि हमारे संपूर्ण जीवन के रहस्य को किसी भी साधन से सुलझा नहीं सकती है। सर्वोत्कृष्ट सत्य पर पहुँचने के लिए हमें साहस के साथ अपने पूर्ण सत् के साथ ऐसे क्षेत्र में कूदना चाहिए जहाँ बुद्धि के प्रकाश की अवज्ञा करने वाला चरम अन्धकार सफल होता हुआ समझा जाता है। यह क्षेत्र, जो धार्मिक चेतना से न कम और न अधिक है, अधिकांश बौद्धिक लोगों द्वारा इस कारण टाला जाता है कि बुद्धि स्वयं अपनी प्रकृति द्वारा इसको मापने में असमर्थ है। परन्तु

केवल एक ही मार्ग, जो हमें हृदय की आकांक्षा की अन्तिम शान्ति की ओर अग्रसर करता है, वह तर्क को सीमित करने वाले क्षितिज से परे जाना है और उस श्रद्धा की शरण में जाना जो हृदय में इसके अस्तित्त्व एवं प्राणवत्ता की अनिवार्य शर्त के रूप में स्थापित की गई है। श्रद्धा से मेरा तात्पर्य **प्रज्ञा** सर्वोत्कृष्ट ज्ञान से है जो **धर्मकाय** के बुद्धि-सार से सीधे प्राप्त होता है। एक दिमाग, जो दर्शन के शब्दाडम्बर एवं कर्मकाण्ड की बकवास में सत्य को निरर्थक रूप से खोजते हुए थक गया है, अपने आपके द्विव्य प्रकाश की किरणों में पूर्ण रूप से स्थित होकर स्नान करता है, यह कहाँ से है, अलौकिक आशीर्वादों से इस प्रकार पूर्ण होकर यह प्रश्न नहीं करता है, केवल ये आशीर्वाद ही बच जाते हैं। बौद्धधर्म इस उन्नत आध्यात्मिक स्थिति को **निर्वाण** या **मोक्ष** का नाम देता है; और **परिनिष्पन्न** लक्षण संसार भावना है जो स्वाभाविक रूप से इस व्यक्तिनिष्ठ, आदर्श **प्रज्ञा** से आती है।[1]

ज्ञान के दो प्रकार

नागार्जुन का **माध्यमिक** संप्रदाय वाला बौद्धधर्म ज्ञान के तीन प्रकारों की अपेक्षा दो में भेद करता है, परन्तु व्यावहारिक रूप से **योगाचार** एवं **माध्यमिक** एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[2]

माध्यमिक दर्शन द्वारा भेद किए गए ज्ञान या सत्य के दो प्रकार **संवृति सत्य** एवं **परमार्थ सत्य** हैं। हम **नागार्जुन** के **माध्यमिक** शास्त्र (बुद्धिस्ट टैक्स्ट सोसाइटि संस्करण, पृ. 180-181) में पढ़ते हैं :

1. ज्ञान के तीन प्रकारों के लिए पाठक से प्रार्थना है कि वह **असंग** का ग्रंथ "कंप्रिहेन्सिव ट्रीटाइज ऑन् महायानिज्म" (नाञ्जो केटोलाग नं. 1183), **वसुबन्धु** का महायान पर ग्रंथ (**विज्ञानमात्र शास्त्र,** नाञ्जों नं 1215) एवं "**सूत्र ऑन् दि मिस्ट्री ऑफ् डिलिवेरेन्स** (**सन्धिनिर्मोचनसूत्र** नाञ्जो न. 246 और 247) आदि ग्रंथों को पढ़ें।

2. जब भारत में ईसा के बाद लगभग पाँचवी या छठी शताब्दी में दोनों वर्गों के प्रमुख प्रतिनिधि जैसे **धर्मपाल** और **भावविवेक** अपनी साहित्यिक गतिविधि के शीर्ष पर थे, उनकी एकांगी भावना ने एक दूसरे को बहुत ही सख्ती से तिरस्कृत किया था, वे उस सामान्य धरातल को भूल गए थे जिन पर उनके सिद्धान्त टिके हुए थे। तथ्यों पर उनके मतभेद, जिन पर उन्होंने अनावश्यक बल दिया था, बहुत ही तुच्छ प्रकृति के थे। यह केवल शब्दावली का झगड़ा था, क्योंकि एक वर्ग कुछ शब्दों को उस अर्थ में प्रयोग पर बल देता था जिसको दूसरा वर्ग नकारता था।

''दो सत्यों पर आधारित है
बुद्धों की धर्मदेशनाः
एक लोकसंवृति सत्य है
दूसरा परमार्थ सत्य है।
''जो दो में भेद को
नही जानते हैं,
वे तत्त्व को नहीं जानते हैं
बुद्धदेशना बहुत गंभीर है।[1]

संवृति सत्य में **योगाचार** संप्रदाय के भ्रमात्मक एवं सापेक्ष ज्ञान सम्मिलित हैं; जब कि **परमार्थसत्य** परम ज्ञान के समानान्तर है।

इन सत्यों की व्याख्या करने में **माध्यमिक** दार्शनिकों ने **शून्य** एवं अशून्य शब्दों का लगातार प्रयोग किया है, जो दुर्भाग्य से **नागार्जुन** के परमार्थ दर्शन के ईसाई विद्वानों की नासमझी का एक कारण बन गया था। परम सत्य अपने अन्तिम स्वभाव में **शून्य** है, क्योंकि इसमें कुछ भी ठोस या यथार्थ या वैयक्तिक नहीं है जो इसे वैशिष्ट्य का एक पदार्थ बनाता है। परन्तु इसको गलत न समझा जाए, जैसा कि कुछ अल्पज्ञ आलोचक इसे परम **शून्यता के** अर्थ में समझते हैं। **माध्यमिक** दार्शनिक परमार्थ सत्य को शून्य के अर्थ में समझते हैं जब वे इसे संघटनात्मक जीवन के यथार्थ के विरोध में देखते हैं। क्योंकि यह इस अर्थ में यथार्थ नहीं है जिस अर्थ में एक विशिष्ट सत् यथार्थ होता है; परन्तु यह शून्य है क्योंकि यह वैयक्तिकरण के सिद्धान्त को अतिक्रान्त करता है। जब परम दृष्टि से विचार किया जाता है तो यह न शून्य होता है और न ही अशून्य, न अस्ति और न ही नास्ति, न अभाव और न ही भाव, न यथार्थ और न ही अयथार्थ। इन सभी शब्दों में सापेक्ष एवं विरोध का भाव विद्यमान है, जब कि **परमार्थ सत्य** इन

---

1. द्वे विद्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
   लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः।।
   ये च अनयोर्न जानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
   ते तत्त्वं न जानन्ति गंभीरबुद्धशासने।।

सबसे ऊपर है, या बेहतर यह है कि यह सभी विरोधों एवं अवधारणाओं को परम एकत्त्व से जोड़ता है। अतः इसको वर्णित करना भी सत्य के सही स्वभाव की नासमझी की ओर ले जा सकता है, क्योंकि नाम देना ही वैशिष्टीकरण है। इस प्रकार यह बौद्धिकता या प्रदर्शनात्मक ज्ञान का पदार्थ नहीं है। यह प्रत्येक सोपाधिक एवं संघटनात्मक में अन्तर्निहित है, और यह अपने आपको भेद-भाव का एक विशिष्ट पदार्थ होने की आज्ञा प्रदान नहीं करता है।

परमार्थ सत्य एवं सापेक्ष समझ

एक व्यक्ति कह सकता है: यदि परमार्थ ऐसे गूढ़ स्वभाव का है, जो समझ की पकड़ से बाहर है, हम कैसे इसे प्राप्त करने में कभी आशा कर सकते हैं और इसके वरदान का कैसे आनन्द ले सकेंगे? परन्तु नागार्जुन कहते हैं कि यह ज्ञान की समझ की पहुँच से बिल्कुल भी बाहर नहीं है, इसके विरुद्ध इसकी समझ के कारण ही है कि हम उस दिशा से परिचित हो पाते हैं जिसकी तरफ हमारे आध्यात्मिक प्रयासों को निर्देशित किया जाना चाहिए, केवल हमें साधनों से चिपके नहीं रहना चाहिए जिनसे हम अन्तिम यथार्थ को ग्रहण करते हैं। चन्द्रमा की तरफ संकेत करने के लिए एक अँगुली की आवश्यकता होती है, परतु जब हमने चन्द्रमा को पहचान लिया है, तो हमें अँगुली को परेशान नहीं करना चाहिए। एक मछुआरा मछलियों को घर ले जाने के लिए एक टोकरी रखता है, परन्तु जब मछलियाँ सुरक्षित ढंग से घर पहुँच गईं तो टोकरी के बारे में परेशान होने की क्या आवश्यकता है। केवल जब तक हमें प्रज्ञा के रास्ते के बारे में अभी जानकारी नहीं है तब तक हमें लोकसंवृति के मूल्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। नागार्जुन कहते हैं।

> ''व्यवहार को छोड़कर परमार्थ की देशना नहीं हो सकती है। परमार्थ पर पहुँचे बिना निर्वाण प्राप्त नहीं होता है।''[1]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्धधर्म कभी भी धार्मिक विश्वासों की वैज्ञानिक, आलोचनात्मक जाँच-पड़ताल को हतोत्साहित नहीं करता है। क्योंकि विज्ञान के कार्यों में से एक यह है कि इसे विश्वास की बातों को शुद्ध करना चाहिए और इसे यह संकेत करना चाहिए कि हमारे अन्तिम

---

1. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

   परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।

आध्यात्मिक सत्य एवं सान्त्वना किस दिशा में प्राप्त किए जा सकते हैं। केवल विज्ञान, जिसका निर्माण सापेक्ष ज्ञान द्वारा किया जाता है, हमारी सभी धार्मिक तृष्णाओं को संतुष्ट करने में समर्थ नहीं है, परन्तु यह निश्चित रूप से हमें प्रज्ञा के मार्ग की ओर निर्देशित करने में सफल हो सकता है। अन्त में जब यह मार्ग उद्घाटित हो जाता है कि हम कैसे इस खोज से लाभान्वित हो सकते हैं, तब प्रज्ञा (या **संबोधि**) हमारे जीवन का मार्गदर्शक बन जाती है। यहाँ हम ज्ञेय के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। हमारे द्वारा अनुभव किए जाने वाले आध्यात्मिक तथ्य प्रदर्शन के योग्य नहीं हैं क्योंकि वे इतने सीधे एवं तात्कालिक हैं कि इनमें अदीक्षित लोग इसकी एक झलक पाने में बिल्कुल भी समर्थ नहीं हैं।

अध्याय 5

भूततथता

सत्तामीमांसा के दृष्टिकोण से **परमार्थ सत्य** या **परिनिष्पन्न भूततथता** कहलाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है "अस्तित्व की तथता।" क्योंकि बौद्धधर्म सत् को विचार से पृथक् नहीं करता है न ही विचार को सत् से पृथक् करता है, वस्तुनिष्ठ संसार में जो **तथता** है, वह व्यक्तिनिष्ठ संसार में **परमार्थ** सत्य है, और इसके उलट भी है। तब **भूततथता** बौद्धधर्म का ईश्वरत्त्व है, और यह सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए हमारे सभी मानसिक प्रयासों की समाप्ति को इंगित करता है, जो सभी संभव विरोधों को एक कर देता है और सांसारिक घटनाओं को सहज रूप से निर्देशित करता है। संक्षेप में, यह जीवन का अन्तिम आधार तत्त्व है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, **परमार्थ-सत्य** के समान इसका संबंध प्रदर्शनात्मक ज्ञान या ऐन्द्रिय अनुभव से नहीं है; यह बुद्धि की सामान्य प्रक्रिया द्वारा अज्ञेय है, जिस बुद्धि को प्राकृतिक विज्ञान सामान्य नियमों की स्थापना में प्रयोग में लाता है; और बौद्ध यह घोषणा करते हैं कि यह उन दिमागों द्वारा ग्रहण किया जाता है जो धार्मिक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करने में सक्षम हैं।

अश्वघोष अपने **श्रद्धोत्पादशास्त्र** में इस पहले सिद्धान्त की अनिर्वचनीयता पर बहस करते हैं। सभी विचारणीय गुणों से इसके स्वतन्त्र होने के कारण, जो हम सोपाधिक एवं सापेक्ष पदार्थों पर आरोपित करते हैं, जब हम कहते हैं, यह शून्य या खाली है, लोग इसे परम शून्य की शून्यता समझेंगे। जब हम इसे एक वास्तविक यथार्थ के रूप में परिभाषित करते हैं, जैसे यह संघटना के लोप से भी ऊपर स्थित है, लोग कल्पना करेंगे कि वैयक्तिक एवं ब्रह्माण्ड के घेरे से बाहर विद्यमान रहने वाला कुछ पदार्थ है, जो, यद्यपि हमारे समान ही ठोस है, वह एक शाश्वत जीवन जीता है। यह अन्धे को यह बतलाने जैसी चीज है कि

एक हाथी कैसा लगता है; उनमें से प्रत्येक उस बड़े प्राणी का अपूर्ण एवं अस्पष्ट सा भाव प्राप्त करता है, फिर भी उनमें से प्रत्येक यह सोचता है कि उसके पास इसका सही एवं अत्यधिक व्यापक विचार है।[1] इस प्रकार **अश्वघोष** सत् के अन्तिम स्वभाव से संबंधित सभी निश्चित कथनों से परहेज करना चाहते हैं, परन्तु भाषा ही केवल एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम मर्त्य लोग अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकते हैं और उनको दूसरों तक संप्रेषित कर सकते हैं, वे सोचते हैं कि जो सर्वोत्तम अभिव्यक्ति इसे दी जा सकती है, **भूततथता** अर्थात् ''अस्तित्त्व की तथता'' या केवल ''तथता''।

भूततथता (तथता) इस प्रकार परम दृष्टि से विचार किए जाने पर सत् और असत् की कोटि में नहीं आती है, और उन दिमागों को जो विरोधों के संकुचित घेरे में स्थित रहते हैं, इनको ग्रहण करने के अयोग्य कहा जाना चाहिए, जैसे यह वास्तव में है। नागार्जुन अपने **माध्यमिक शास्त्र** (अध्याय 15) में कहते हैं;

''स्वभाव और परभाव भाव और अभाव को भी

जो देखते हैं, बुद्धशासन में वे तत्त्व को नहीं जानते हैं।[2]

या

''अस्ति कहने से शाश्वत का ग्रहण होता है,

नास्ति कहने से उच्छेद का दर्शन होता है,

इसलिए अस्ति या नास्ति में किसी में भी

विद्वान व्यक्ति आश्रय नहीं लेता है।''[3]

फिर,

''अस्ति नास्ति भी दो अन्त हैं,

शुद्धि अशुद्धि ये भी दो अन्त हैं,

---

1. तुलना करें, उदान अध्याय VI।
2. स्वभावं च परभावं च भावमभावमेव च।
   ये पश्यन्ति, न पश्यन्ति तत्त्वं बुद्धशासने।
3. अस्तीति शाश्वतग्राहो, नास्तीत्युच्छेदर्शनम्।
   तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः।।

तस्मात् दोनों अन्तों को छोड़कर

पंडित बीच में भी स्थित नहीं रहता है।[1]

श्रद्धोत्पादशास्त्र से दोबारा उद्धृत करते हैं "अपनी तत्त्वमीमांसीय उत्पत्ति में भूततथता का दूषित पदार्थों से कोई संबंध नहीं है, अर्थात् सोपाधिक: यह वैयक्तिकरण के सभी चिह्नों से मुक्त है, जो संघटनात्मक पदार्थों में स्थित रहते हैं। यह एक अयथार्थ विशिष्ट चेतना से स्वतन्त्र है।"

अनिर्वचनीयता

इस प्रकार संपूर्ण तथता स्वयं अपने स्वभाव से सभी प्रकार की परिभाषाओं की अवज्ञा करती है। हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि यह है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ जो है, यह उसका पूर्वानुमान करती है जो नहीं है: अस्तित्त्व एवं अनस्तित्त्व, और व्यक्ति एवं विषय, मन एवं पदार्थ यह एवं वह, एक एवं दूसरा ये सभी सापेक्ष शब्द हैं; एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है। "यह ऐसा नहीं है (नेति)"[2] अत: केवल यही एक तरीका है जिससे हमारी अपूर्ण मानव जिह्वा इसे अभिव्यक्त कर सकती है। इसलिए महायानी सामान्यतया संपूर्ण तथता शून्य के रूप में वर्णित करते हैं।

परन्तु जब इस अतीव महत्त्वपूर्ण शब्द शून्यता की और अधिक पूर्ण रूप

---

1. अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता,
   शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
   तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा,
   मध्येऽपि स्थानं न करोति पंडित:।।

2. यह **बृहदारण्योकपनिषद्** में अनेक स्थलों पर आनेवाला प्रसिद्ध संदर्भ है (II. 3.6; III 9.26; IV 2.4; IV 4.22; IV 5.5)। यह कहता है आत्मा या ब्रह्मन्, "का वर्णन नेति नेति से किया जाता है। वह अबोध्य है, क्योंकि उसको बोध नहीं हो सकता है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका विनाश नहीं होता है, वह अनासक्त है, क्योंकि वह अपने आपको आसक्त नहीं करता है; वह अबंधित है, वह दु:खी नहीं होता है, वह विफल नहीं होता है। उसको (जो जानता है), ये दो उस पर विजयी नहीं हो सकते हैं, चाहे वह कहता है कि कुछ कारण से उसने बुराई की है या किसी कारण से उसने भलाई की है— वह दोनों पर विजयी होता है और न ही जो उसने किया है न ही जो उसने करना छोड़ दिया है, ये उसको प्रभावित नहीं करते हैं।

से व्याख्या की जाती है, हम अश्वघोष के साथ यह कहेंगे कि "तथता न तो वह है जो अस्तित्व और न ही जो अनस्तित्व है; न ही जो अचानक अस्तित्व एवं अनस्तित्व है, न ही जो अचानक अस्तित्व और अनस्तित्त्व नहीं है; यह न तो वह है जो एकता है और न ही यह वह है जो अनेकता है; न ही जो अचानक एकता और अनेकता है, न ही जो अचानक एकता और अनेकता नहीं है।"[1]

नागार्जुन के "आठ नकारों (अपह्नुति) वाले मध्यम मार्ग" के प्रसिद्ध सिद्धान्त में भी यह भावना पाई जाती है, जो यह घोषणा करता है:

"अनिरोध है, अनुत्पाद है, अनुच्छेद है, अशाश्वत है, अनेकार्थ है, अनानार्थ है, अनिर्गमन है।"[2]

अन्यत्र वे कुछ विरोधाभासी प्रकार से उसी विचार को अभिव्यक्त करते हैं, इस प्रकार वे ऐतिहासक बुद्ध को तथता की एक वास्तविक ठोस अभिव्यक्ति बतलाते हैं:

> "परम निरोध के बाद भगवान (तथागत) विद्यमान रहते हैं, यह ग्रहण नहीं होता है।
> वे विद्यमान रहते या नहीं विद्यमान रहते हैं, दोनों ही ग्रहण नहीं होते है।
> विद्यमान होते हुए भी तथागत हैं, यह ग्रहण नहीं होता है।[3]

---

1. **श्रद्धोत्पादशास्त्र** पृ. 59। तुलना करें, प्रोफेसर डब्ल्यु जेम्स अपने ग्रंथ "वैराईटीज ऑफ् रिलीजियस एक्सपीरियन्स" (पृ. 416-417) में कहते हैं, "सभी चीजों का कारण न तो आत्मा है और न ही बुद्धि है, न ही इसके कारण कल्पना, राय, या तर्क या बुद्धि, न ही यह भाषित है और न ही विचार है। न ही यह संख्या है, न व्यवस्था न बहुलता, न लघुता, न गुण, न असमानता, न समानता, न वैषम्य। न यह स्थित है न चलायमान है, न विराम ही है · · · न यह सार है, न शाश्वतता, न काल। बौद्धिक संपर्क का भी इससे संबंध नहीं है। न ही यह विज्ञान है और न ही सत्य। यह राजसत्ता भी नहीं है, न ही प्रज्ञा है; एक भी नहीं है, एकता भी नहीं हैं, न द्विव्यता न भलाई; न ही भावना, जिसे हम जानते हैं।"
2. अनिरोधमनुत्पादम् अनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थम् अनागममनिर्गमम्।। (मध्यमकशास्त्र पहला पद)
3. परं निरोधाद् भगवान् भवतीत्येव नोह्यते।
न भवत्युभयं चेति नोभयं चेति नोह्यते।।
तिष्ठमानोऽपि भगवान् भवत्येव नोह्यते।
न भवत्युभयं चेति नोभयं चेति नोह्यते।।

वे होते हैं, या नहीं होते हैं, इन दोनों का भी ग्रहण नहीं होता है।।

तथता का शून्य के रूप में यह विचार महायान के ध्यान संप्रदाय में बहुलता से पाया जाता है। एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं: जब बोधि-धर्म,[1] ध्यान संप्रदाय के संस्थापक, लियांग वंशावली के राजा वू से मिले (ए.डी. 502-556), उनसे पूछा गया कि पवित्र सिद्धान्त का पहला नियम क्या था, एक दार्शनिक के समान उसने कोई लम्बा, या संक्षिप्त उत्तर नहीं दिया, परन्तु संक्षिप्त रूप से उसने एक उत्तर दिया, "महान् शून्यता और कोई पवित्र चीज नहीं," राजा आश्चर्यचकित हो गया और वह नहीं जान पा सका कि उसके सलाहकार के शब्दों को कैसे समझा जाए। स्वाभाविक रूप से उसे एक ऐसे रूखे उत्तर की आशा नहीं थी, और बहुत निराशा होकर उसने दूसरे प्रश्न पूछने का साहस किया," वह कौन है जो मेरे सामने खड़ा है," इससे उसका आशय संपूर्ण तथता के सिद्धान्त को निरस्त करना था। उसका तर्क करने का तरीका इस प्रकार का था: यदि पदार्थों के अन्तिम स्वभाव में कुछ भी नहीं है जो पवित्रता एवं पापपूर्णता में भेद करता है, तो विरोधों का यह संसार क्यों है, जहाँ, कुछ लोगों का पावन के रूप में सम्मान होता है, उदाहरण के लिए बोधि-धर्म, जो इस क्षण मेरे सम्मुख खड़ा है और बुद्ध की पवित्र शिक्षाओं को प्रसारित करने के उद्देश्य में लगा है? फिर, बोधि-धर्म एक रहस्यात्मक व्यक्ति था और वह मानव जिह्वा के सर्वोत्कृष्ट सत्य

---

1. दक्षिण भारत में काशी के राजा का वह पुत्र था। वह ए. डी. 527 में चीन में आया और राजा वू को अपने मत की तरफ लाने के असफल प्रयास में वह एक विहार में चला गया जहाँ, ऐसा बतलाया जाता है, वह अपने मत का बिना प्रसार किए हुए लगातार एक दीवार को घूरता रहा। परन्तु उसको शेन कुआंग के रूप में एक बहुत ही निष्ठावान शिष्य मिल गया, जो पहले एक समय कन्फुसीयस का अनुयायी था, और इसके द्वारा ही चीन एवं जापान में ध्यान संप्रदाय बहुत ही शक्तिशाली बन गया। बोधिधर्म की ए. डी. 534 में मृत्यु हो गई। जिसकी यहाँ चर्चा की गई है, इसके अतिरिक्त राजा की उनसे एक और भेंट हुई। उस समय राजा ने धर्म से कहा, "मैंने अपने आपको अनेक विहारों को समर्पित किया है, अनेक पवित्र ग्रंथों का लेखन किया है, और अनेक भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को परिवर्तित किया है, आप क्या सोचते हो, मेरा क्या पुण्य है या होना चाहिए," फिर इसको धर्म ने संक्षेप में कहा, "कोई भी पुण्य नहीं।"

को अभिव्यक्त करने की असमर्थथता के बारे में पूरी तरह आश्वस्त था, उसे अन्तर्ज्ञान के माध्यम से केवल धार्मिक चेतना को ही उद्घाटित किया जा सकता है। उसका उपसंहारात्मक उत्तर था, "मैं नहीं जानता हूँ।"[1]

इसको "मैं नहीं जानता हूँ" अनीश्वरवाद की भावना में नहीं सकझा जा सकता है, परन्तु "ईश्वर को जब समझ लिया जाता है, तो वह ईश्वर नहीं है।" नाम-रूप के सभी भेदों को छोड़कर एक उच्च कोटि की स्वीकारोक्ति पर पहुँचने के लिए नकारात्मक शब्दों द्वारा तथता को वर्णन का एक बहुत कारगर तरीका प्रतीत होता है, क्योंकि मानव समझ अनेक दृष्टियों में सीमित है, परन्तु फिर भी, इसमें स्वयं बौद्ध लोगों में गलत व्याख्या पैदा कर दी है, आजकल के उन ईसाई बौद्ध विद्वानों का तो कहना ही क्या है, जो कभी-कभी शून्यता दर्शन के महत्त्व को लगभग जानबूझ कर गलत समझते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इन दुर्भाग्यपूर्ण गलत व्याख्याओं से बचने के लिए ही महायानियों ने प्रायः विरोधाभासी स्वीकारोक्ति की कि संपूर्ण तथता शून्य है, अशून्य है, सत् एवं असत् है, एक एवं अनेक है एवं यह वह है।

"गरजने वाला मौन"

परम तथता की व्याख्या करने वाला अभी एक और तरीका भी विद्यमान है, यद्यपि जो धार्मिक दिमागों के लिए अत्यधिक व्यावहारिक एवं अत्यधिक प्रभावी है, वह संदेह करने वाली बुद्धि के लिए बहुत अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है। तथता के स्वभाव या "अद्वय-धर्म" के स्वभाव से संबंधित प्रश्न के उत्तर में विमलकीर्ति द्वारा बतलाया गया "गरजने वाला मौन" है, जैसे इस सूत्र में बतलाया गया है।[2]

बोधिसत्त्व विमलकीर्ति ने मञ्जुश्री के नेतृत्त्व में बोधिसत्त्वों के समूह से पूछा, जो उसमें मिलने आए थे कि अद्वय-धर्म में कैसे प्रवेश किया जाए, इस

---

1. एक चीनी बौद्ध की एक रुचिकर उक्ति है, जो अनेक वर्षों तक संपूर्ण तथता पर ईमानदारी से विचार करते हुए अचानक एक दिन इसे समझ गया, वह यह है :"जिस क्षण आप यह कहते हैं यह कुछ है (या नहीं है) आप रास्ते से भटक जाते हैं।"
2. विमलकीर्तिसूत्र, कुमारजीव का अनुवाद भाग 2, अध्याय ।

पर आप अपनी राय अभिव्यक्त करो। कुछ ने उत्तर दिया, ''जन्म एवं मृत्यु दो हैं, परन्तु धर्म स्वयं कभी भी पैदा नहीं हुआ था और कभी भी नहीं मरेगा। जो इसको समझते हैं, वे अद्वय के धर्म में प्रवेश करने वाले कहे जाते हैं।'' कुछ ने कहा, 'मैं' और 'मेरा' दो हैं। क्योंकि मैं सोचता हूँ, ''मैं हूँ,'' मेरे कहलाने वाले पदार्थ हैं। परन्तु क्योंकि ''मैं नहीं हूँ'' हम ''मेरे'' कहलाने वाले पदार्थों को कहाँ ढूँढेंगे। इस प्रकार विचार करने से हम अद्वय के धर्म में प्रवेश कर जाते हैं। कुछ ने कहा, ''संसार एवं निर्वाण दो हैं। परन्तु जब हम संसार के अन्तिम स्वभाव को समझ लेते हैं, हमारी चेतना से संसार गायब हो जाता है, और न बंधन और न मुक्ति और जन्म एवं मृत्यु भी नहीं रहती है। इस प्रकार विचार करने से हम अद्वय के धर्म में प्रवेश करते हैं।'' दूसरों ने कहा, ''अविद्या एवं प्रज्ञा'' दो हैं। न अविद्या, न प्रज्ञा, और कोई अद्वय नहीं है। क्यों? क्योंकि जो ध्यान में प्रवेश कर चुके हैं जिसमें कोई इन्द्रिय संस्कार, कोई ज्ञान नहीं है वे अविद्या एवं प्रज्ञा दोनों से मुक्त हैं। दूसरी द्वैतवादी सभी कोटियों के बारे में भी यह सही है। जो इस प्रकार तथता के विचार में प्रवेश करते हैं, वे अद्वय धर्म में प्रवेश करने वाले कहे जाते हैं।'' फिर कुछ लोगों ने उत्तर दिया, ''निर्वाण की कामना करना, सांसारिकता से परहेज करना अद्वयवाद है। न निर्वाण की कामना करो, सांसारिकता से परहेज मत करो, और हम अद्वयवाद से मुक्ति हैं। क्यों ! बन्धन एवं मुक्ति सापेक्ष शब्द हैं, और जब प्रारंभ से ही बन्धन नहीं है, मुक्ति कौन चाहता है? न बन्धन, न मुक्ति और अतः न कामना, न परहेज : इसी को अद्वय के धर्म में प्रवेश करना कहा जाता है।''

उस सभा में मञ्जुश्री के अतिरिक्त सभी बोधिसत्त्वों ने उसी प्रकार बहुत से उत्तर आए। अब विमलकीर्ति ने मन्जुश्री से अपना दृष्टिकोण देने की प्रार्थना की, और इसको उन्होंने यह उत्तर दिया, ''जो मैं सोचता हूँ, उसे ऐसे कहा जा सकता है : वह जो सभी प्राणियों में शब्दहीन, भाषाहीन है, कोई भी चिह्न प्रदर्शित नहीं करता है, ज्ञान के योग्य नहीं है, और सभी प्रश्नों एवं उत्तरों से परे है, इसको जानना ही अद्वय-धर्म में प्रवेश करना कहा जाता है।''

अन्त में मञ्जुश्री द्वारा स्वयं मेजबान विमलकीर्ति से अद्वय-धर्म के बारे में उनकी राय बतलाने के लिए कहा गया परन्तु वे बिल्कुल शान्त रहे और वे एक भी शब्द नहीं बोले। इसके बाद मञ्जुश्री ने प्रशंसनात्मक ढंग से घोषणा की,

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा! **अद्वय-धर्म** वास्तव में अक्षरों एवं शब्दों से परे है।"[1]

इस **तथता** के बारे में अब महायानी दो प्रकार से भेद करते हैं, जैसे यह हमारी चेतना द्वारा समझी जाती है, जो **सोपाधिक** एवं **निरूपाधिक** है, या कारणता का संघटनात्मक संसार और परम मुक्ति का पारमार्थिक क्षेत्र है। यह भेद उसके समानान्तर है, ज्ञान के क्षेत्र में, संवृति सत्य एवं पारमार्थिक सत्य के क्षेत्र में।[2]

---

1. डायसन 1893 में बोम्बे ब्रांच ऑफ् दि रायल एशियाटिक सोसाइटि के सामने दिए गए भाषण में सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के बारे में एक वेदान्ती रहस्यवादी की वैसी ही प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं, "भव को जब राजा वक्षलीन द्वारा ब्रह्म की व्याख्या करने के लिए कहा गया, तो वह शान्त रहा। जब राजा द्वारा अपनी प्रार्थना बार-बार दोहराई गई, ऋषि ने यह उत्तर दिया, "मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, परन्तु आप समझ नहीं रहे हैं; **शान्तोऽयम् आत्मा**।"
2. यह सर्वविदित तथ्य है कि वेदान्त दर्शन भी सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म में इसी प्रकार का भेद करता है। सगुण ब्रह्म सापेक्ष है, संघटनात्मक है और इसके अपने लक्षण हैं; परन्तु **निर्गुण** ब्रह्म परम है, इसकी कोई विशेषता नहीं जिनकी बात की जा सके, यह परम **तथता** है (देखिए) मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम्स ऑफ् इण्डियन फिलोसोफी पृ. 220)
यहाँ एक अतीव रोचक प्रश्न अपने आपको उपस्थित करता है : मूल क्या है और नकल क्या है; **महायान** या **वेदान्त**। अधिकांश यूरोपीय संस्कृत विद्वान यह कह कर इसे निबटाने के लिए तैयार हो जाएँगे कि बौद्धधर्म को ऋणी होना चाहिए। मैं बहुत ही दृढ़ता से विरोधी दृष्टिकोण के प्रति झुका हुआ हूँ, क्योंकि इसके पक्ष में विश्वसनीय सबूत हैं। **अश्वघोष** के लेखों में, जिसकी तिथि **शंकर** या **बादरायण** से काफी पहले है, हम परम **तथता** एवं सापेक्ष **तथता** का भेद पाते हैं। वे अपने **श्रद्धोत्पादशास्त्र** में लिखते हैं कि यद्यपि **तथता** सीमा एवं सोपाधिकता के सभी प्रकारों से मुक्त है, और अतः यह हमारी सीमित चेतना से विचारित नहीं हो सकती है, फिर भी मानव दिमाग में अविद्या के अन्तर्निहित होने के कारण परम **तथता** संघटनात्मक संसार में अपने आपको अभिव्यक्त करती है और इस प्रकार यह अपने आपको कारणता एवं सापेक्षता के अधीन बनाती है और यह कहने के लिए अग्रसर होती है कि इसकी व्याख्या के दृष्टिकोण से **तथता** के दोहरे आयाम हैं। इसका पहला आयाम **शून्यता** इस अर्थ में है कि यह सभी अवास्तविक पदार्थों के लक्षणों से पूरी तरह पृथक् स्थित है, यह एक वास्तविक यथार्थ है। इसका दूसरा आयाम स्वीकारोक्ति के रूप में **अशून्यता** है, इसमें असंख्य गुण हैं, यह स्वयं सिद्ध है। इस तथ्य पर विचार करते हुए **अश्वघोष** किसी भी वेदान्ती दार्शनिक से पहले आते हैं, यह कहना तर्कपूर्ण है कि वेदान्ती दार्शनिकों ने अपने बौद्ध पूर्वजों से ब्रह्म के दो स्वरूपों में भेद करने का विचार उधार ले लिया होगा।
शंकर भी सगुण एवं निर्गुण विद्या में भेद करते हैं जिसका समानान्तर हमें महायानी **संवृति** एवं **परमार्थ सत्य** में उपलब्ध होता है।

सोपाधिक तथता

लक्षणों के सभी साधनों की अवज्ञा करने वाली पूर्ण पारमार्थिक तथता, जब तक यह ऐसी ही रहती है, इसका संघटनात्मक संसार एवं मानव जीवन में कोई सीधा महत्त्व नहीं है। जब वह संबंध रखती है, अपने स्वभाव और हमारे जीवन में एक नैतिक व्यवस्था के रूप में इसे सोपाधिक तथता बन जाना चाहिए। पूर्ण तथता के रूप में यह बहुत दूरस्थ एवं अत्यधिक गूढ़ है, और इसका एक तात्त्विक मूल्य हो सकता है। जहाँ तक यह पारमार्थिक है, इसका अस्तित्त्व एवं अनस्तित्त्व हमारे दैनन्दिन सामाजिक जीवन में हमें प्रभावित करता हुआ प्रतीत नहीं होता है। हमारी सीमित चेतना में प्रवेश करने के लिए, हमारी चेतन गतिविधियों का मानक बनने के लिए, प्रकृति में विकासात्मक लहर के मार्ग को निर्यंत्रित करने के लिए, तथता को अपना ''वैभवशाली एकान्त'' समर्पित करना चाहिए, और अपनी पूर्णता का परित्याग करना चाहिए।

जब तथता अपने सर्वोच्च स्थान से अविचारणीयता के क्षेत्र में नीचे अवतरित होती है, हमारी आँखों के सामने यह ब्रह्माण्ड अपनी सभी विविधताओं एवं वैभव सहित खुल जाता है। आकाश की तिजोरी में निहित चमकते तारे; हरे-भरे चरागाहों से व्यापक रूप से सजे-धजे नक्षत्र, विशाल पर्वत, उछाल खाती लहरें, जंगलों में खुशी से गाते हुए पक्षी, झाड़ियों में तेजी से भागते हुए पशु; भागते हुए बादलों से सुसज्जित ग्रीष्मकालीन स्वर्ग और पृथिवी पर सभी शाखाएँ एवं पत्तियाँ पूरी तरह लहलहाती हुई, बिना सजीवता के शरद्कालीन प्रशाद्वल, केवल यहाँ वहाँ सूखी, उत्तरी हवाओं में काँपते हुए नंगे पेड़; ये सभी अभिव्यक्तियाँ, जिसमें गणितीय, नक्षत्रीय, भौतिक, रसायनिक एवं जैविक नियमों में बाल भर भी परिवर्तन हुए बिना, ये सभी स्वभाव में सोपाधिक तथता के कार्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

जब हम मानव जीवन एवं इतिहास की तरफ मुड़ते हैं, हमारे पास सोपाधिक तथता का काम सभी प्रकार की गतिविधियों में भावावेशों, आकांक्षाओं, कल्पनाओं, एवं बौद्धिक प्रसासों के रूप में अभिव्यक्त होता है। जब हम भूखे होते हैं, यह हमसे खाने की इच्छा करवाती है, जब हम प्यासे होते हैं, यह हमको पानी पिलवाती है; यह पुरुष में स्त्री की आकांक्षा पैदा करती है, और स्त्री में पुरुष की आकांक्षा पैदा करती है; यह बच्चों को खुश रखती है और उन्हें

उछलते-कूदते रखती हैं; यह पुरुषों एव स्त्रियों को जीवन का बोझ बहादुरी से ढोने के लिए प्रोत्साहित करती है। जब हम दुःखी होते हैं, यह हमको चिल्लाने के लिए कहती है, "हमारे पास स्वतन्त्रता होनी चाहिए, या हम मर जाएँ," जब हमारे साथ अन्याय का व्यवहार किया जाता है, यह हमें हत्या एवं आगजनी करने के लिए अग्रसर करती है और क्रान्ति करने के लिए भी हमें अग्रसर करती है; जब हमारी श्रेष्ठ सँवेदनाएँ सबसे ऊँची सीमा तक जाग्रत कर दी जाती हैं, हमें उस कुछ को त्यागने के लिए तैयार कर देती है जो हमको सर्वाधिक प्रिय है। संक्षेप में, इस संघटनात्मक संसार, व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ के क्षणभंगुर परिवर्तन भी सोपाधिक **तथता** के खिलाड़ी हाथों से ही आते हैं। यह न केवल जीवन की भलाई एवं आनन्द का ही निर्माण करती है, अपितु पापों, अपराधों एवं दुःखों का भी निर्माण करती है जो हमारे शरीर द्वारा किए जाते हैं।[1]

---

1. इस पाद टिप्पण में चलते चलते मैं विषय से हटे बिना एवं वादविवाद में पड़े बिना नहीं रह सकता हूँ। तथ्य यह है, पश्चिमी बौद्ध आलोचक उस बात को जिद्दी ढंग से समझने से इन्कार करते हैं जिस पर बौद्ध स्वयं बल देते हैं। वे विद्वान जो विषय के बारे में सुविदित समझे जाते हैं भटक जाते हैं और बौद्ध धर्म पर झूठे दोष आरोपित करते हैं। उदाहरण के लिए, मैक्समूलर अपने ग्रंथ "सिक्स सिस्टम्स आफ् इण्डियन फिलासफी" पृ. 242) में घोषणा करते हैं "बौद्धधर्म एवं वेदात में एक महत्त्वपूर्ण भेद है कि बौद्धधर्म मानता है कि संसार की उत्पत्ति उससे हुई है जो असत् है, और वेदान्त यह मानता है कि संसार की उत्पत्ति उससे हुई जो सत् या ब्रह्मन् है"। वह पाठक, जिसने ऊपर मेरी व्याख्या को ध्यान से पढ़ा है, मैक्समूलर के निष्कर्ष में बौद्ध सिद्धान्त के बारे में एक गलत कथन को तुरन्त पकड़ लेगा। जैसा मैंने बार-बार कहा है, **तथता**, यद्यपि नकारात्मक शब्दों में वर्णित, **शून्यता** की स्थिति नहीं है, परन्तु सर्वोच्च संभव संश्लेषण है जिस पर मानव बुद्धि पहुँच सकती है। संसार **तथता** की **शून्यता** से पैदा नहीं हुआ है, परन्तु इसकी वास्तविकता की पूर्णता से पैदा हुआ है। यदि ऐसा नहीं होता, तो संघटनात्मक संसार के लोप एवं **शून्यता** से मुक्ति के बाद बौद्धधर्म हमें कहाँ ले जाना चाहता है?

   मैक्समूलर एक दूसरे स्थान पर (वही, पृ. 210) व्यवहारार्थ एवं उनकी "**बौद्धधर्म की शून्यता**" के प्रति विरोधात्मक प्रवृत्ति के लिए वस्तुनिष्ठ संसार के यथार्थ की वेदान्तियों की स्वीकारोक्ति की बात करते हैं। "बौद्ध" के संदर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका संकेत **माध्यमिक** संप्रदाय के अनुयायियों की ओर हैं, परन्तु उनके ग्रंथों का एक गंभीर अध्ययन यह उद्घाटित करता है कि जो उन्होंने नकारा था वह सोपाधिक **तथता**

अश्वघोष अपने **श्रद्धोत्पादशास्त्र** में **तथता** के हृदय एवं जन्म–मृत्यु के हृदय की बात करते हैं। **तथता** के हृदय से उनका तात्पर्य पूर्ण से है और जन्म–मृत्यु के हृदय से उनका तात्पर्य विशिष्टताओं के इस संसार में पूर्णता की अभिव्यक्ति से है। ''वे पृथक् नहीं हैं,'' फिर भी, वे कहते हैं, परन्तु वे एक हैं, क्योंकि **तथता** का हृदय जन्म–मृत्यु का हृदय है। यह हमारी सीमित इन्द्रियों एवं सीमित दिमाग के कारण है कि हमारे पास विशिष्टताओं का एक संसार है, जो, जैसा यह है, पूर्ण **भूततथता** के एक हिस्से के अतिरिक्त कुछ नहीं है। और फिर भी इस आंशिक अभिव्यक्ति के कारण ही हम अन्तिम रूप से सत् के भौतिक स्वभाव को इसकी पूर्णता तक पहुँचने में सफल हो जाते हैं। **अश्वघोष** कहते हैं, ''**तथागतगर्भ** पर आश्रित होते हुए जन्म–मृत्यु का हृदय विकसित होता है। जो अमर्त्य है और जो मर्त्य है, उनको सामञ्जस्यपूर्ण ढंग से मिला दिया जाता है, क्योंकि वे एक नहीं है और वे पृथक् भी नहीं हैं · · · यहाँ सभी पदार्थ संगठित हैं। यहाँ से सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

ऊपर किया गया विश्लेषण सत्तामीमांसीय दृष्टिकोण से है। जब मानसिक दृष्टि से विचार किया जाता है, तब **तथता** का हृदय **प्रज्ञा** है, क्योंकि बौद्धधर्म सत् एवं विचार, संसार एवं मन में कोई भेद नहीं करता है। दोनों का अन्तिम स्वभाव बिल्कुल एक जैसा ही समझा गया है। अब **प्रज्ञा** के स्वभाव के बारे में बात करते समय **अश्वघोष** कहते हैं, ''यह दिक् की **शून्यता** के समान है और उसमें शीशे की सच्ची चमक है और वह वास्तविक एवं महान है। यह सब पदार्थों को पूर्णता प्रदान करती है और सभी पदार्थों को ठीक करती है। यह विनाशशीलता की उपाधि से मुक्त है। इसमें जीवन की प्रत्येक दशा एवं संसार की गतिविधि प्रतिबिम्बित होती है। इसमें से कुछ भी बाहर नहीं जाता है, कुछ भी इसमें प्रवेश नहीं करता है, कुछ भी **शून्य** नहीं होता है, कुछ भी विनष्ट नहीं होता है। यह एक शाश्वत आत्मा है, दोष के कोई भी स्वरूप इसे दूषित

की अभिव्यक्ति के रूप में संसार की वास्तविकता नहीं थी, परन्तु इसका स्वतन्त्र यथार्थ और इस रूप में हमारी इसके प्रति आसक्ति। **माध्यमिक** संप्रदाय किसी भी अर्थ में एक शून्यवादी व्यवस्था नहीं थी। यह सही है, इसके पैरोकारों ने बहुत अधि ाक नकारात्मक शब्दों का प्रयोग किया था, परन्तु इससे उनका क्या अभिप्राय था, यह किसी भी सावधान पाठक को बिल्कुल स्पष्ट था।

नहीं कर सकते हैं। इसके अनेक निर्मल गुणों के कारण, जो इसमें अन्तर्निहित हैं, यह सभी लोगों के हृदयों को सुवासित करती है।'' इस प्रकार **तथता** का हृदय, जो **प्रज्ञा** है और बुद्धि का सार है, लगातार सभी प्राणियों के हृदयों में काम करता रहता है, अर्थात् हमारे सीमित मनों में एवं इनके माध्यम से लगातार काम करता रहता है। बौद्धधर्म घोषणा करता है कि सत्य को अत्यधिक ऊँचे गूढ़ दार्शनिक फार्मूलों में नहीं खोज़ा जा सकता है परन्तु खाना, कपड़े पहनना, चलना, सोना आदि जैसी रोजमर्रा की घटनाओं में खोजा जा सकता है। **तथता** का मर्म कर्म में है, अमूर्त करने में नहीं, जोड़ने में है, तोड़ने में नहीं।

समाधान की अवज्ञा करने वाले प्रश्न

संसार की **तथता** की एक अभिव्यक्ति के बारे में बात करते हुए हमारे सामने अत्यधिक उलझन वाले प्रश्न उपस्थित होते हैं जिन्होंने बुद्धि के आरम्भ से ही सर्वोत्तम दिमागों को परेशान कर रखा है। वे हैं: **तथता** ने पारमार्थिकता के रहस्यात्मक क्षेत्र में अपना निवास स्थान क्यों छोड़ा और पृथिवी पर अवतरित हुई जहाँ पर चारों तरफ हर प्रकार का दुःख हमारा स्वागत करता है? सांसारिकता की धूल से मिलने की ऐसी कौन सी अन्तर्निहित आवश्यकता इसके लिए थी जब कि यह अपनी पूर्णता में अवर्णनीय आनन्द का सुख भोग सकती थी। दूसरे शब्दों में पूर्ण **तथता** सोपाधिक **तथता** क्यों बनी? इन प्रश्नों का संबंध मानव कल्याण से नहीं है, यह कह कर इन प्रश्नों को निबटा देना अज्ञेयवाद एवं प्रत्यक्षवाद का मत है; परन्तु तथ्य यह है, मानव दिमाग द्वारा ये प्रश्न झक्की ढंग से नहीं खड़े किए गए हैं। वे अतीव महत्त्व के प्रश्न हैं जो हमारे सामने उपस्थित किए गए हैं और हमारे जीवन का महत्त्व पूरी तरह इनकी व्याख्या पर टिका है।

बौद्धधर्म यह स्वीकार करता है कि विशुद्ध रूप से मानव मन द्वारा इस रहस्य का समाधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह सीमित बुद्धि एवं तार्किक प्रदर्शन की शक्ति के क्षेत्र से बिल्कुल ही परे है। एक व्यावहारिक तरीके से ही इस रहस्य का समाधान खोजा जा सकता है जब हम बुद्धत्त्व की सर्वोच्च आध्यात्मिक **प्रज्ञा** को प्राप्त कर लेते हैं जिसमें बुद्धि अपने निर्बाधित अलौकिक प्रकाश से **तथता** के रसातल में सीधे-सीधे देखती है। **बोधि** जिससे हमारे जीवन का निर्माण होता है, हमारे में **तथता** की आंशिक अनुभूति है। जब यह बुद्धि **तथता** के शरीर में मिल जाती है और इसका वहाँ विस्तार होता है, जैसे निःसीम

समुद्र के जल में पड़े हुए बर्तन में जल भर जाता है, यह तुरन्त अपने स्वभाव, अपनी नियति एवं जीवन में अपने महत्त्व को देख लेती है और इन्हें अनुभव कर लेती है।

बौद्धधर्म एक धर्म है और तात्त्विक विषयों का तर्कपूर्ण ढंग से समाधान किए बिना ही उनको छोड़ देता है। यद्यपि दूसरे धर्म की अपेक्षा यह और अधिक बौद्धिक एवं दार्शनिक है, यह निराधार कल्पना की पूर्ण व्यवस्था को निर्मित करने का बहाना नहीं करता है। जहाँ तक सिद्धान्तीकरण का प्रश्न है, बौद्धधर्म रुढ़िवादी है और अनेक स्थापनाओं को उनकी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को उद्घाटित किए बिना ही उनकी अवधारणा कर लेता है। परन्तु वे धार्मिक चेतना की सभी आवश्यक एवं मूलभूत कल्पनाएँ हैं, वे मानव आत्म की अन्तिम माँगे हैं। प्राकृतिक विज्ञानों की तर्ज पर धर्म की अपनी स्थापनाओं को सिद्ध करने की इसकी कोई सकारात्मक जिम्मेदारी नहीं है। तथ्य, जैसे वे हैं; उनका वैसे ही कथन करना ही धर्म के लिए पर्याप्त है, और बुद्धि को यद्यपि अपने में अन्तर्निहित सीमाओं से बाधित होकर उन तथ्यों को एक सुसंगत व्यवस्था में रखने के लिए अपना सर्वोत्तम प्रयास करना पड़ता है।

ऊपर बतलाए गये प्रश्नों का बौद्धधर्म द्वारा किए गए समाधान को बहुत अधिक तार्किक एवं गंभीर कठिनाइयों से मुक्त नहीं कहा जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक रूप से यह सभी आवश्यक उद्देश्यों की पूर्ति कर देता है और धार्मिक अनुशासन के लिए यह सुविधाजनक है। इससे मेरा तात्पर्य बौद्धों के अविद्या के सिद्धान्त से है।

अविद्या का सिद्धान्त

अविद्या का सिद्धान्त एक एवं अनेक, पूर्ण **तथता** एवं **सोपाधिक तथता**, **धर्मकाय** एवं **सर्वसत्त्व**, **बोधि** एवं **क्लेश** तथा निर्वाण एवं संसार के बीच के रिश्ते का समाधान देना बौद्धों का एक प्रयास है। परन्तु बौद्धधर्म इस सिद्धान्त की कोई व्यवस्थित व्याख्या हमें नहीं देता है। जो यह कहता है वह सुनिश्चित एवं सैद्धान्तिक है। "यह ब्रह्माण्ड वास्तव में **धर्मघातु** है,[1] समता इसका लक्षण है, इसमें कुछ भी विषम नहीं है; यह अपने आप में शून्य है; सभी पदार्थों में कोई

1. एक प्रज्ञावान मन द्वारा देखा गया संसार **धर्मधातु** है, जहाँ वैशिष्ट्य के सभी स्वरूप एक दूसरे का विरोध नहीं करते हैं, परन्तु एक सुसंगत पूर्ण का निर्माण करते हैं।

पुद्गल नहीं है। परन्तु अविद्या के कारण, चार या छः महाभूत हैं, पाँच स्कन्ध हैं, छः या आठ विज्ञान हैं, और बारह निदान हैं। ये सभी नामरूप अविद्या के हैं।'' या अश्वघोष के अनुसार, ''तथता का हृदय एक विशाल धर्मधातु का है; यह सभी सिद्धान्तों का सार है। अन्तिम स्वभाव नष्ट नहीं होता है, न ही यह जीर्ण होता है। सभी विशिष्ट पदार्थ स्मृति[1] के कारण विद्यमान रहते हैं। स्मृति से स्वतन्त्र रहकर कोई बाह्य संसार दृष्टिगोचर नहीं होता है और उसमें भेद नहीं किया जा सकता है।'' ''प्रत्येक पदार्थ जो जन्म एवं मृत्यु के नियम के अधीन है, केवल अविद्या एवं कर्म के कारण विद्यमान रहता है।'' इस प्रकार के कथन लगभग सर्वत्र बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं; परन्तु इस प्रश्न के संदर्भ में कि कैसे और क्यों अविद्या का यह नकारात्मक सिद्धान्त तथता के शरीर में अपने आपको दृढ़तापूर्वक जमाने लगा, हम यह नहीं जान पाते हैं कि इसका एक प्रामाणिक एवं निश्चित उत्तर कहाँ से मिल सकता है।

फिर भी, एक चीज निश्चित है, यह है: अविद्या वैयक्तिकता का मूल सिद्धान्त है, जो सत् की संपूर्ण एकता में संघटनाओं की बहुलता को उत्पन्न करती है, जो तथता के बाह्य समुद्र में जीवन की उफनती हुई लहरों को उछालती है, जो निर्वाण के मौन को तोड़ती है, और पुनर्जन्म के चक्र को लगातार आगे बढ़ने के क्रम को प्रारंभ करती है, जो बोधि के पारदर्शी दर्पण के पर्दे में तथता के बिम्ब को प्रभावी बनाती है, जो तथता की समता को इदंता एवं तदंता के द्वयवाद में परिवर्तित करती है और अनेक भ्रमित मनों को इसके सभी घातक परिणामों सहित अहंकार की ओर अग्रसर करती है।

शायद अविद्या की समस्या पर आक्रमण करने का सबसे बढ़िया तरीका यह समझना है कि बौद्धधर्म पूर्णतः एक आदर्शवादी सिद्धान्त है, जैसे प्रत्येक सच्चे धर्म को होना चाहिए और मानसिक रूप से, न कि सत्तामीमांसीय दृष्टि से तथता की कल्पना की जानी चाहिए, और इसके अतिरिक्त, कि तथता में अविद्या अन्तर्निहित है, यद्यपि केवल काल्पनिक रूप से, मायिक रूप से, प्रत्यक्ष रूप से, और वास्तव में किसी अन्य अर्थ में नहीं।

ब्राह्मणधर्म के अनुसार प्रारंभ में केवल एक ही सत् था; और इस सत् ने

---

1. इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है याददाश्त। अश्वघोष इसे अविद्या के पर्याय के रूप में प्रयोग करते हैं, और दूसरे बौद्ध दार्शनिक भी ऐसा ही करते हैं।

सोचा, मैं एक हूँ, अनेक बनूँ, जिसका स्वाभाविक परिणाम व्यक्ति एवं पदार्थ, मन एवं प्रकृति में भेद हो गया। फिर, बौद्धधर्म में **तथता** की स्पष्ट रूप से ऐसी कोई इच्छा नहीं थी कि वह अपने अतिरिक्त एक और बने, कम से कम जब इसकी विशुद्ध रूप से तात्त्विक दृष्टि से कल्पना की जाती है। परन्तु क्योंकि बौद्धधर्म इस संसार की व्याख्या अविद्या के सिद्धान्त से सोपाधिक **तथता** के रूप में करता है, अविद्या को फिर, अपने अन्तिम स्वभाव में भ्रामक समझा जाना चाहिए, जो **तथता** के शरीर में सामर्थ्य के रूप में या बल्कि नकारात्मक रूप में विद्यमान थी, और जब **तथता** ने इच्छा की पारमार्थिक मुक्ति के माध्यम से अपने आपको स्थापित किया, उसने ऐसा अपने आपको नकार कर के ही किया, अर्थात् अविद्या या वैयक्तिकरण के सिद्धान्त से सोपाधिक बनने की अनुज्ञा प्रदान करके ऐसा किया। अविद्या, जैसा बौद्ध सूत्रों एवं शास्त्रों मे सर्वत्र स्पष्ट रूप से बतलाया गया है, एक भ्रम एवं नकारात्मक गुण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह केवल माया का पर्दा है। अविद्या का यह काल्पनिक स्वभाव पहले सिद्धान्त की आवश्यक पूर्णता को सुरक्षित बनाए रखता है और महायान सिद्धान्त के **अद्वयवाद** को पूरी तरह सुसंगत बनाता है। फिर, यहाँ ध्यान देने की बात यह है: बौद्धधर्म विशेषताओं के इस संसार को आवश्यक रूप से क्षणभंगुर एवं स्वप्न-सदृश नहीं समझता है। जब अकेले अविद्या का ही ध्यान रखा जाता है और पदार्थों के इस तमाम बाहुल्य में **तथता** की उपस्थिति को नकारा जाता है, इस अस्तित्त्व को निश्चित रूप से शून्य घोषित किया जाता है। परन्तु जब एक प्रज्ञावान मन अविद्या के सघन अन्धकार के बीच में भी **तथता** को देखता है, यह जीवन बिल्कुल ही एक नया आयाम ग्रहण कर लेता है, और हम सभी बुराइयों की भ्रामकता को पहचानने लगते हैं।

हम अपने विषय पर लौटते हैं; अविद्या **अश्वघोष** द्वारा विज्ञान[1] की एक चिनगारी के रूप में परिभाषित की गई है जो **तथता** की अथाह गहराई से सहज रूप में चमकती है। इसके अनुसार अविद्या एवं विज्ञान अपरिवर्तनीय शब्द हैं, यघपि इसके अर्थों में थोड़ा सा अन्तर है। कहने का तात्पर्य है कि अविद्या ही विज्ञान का उद्देश्य है, अविद्या वह है जो उद्देश्य के प्रकटीकरण को संभव बनाती

1. स्मृति, या चित्त या विज्ञान। **अश्वघोश** एवं दूसरे बौद्ध लेखकों द्वारा ये सभी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। स्मृति का अर्थ याददाश्त है, चित्त, विचार या मनन है।

है जब कि अविद्या स्वयं तथता का क्रमिक भ्रामक निर्गम है। तब यह स्पष्ट है कि विज्ञान का जागृत होना तथता के आत्म-स्वरूप के रसातल में इस ब्रह्माण्ड के उदय होने के प्रति पहला कदम है। विज्ञान के प्रकटीकरण में ही दर्शन एवं दृश्य का पार्थक्य अन्तर्निहित है, इसी में विषयी एवं विषय, व्यक्ति एवं पदार्थ तथा मन एवं स्वभाव का पार्थक्य अन्तर्निहित है।

तथता का तथाकथित शाश्वत रसातल एक बिन्दु है जहाँ व्यक्तिनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता परम एकत्त्व में विलीन हो जाते हैं। यह काल ही है (तिथि निर्णय) यद्यपि कठोर ठंग से कहें तो कालक्रम का प्रश्न यहाँ लागू नहीं होता है, जहाँ पर संसार चे "दस हजार पदार्थों" में अभी भी भेद नहीं किया गया है और जब ईश्वर ने भी जिसने "स्वर्ग एवं पृथिवी को उत्पन्न किया," अभी तक अपना कार्य प्रारम्भ नहीं किया था। मानसिक शब्दावली का प्रयोग करें तो यह पारमार्थिक या सीमापार विज्ञान की स्थिति है जहाँ सभी ऐन्द्रिय-भाव एवं कल्पनात्मक आकृतियाँ ओझल हो जाती हैं, और जहाँ हम एक परम अवचेतन अवस्था में होते हैं। यह रहस्यात्मक प्रतीत होता है: परन्तु यह एक प्रतिष्ठित तथ्य है कि हमारी मानसिक गतिविधियों के क्षेत्र में एक रसातल है जहाँ से विज्ञान अचानक गायब हो जाता है। जानकारी की दहलीज से परे इस क्षेत्र का, यद्यपि मानसिक अनियमितताओं के लिए यह एक रस्साकसी जैसा है, एक बहुत बड़ा धार्मिक महत्त्व है, जिसकी कृत्रिम वैज्ञानिक विवादों से उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यहाँ एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ पर व्यक्ति एवं पदार्थ का विज्ञान पूरी तरह विनष्ट हो जाता है, परन्तु यहाँ हमारे पास एक कब्र का मौन एवं अन्धकार नहीं होता है, न ही यह स्थिति पूरी तरह शून्यता की है। यहाँ आत्मा किसी अवर्णनीय की उपस्थिति में खो जाती है, यह अपने आप में सारे विश्व को आलिंगित करने के लिए अपना विस्तार कर लेती है, और यह किसी भी प्रकार के अहंकारवादी उत्थान या घमण्ड के बारे में सचेत नहीं रहती है, परन्तु यह केवल यथार्थ की पूर्णता एवं स्वर्गिक आनन्द के स्पर्श का अनुभव करती है, जो किसी भी मानव (पदार्थों) द्वारा प्रदान नहीं किया जा सकता है। सत् के स्वभाव में एक युक्तियुक्त आध्यात्मिक दृष्टि इसी स्रोत से आती है। इस अन्तर्दृष्टि की वास्तविक प्राप्ति को बौद्धों द्वारा प्रज्ञा का नाम दिया गया है। आध्यात्मिक ऊर्जा के लिए **बोधि** या **प्रज्ञा** या बुद्धि का शब्द है, जो इस **प्रज्ञा** को उत्पन्न

करती है।

जब मन समता की इस स्थिति से बाहर निकलता है, विज्ञान सहज रूप में वापस आ जाता है जैसे यह ओझिल हुआ था, इस अनूठे अनुभव की स्मृति को बनाए रखता है और विरोधों एवं पारस्परिक आश्रयता के संसार का सामना करता है जिसमें हमारा सांसारिक अहम् विचरण करता है। यह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करने वाले बादलों के पीछे से चमकने वाली बिजली की एक चमक के समान है, यद्यपि ये दोनों अवचेतन एवं कृत्रिम चेतन गतिविधि का एक सतत् स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं जिसके बीच में कोई विवृत्ति नहीं है। किसी भी प्रकार से व्यक्तिनिष्ठता की यह जागृति और सीमा से परे वाली चेतना को पीछे छोड़ने का काम ही अविद्या का प्रारंभ है। अतः यदि मानसिक रूप से कहें तो अविद्या को एक चेतन प्राणी में उसकी चेतना की जागृति का पर्याय समझा जाना चाहिए।

यहाँ हमारे पास सबसे अधिक रहस्यात्मक एक तथ्य है जिसे सुलझाने के लिए हमारे सर्वोत्तम प्रयास भी भौचक्के हो जाते हैं, वह यह है: कैसे और क्यों अविद्या, या जो चेतना के बराबर है, मनुष्य की परम शक्ति से हमेशा ही जागृत हुई है? कैसे और क्यों मानसिक प्रक्रिया की लहरें हमेशा ही शाश्वत शान्ति के समुद्र में ही हिल्लोरें मारती रही हैं? **अश्वघोष** केवल यह कहते हैं, "सहज रूप से।" यह किसी भी प्रकार से किसी भी चीज की व्याख्या नहीं करता है या कम से कम यह हमारी तथाकथित वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप नहीं है, न ही यह क्यों का कोई कारण प्रस्तुत करता है। फिर, धार्मिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से "सहज" उन पदार्थों की वास्तविक स्थिति को बतलाने के लिए सबसे ज्यादा सुस्पष्ट एवं जानदार शब्द है, जिस प्रकार वे पदार्थ हमारे मानसिक नेत्रों के सामने से गुजरते हैं। वास्तव में हमारे सभी मानसिक अनुभवों में हमेशा ही कुछ अस्पष्ट एवं अनिश्चित रहता है। किसी भी वैज्ञानिक परिशुद्धि, किसी भी वस्तुनिष्ठ बारीकी से हम संघटना का वर्णन करें, जो हमारे मन में घटित होती है, हमेशा ही कुछ ऐसी चीज रहती है, जो हमारी जाँच से बच निकलती है, वह इतना फिसलने वाला होता है कि वह पकड़ में नहीं आता है; ताकि हमारी व्याख्याओं में सही एवं सुस्पष्ट बनाने के लिए हमारे सभी भम-साध्य बौद्धिक प्रयासों के बाद भी, हम पाठक की कल्पना के लिए बहुत कुछ छोड़ने के लिए

मजबूर हो जाते हैं। यदि किसी संदर्भ में उसके अनुभव में कोई कमी है, जिसको बतलाने के लिए हमने प्रयास किया है, उसमें सघनता एवं वास्तविकता के उसी अंश में उस संस्कार को जगाने में हम निष्फल रूप से आशा करते हैं।

यही कारण है कि अश्वघोष एवं दूसरे महायानी घोषणा करते हैं कि तथता के रसातल से विज्ञान का उदय होना केवल बुद्धों एवं दूसरे प्रज्ञावान मनों द्वारा ही अनुभव किया जाता है, जो वास्तव में उस अनुभव में से निकल चुके हैं। अविद्या के क्यों की कोई भी व्याख्या नहीं कर सकता है और तथता के क्यों की भी कोई भी व्याख्या नहीं कर सकता है। परन्तु जब हम व्यक्तिगत स्तर पर इस आध्यात्मिक तथ्य का अनुभव करते हैं, हम कैसे या क्यों के बारे किसी सन्देह की शरण में जाने की कोई आवश्यकता नहीं अनुभव करते हैं। हर चीज पारदर्शी बन जाती है, और अलौकिक प्रज्ञा की किरणें हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के चारों ओर एक प्रभामण्डल के समान चमकती हैं। हम तथता अर्थात् धर्मकाय के आदेश से निर्देशित होकर विचरण करते हैं, जिसमें हम असीम आनन्द एवं सन्तोष का अनुभव करते हैं। एक चेतन प्राणी के जीवन में यह धार्मिक अनुभव एक अत्यधिक अलौकिक घटना है।

अद्वयवाद एवं नैतिक बुराई

क्योंकि हम यह नहीं सोच सकते कि हमारे अपने मन की अपेक्षा बाह्य संसार का सार कोई भिन्न हो सकता है, अर्थात् जैसे हम नहीं सोच सकते कि व्यक्ति एवं पदार्थ अपने अन्तिम स्वभाव में भिन्न हो सकते हैं, स्वाभाविक रूप से हमारा निष्कर्ष है कि अविद्या का वही सिद्धान्त, जो, व्यक्तिनिष्ठता का काम करता है, तथता के विश्व-मन में संघटनाओं की बहुलता कहलाता है। ब्रह्माण्ड अपनी पूर्णता में एक अनिश्चित मन है, और हमारा सीमित मन अपनी सीमा पार वाली चेतना सहित एक छोटी सी दुनिया है। अपने आन्तरिक आपे में निश्चित मन जो अनुभव करता है, यह वही होना चाहिए जो ब्रह्माण्डीय मन अनुभव करता है, न हम एक कदम आगे जा सकते हैं कि जब मानव मन व्यक्तिनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता की सीमा से परे विद्यमान होने वाले क्षेत्र में प्रवेश करता है, यह ब्रह्माण्ड के हृदय के साथ संपर्क में रहता है, जिसकी गोपनीय बातें बिना हिचक के यहाँ उद्घाटित हो जाती हैं। अत: बौद्धधर्म जानने एवं होने तथा प्रज्ञा एवं तथता में कोई भेद नहीं करता है। जब मन अविद्या से मुक्त हो जाता है और

विशिष्ट पदार्थों से और अधिक नहीं चिपकता है, यह तथता के साथ सामञ्जस्य में रहता है और इसके साथ भी रहता है।

फिर भी, हमें यह याद रखना चाहिए कि वैयक्तिकरण के सिद्धान्त एवं तथता की सहज अभिव्यक्ति के रूप में अविद्या कोई नैतिक बुराई नहीं है। व्यक्तिनिष्ठता की जागृति या चेतना का उदय आवश्यक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का भाग है। व्यक्ति एवं पदार्थ का पार्थक्य या संघटनात्मक संसार का आविर्भाव कुछ नहीं है परन्तु धर्मकाय की अनुभूति ही है। इस प्रकार अविद्या संसार की संपूर्णता के विकास में एक आवश्यक कार्य का संपादन करती है। अविद्या बुद्धों एवं सभी चेतन प्राणियों में अन्तर्निहित है। हम में से प्रत्येक विषय को देखे बिना नहीं रह सकता है, और विचारों के निर्माण, तर्क, अनुभव एवं संकल्प के बिना हम नहीं रह सकते हैं। हम वहाँ पर कोई नैतिक दोष नहीं देखते हैं। यदि वहाँ पर वास्तव में कुछ भी नैतिक दृष्टि से गलत है, तो हम इसका कुछ भी नहीं कर सकते हैं, हम इसके सामने बिल्कुल ही असहाय हैं, क्योंकि यह हमारा दोष नहीं है, परन्तु उस ब्रह्माण्डीय आत्मा का है जिससे और जिसमें हमारा अपना जीवन विद्यमान रहता है।

अविद्या ने सर्वत्र ही एक सापेक्षता एवं पारस्परिक आश्रय की स्थिति को पैदा किया है। जन्म मृत्यु से, जुड़ाव अलगाव से, विकास उलझन से, आकर्षण घृणा से, केन्द्राभिमुखी अपकेन्द्रीय शक्ति से, बसन्त पतझड़ से, ज्वारभाटा उतार से, आनन्द दुःख से, ईश्वर शैतान से, एडम इव से, बुद्ध देवदत्त से आदि, आदि अपृथक् रूप से संबद्ध हैं। अस्तित्त्व की ये आवश्यक परिस्थितियाँ हैं, और यदि अस्तित्त्व एक बुराई है, उसे समाप्त कर देना चाहिए, और उनकी समाप्ति के अस्तित्त्व का अपना तर्क ही समाप्त हो जाता है जिसका तात्पर्य है, पूर्ण शून्यता-एक असंभवता, जब तक हम विद्यमान रहते हैं। सोपाधिक तथता के संसार में अविद्या का कार्य बिल्कुल ही निर्दोष है, और बौद्ध इसके अस्तित्त्व में कोई भी दोष को नहीं पहचानते हैं, यदि वह भ्रमित व्यक्तिनिष्ठता से दूषित नहीं है। जो अस्तित्त्व के शाप की बात करते हैं या जो निर्वाण की अनस्तित्त्व के स्थान के रूप में कल्पना करते हैं और विनाश के परम आनन्द की कल्पना करते हैं, वे बौद्धों द्वारा अविद्या के महत्त्व को समझने में असमर्थ समझे जाते हैं।

क्या फिर अविद्या में कोई दोष उपलब्ध नहीं हो सकता हैं? स्वयं अविद्या

में नहीं, अपितु इससे हमारे दूषित आसक्ति में, जब हम अविद्या के बारे में अनभिज्ञ हैं। व्यक्ति एवं पदार्थ के द्वयवाद से इसे अन्तिम समझकर इससे चिपके रहना एवं इसके अनुसार काम करना गलत है। अविद्या के कार्य को अन्तिम समझना और उस आधार को भूलना गलत है जिस पर यह स्थित है। यह सोच गलत है कि चेतना की जागृति सारे विश्व को उद्घाटित करती है, अनदेखी वास्तविकताओं की उपेक्षा करना भी गलत है। संक्षेप में बुराई शीघ्रता से हमारे कदमों का अनुसरण करती है जब हम तथता से इसके सही रिश्ते को जाने बिना अविद्या के निष्कर्षों का अनुभव करने का प्रयास करते हैं। सभी गलतियों एवं बुराइयों में अहंकार सबसे अधिक मौलिक है।

जब हम अविद्या की बुद्धि के प्रकाश की वास्तविकता की तह में प्रवेश करने को अवरुद्ध करने के रूप में बात करते हैं, हम सामान्यतया इस शब्द को दर्शन के मुख्य विषय के अर्थ में नहीं समझते हैं, परन्तु भ्रमित व्यक्तिनिष्ठता के अर्थ में समझते हैं, जो अविद्या के कार्य की अहंकार के अन्तिम यथार्थ की परिणति के रूप में कल्पना करती है। इसलिए हम कह सकते हैं जब अविद्या का सिद्धान्त दार्शनिक रूप से उचित है, इसका हमारे व्यावहारिक जीवन में प्रज्ञाविहीन क्रियान्वयन बिल्कुल ही अनुचित है और यह हमारे ऊपर एक भयंकर विपत्तियों की श्रृंखला को लाता है।

अध्याय 6

तथागतगर्भ और आलयविज्ञान

अस्तित्त्व का अन्तिम सिद्धान्त **भूततथता** अनेक भिन्न-भिन्न नामों से विदित है, क्योंकि यह अपनी अभिव्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में कल्पित की जाती है। **तथता** बुद्धों का सार है, क्योंकि यह बुद्धत्त्व का कारण है। जब इस पर अस्तित्त्व के नियम से विचार किया जाता है, यह **धर्म** है। जब यह बुद्धि का स्रोत है, यह **बोधि** है। जब यह अहंकार एवं दुष्ट भावावेशों से पीड़ित हृदय को शाश्वत शक्ति प्रदान करती है, यह **निर्वाण** है। जब यह प्रकृति के मार्ग को बुद्धिमानी से निर्देशित करती है, यह **प्रज्ञा** है। जब यह करुणा एवं **प्रज्ञा** का धार्मिक दृष्टि से प्रेम के फव्वारे के रूप में समझा जाता है, यह **धर्मकाय** है। जब यह धार्मिक चेतना को जागृत करने वाला है, यह **बोधिचित्त** है। जब इसे सभी विशिष्ट स्वरूपों को अतिक्रान्त करने वाले के रूप में समझा जाता है, यह **शून्यता** है। जब इसकी नैतिक अवस्था पर बल दिया जाता है, यह **कुशल** है। जब इसका ज्ञान-मीमांसीय लक्षण बतलाया जाता है, यह **परमार्थ** है। जब इसे एकाकीपन एवं वैयक्तिक अस्तित्त्वों की सीमा से ऊपर समझा जाता है, यह **मध्यममार्ग** है। जब इसके सत्तामीमांसीय पक्ष पर विचार किया जाता है, यह **भूतकोटि** है। जब इस पर मातृ-पृथिवी के सादृश्य पर विचार किया जाता है, यह **तथागतगर्भ** है, जहाँ जीवन की सभी मणियाँ संग्रहित हैं और जहाँ सभी बहूमूल्य प्रस्तर एवं धातुएँ गन्दगी के पर्दे के नीचे छिपी पड़ी हैं। **तथता** का यह अन्तिम आयाम है जिस पर मैं यहाँ कुछ विस्तार से विचार करने का सुझाव रखता हूँ।

तथागतगर्भ और अविद्या

तथागतगर्भ का शाब्दिक अर्थ **तथागत का गर्भ**[1] या कोख या भण्डार जिसमें

1. तुलना करें भगवद्गीता (अध्याय, XIV): ''ब्रह्म मेरे लिए गर्भ है, जिसमें मैं बीज डालता हूँ। उससे हे भरतवंशी! सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वे शरीर हे कुन्तीपुत्र! जो सभी गर्भों से उत्पन्न होते हैं, मुख्य गर्भ महान ब्रह्म है, और मैं बीज का दाता पिता हूँ''।

अविद्या के पर्दे के अन्तर्गत तथागतत्त्व छिपा हुआ विद्यमान रहता है। इसको सही रूप में ब्रह्माण्ड का गर्भ कहा जा सकता है जिससे चीजों का बाहुल्य, मानसिक एवं शारीरिक उत्पन्न होता है।

अत: तथागत गर्भ की सत्तामीमांसीय दृष्टि से अविद्या से अनुप्राणित तथता की एक स्थिति के रूप में व्याख्या के योग्य हो सकती है और यह विशेषताओं के संसार में अनुभूति के योग्य अर्थात् जब यह अपने आपको व्यक्ति एवं पदार्थ के द्वयवाद में रूपान्तरित करने के लिए लगभग तैयार होता है, यद्यपि इसमें अभी भी गतिशीलता की कोई दर्शनीय अभिव्यक्ति किसी भी रूप में नहीं होती है। मानसिक रूप से यह कर्म संबंधी कारणता के नियम के बंधन के अन्तर्गत तुरन्त आने वाले मनुष्य की पारमार्थिक आत्मा है। यद्यपि अपने स्वभाव में विशुद्ध एवं स्वतन्त्र मनुष्य में तथता की अभिव्यक्ति के रूप में पारमार्थिक आत्मा या विशुद्ध बुद्धि— अब जन्म एवं मृत्यु के सिद्धान्त से प्रभावित होती है और अपने आपको अवयवी के अधीन बनाती है। जिस प्रकार से यह है, यह विभेद एवं सीमा से अभी भी रहित है, इसके अतिरिक्त उन भेदों की बहुत ही कम संभावना है। ज्यों ही यह एक विशिष्ट रूप में क्रियान्वित होती है, फिर यह उनके अपने नियमों के अधीन अपनी सभी विशेषताओं को उद्घाटित कर देती है; इसको भूख लगेगी, यह इच्छा करेगी, यह संघर्ष करेगी, और यह अपने भौतिक बन्धनों से दु:खी भी होगी, यह मुक्ति की कामना करना प्रारंभ करेगी और आन्तरिक रूप से संघर्ष करेगी। तब यहाँ तथता की कोई पूर्ण मुक्ति नहीं है, जब तक इसकी संघटनात्मक स्थिति पर ही केवल विचार किया जाता है क्योंकि गर्भ वैशिष्ट्य के दबाव के अन्तर्गत काम करता है। फिर तथागतत्त्व का सार यहाँ सुरक्षित रखा जाता है, और जब भी यह संभव होता है, हमारे सीमित मन इसकी उपस्थिति एवं शक्ति को अनुभव करने में समर्थ हो जाते हैं। अत: काल्पनिक रूप से गर्भ हमेशा ही भावावेशों एवं इच्छाओं की संगति में रहता है, भावावेश एवं इच्छाएँ अविद्या के होते हैं।

हम श्रीमालासूत्र में पढ़ते हैं, ''तथागतगर्भ के साथ भावावेशों का भण्डार आसक्त रहता है'' या ''तथागतगर्भ का धर्मकाय भावावेषों के भण्डार से अनासक्त न होता हुआ तथागतगर्भ कहलाता है।'' बौद्धधर्म में भावावेश, इच्छा या क्लेश का प्रयोग सामान्यतया बोधि या निर्वाण या बुद्धि के विरोध में किया जाता है। जैसे धार्मिक दृष्टि से विचार किए जाने पर निर्वाण धर्मकाय या भूततथता मानव

में एक विशिष्ट अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्त्व करते हैं, इसलिए **बोधि** छोटी सी दुनिया में सार्वभौमिक अविद्या का प्रतिबिम्ब है। अतः बौद्धधर्म के अनुसार मानव, आत्मा जिसमें बुद्धि एवं इच्छा, विलीन हो जाते हैं; को तथागतगर्भ के एक वैयक्तिकरण के रूप में समझा जाना चाहिए। इसी क्षमता के कारण गर्भ को आलयविज्ञान कहा जाता है।

आलयविज्ञान एवं इसका विकास

जैसे हम देख चुके हैं, तथागतगर्भ के मानव मन में आलयविज्ञान एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्माण्डीय गर्भ का एक वैयक्तिक एवं आदर्श प्रतिबिम्ब है। यह वह ''मानसिक बीज'' है, जैसा आलय को प्रायः वर्णित किया जाता है, जो सभी मानसिक संभावनाओं का भण्डारण करता है, जो संभावनाएँ बाह्य संसार के आवेग से गतिशील होती हैं, और जो छः विज्ञानों के माध्यम से आलय के लिए कार्य करता है।

महायान आवश्यक रूप से आदर्शवादी है और यह व्यक्ति एवं पदार्थ, विचार एवं सत्, मन एवं प्रकृति तथा चेतना एवं ऊर्जा में कोई मूलभूत एवं गुणात्मक भेद पैदा नहीं करता है। अतः सत् एवं आलय की गतिविधि आवश्यक रूप से गर्भ की ही है; और फिर, क्योंकि गर्भ सार्वभौमिक अविद्या एवं तथता की संयुक्त उत्पत्ति है, इसी प्रकार आलय भी क्लेश एवं **बोधि** की उत्पत्ति है। फिर, गर्भ एवं आलय, प्रत्येक अपने आप में निर्दोष एवं विषयों की वर्तमान स्थिति के बारे में बिल्कुल ही गैर-जिम्मेदार हैं। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि बौद्धधर्म जीवन एवं ब्रह्माण्ड को उनकी बुराइयों के लिए उनकी निन्दा नहीं करता है जैसा कुछ धार्मिक आचार्यों एवं दार्शनिकों द्वारा किया गया था। तथाकथित बुराई प्रकृति एवं जीवन में मूलभूत नहीं है। यह केवल कृत्रिम है। यह अविद्या एवं इच्छा का काम है और जब उनको **बोधि** के लिए काम करने के लिए बदल दिया जाता है, वे दुष्ट पापी एवं बुरे नहीं रह जाते हैं। अतः बौद्ध आलय एवं गर्भ की सहज एवं आन्तरिक भलाई पर अत्यधिक बल देते हैं।

अपने **श्रद्धोत्पादशास्त्र** (पृ. 75) में **अश्वघोष** कहते हैं, ''आलय में अविद्या प्रचलित होती है, और (इस प्रकार उत्पन्न) अविद्या से एक चीज प्रारंभ होती है जो देखती है, जो प्रतिनिधित्त्व करती है, जो एक वस्तुनिष्ठ संसार को समझती है, और जो लगातार ब्योरा देती है।'' यहाँ पर गर्भ का इसकी मानसिक अभिव्यक्ति में इसका विकास होता है; दूसरे शब्दों में, यहाँ आलयविज्ञान का विकास होता

है। जब गर्भ या आलय संसार के प्रभाव के अन्तर्गत आता है, यह अपनी आदिम अभिन्नता या समता को और अधिक बचाए नहीं रखता है, और वहाँ पर एक ऐसी चीज विद्यमान होती है जो विषयी एवं विषय को देखती है, अर्थात् मन एवं वस्तुनिष्ठ संसार को देखती है। अस्तित्त्व के इन दो स्वरूपों के तालमेल से हमारे नेत्रों के आगे ब्रह्माण्ड का पूरा चित्र आ जाता है, जो तेजी से और बिना शोर किए अपने न थकने वाले कदमों से चलता रहता है। संघटनात्मक संसार की इन निरन्तर गति-विधियों को दर्शाने के लिए बौद्धों की एक रोचक उपमा लहरों से तुलना करने की है, जो अगाध समुद्र में हमेशा ही उमड़ती हुई दिखाई देती हैं, जब कि समुद्र के जल की तुलना समता से की गई है, और लहरों को उद्वेलित करने वाली वायु की तुलना जन्म एवं-मृत्यु या अविद्या के सिद्धान्त से की गई है जो एक ही चीज है। हम इस प्रकार लंकावतारसूत्र में पढ़ते हैं:

"(चित्तरंग) समुद्र-तरंगों के समान
पागल समुद्र द्वारा उद्वेलित
कठोर चट्टानों से टकराती हैं
निर्बाध
इसी प्रकार आलय समुद्र में
वस्तुनिष्ठ वायु द्वारा उद्वेलित
सभी प्रकार की मन की तरंगें,
उफलती हुई नृत्य करती हैं।[1]

इस प्रकार पूर्ण दृष्टि में लाई गई सभी मानसिक गतिविधियों को चित्त से भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए। यह केवल हमारी समझ के स्वभाव में है कि हम लक्षणों को उनके अपने पदार्थों से पृथक् समझते हैं, पदार्थों की कल्पना लक्षणों की पकड़ एवं नियंत्रण के रूप में की जाती है। फिर, लक्षणों के बिना कोई पदार्थ नहीं है और उनसे पृथक् होकर कोई लक्षण भी नहीं है, जो उनको

---

1. यह शिक्षानन्द के चीनी संस्करण से अनूदित है; संस्कृत पाठ इस प्रकार है:
तरंगा हि उद्धेर्यद्वत् पवनप्रत्ययया ईरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विधीयते।।
आलयोस्तथा नित्यं विषयपवन ईरिताः।
चित्तैस्तरंगविज्ञानैर्नृत्यमानाः प्रवर्तते।।

बाँधता है। यह बौद्धधर्म के मौलिक विचारों में से एक है, स्वयं आत्मा की कल्पना, संवेदना बुद्धि जैसी विभिन्न अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त किसी भी आत्म-स्वयं पर विचार नहीं किया जाता है। चिन्तन की असंख्य तरंगे जो तथागतगर्भ की गहराई में उद्वेलित होती हैं, कोई विदेशी या बाह्य चीज नहीं है, परन्तु वे उसी सार की सभी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ है, वे उसके अन्तर्भूत भाग्य का कार्य कर रही हैं।

लंकावतारसूत्र आगे कहता है:
नील, रक्त, लवण क्षीर एवं शर्करा,
कड़वे फल एवं पुष्प जिस प्रकार सूर्य में किरणें,
उदधि की तरंगों न अपने से भिन्न एवं अभिन्न,
सात विज्ञान हैं चित्त से संयुत,
तरंगों की विचित्रता उदधि का परिणाम,
आलय चित्त विज्ञान नाम से प्रवृत्त,
चित्त मन विज्ञान लक्षणार्थ प्रवृत्त,
आठों के लक्षण अभिन्न न लक्ष्य न लक्षणम्,
उदधि की तरंगों की कोई विशेषता नहीं,
विज्ञानों का चित्त में परिणाम उपलब्ध नहीं,
चित्त से कर्म मन से विचयन,
दश्य को विज्ञान से जानना पाँच कल्पनाएँ,[1]

---

1. नीले रक्तेऽथ लवणे शंखे क्षीरे च शार्करे।
कषायैः फलपुष्पाद्यैः किरणा यथा भास्करे।।
न चान्ये न च नानन्येन तरंगा उदधेर्मता।।
विज्ञानानि तथा सप्त चित्तेन सह संयुता।।
उदधेः परिणामोऽसौ तरंगाणां विचित्रता।
आलयं हि तथा चित्रं विज्ञानाख्यं प्रवर्तते।
चित्रं मनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्प्यते।
अभिन्नलक्षणान्यष्टौ न च लक्ष्यं न लक्षणम्।।
उदधेश्च तरंगाणां यथा नास्ति विशेषणम्।
विज्ञानानां तथा चित्ते परिणामो न लभ्यते।।
चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विचीयते।
विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः।।

मनस्

आलयविज्ञान जैसा पिछले संदर्भों में कभी-कभी केवल इसे चित्त का नाम दिया गया है, इस रूप में तथता की एक स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; यह अपने आपको जन्म एवं मृत्यु के सिद्धान्त, अर्थात् अविद्या से प्रभावित होने की अनुज्ञा प्रदान करता है, जिसने वहाँ इसमें एक स्थान बना लिया है और फिर भी कोई ''जागृति'' या ''वृत्ति'' नहीं है जिससे एक चेतना की परिणति होती है। जब मनस् का विकास होता है, फिर इसके द्वारा मनन की गतिशीलता के चिह्न प्रकट होते हैं, क्योंकि महायानियों के अनुसार मनस् ब्रह्माण्ड में चेतना के उदय को सूचित करता है।

चित्त या आलय से चेतन को ग्रहण करता हुआ मनस् इस पर एवं एक बाह्य संसार पर भी चिन्तन करता है, और मेरे एवं दूसरे के भेद के बारे में सचेत हो जाता है। परन्तु क्योंकि यह मैं ही नहीं या बाह्य संसार कुछ भी नहीं है केवल स्वयं आलय का प्रकट होना है, मनस् को वास्तव में आत्म-चिन्तन करने वाला कहा जाना चाहिए, जब यह व्यक्ति एवं पदार्थ में भेद करता है। यदि आलय स्वयं अपने बारे में सचेत नहीं होता है, जैसे ही मनस् आत्म-बोधि की स्थिति को अनुभव करने लगता है। शायद आलय की तुलना एक अर्थ में काण्ट के ''पारमार्थिक आत्मबोध के अहंकार'' से की जा सकती है; जब कि मनस् आत्म-चेतना का वास्तविक केन्द्र है। परन्तु मनस् और आलय (या चित्त) इस अर्थ में दो भिन्न चीजें नहीं हैं कि एक दूसरे से निकलती हैं या कि एक दूसरे के द्वारा उत्पादित होती हैं। मनस् को चित के विकास में एक स्थिति या परिस्थिति के रूप में समझना बेहतर है।

अब मनस् न केवल विचारशील है, परन्तु इच्छा शक्ति के योग्य है। यह वैयक्तिकरण की स्थिति से चिपकने के लिए इच्छा को जागृत करता है, यह अहंकार भावावेश, एवं उसकी उत्पत्ति करता है: क्योंकि जन्म एवं पूर्वाग्रह को आश्रय देता है; यह संकल्प करता है एवं मृत्यु का सिद्धान्त अविद्या वहाँ अपनी पूरी शक्ति में विद्यमान रहता है, और तथता की संपूर्ण पहचान यहाँ से हमेशा के लिए बिदा की जाती है। अत: मनस् वास्तव में आलय के शाश्वत समुद्र में ठोस, विशिष्ट चेतना-तरंगों के प्रारंभ को द्योतित करता है। मन (चित्त), जो अब तक उदासीन एवं तटस्थ था, यहाँ एक पूर्ण चेतना को ग्रहण कर लेता है; अहंकार एवं अनहंकार में भेद करता है, दु:ख एवं सुख को अनुभव करता है, जो रुचिकर

है, उससे चिपकता है, और जो अरुचिकर है उससे दूर भागता है, मिथ्या या सच्चे निर्णयों के अनुसार गतिविधियों को प्रोत्साहित करता है, जो अनुभूत है, उसको स्मृति में रखता है, और इन सबका भण्डारण करता है— संक्षेप में, मनस् की जागृति से मनन के सभी प्रकार गतिशील हो जाते हैं।

अश्वघोष के अनुसार, **मनस्** के विकास के साथ पाँच महत्त्वपूर्ण मानसिक गतिविधियाँ उत्पन्न होती हैं जो मानव मन (चित्त) को लक्षित करती हैं। वे हैं: (1) गतिशीलता, कर्म को उत्पन्न करने का सामर्थ्य; (2) देखने की शक्ति; (3) उत्तर देने की शक्ति, (4) भेद करने की शक्ति; और (5) वैयक्तिकता। मनस् इन पाँच कार्यों के अभ्यास से अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि करने के योग्य बन जाता है, एक देखने वाला व्यक्ति बनने का सामर्थ्य ग्रहण करता है, बाह्य संसार की प्रेरणा को उत्तर देने के लिए, और जिसको यह पसन्द एवं नापसन्द करता है उन पर निर्णय करने का सामर्थ्य ग्रहण करता है और अन्तिम रूप से भूतकाल के अपने सभी "**कर्म-बीजों**" को बनाए रखने का सामर्थ्य ग्रहण करता है और वातावरण के अनुसार उनको भविष्य में परिपक्व बनाने के लिए सामर्थ्य ग्रहण करता है।

मनस् के आगमन से चित्त का विकास पूर्ण हो जाता है। व्यावहारिक रूप से यह मनन की समाप्ति है, क्योंकि आत्म-चेतना अब परिपक्व हो जाती है। संकल्प अपनी आत्म-परक एवं द्वैतवादी गतिविधियों को पुष्ट कर सकती है, और बुद्धि अपनी भेद करने वाली, तर्क वाली शक्ति एवं बिम्ब को सुरक्षित रखने वाली क्षमताओं का प्रयोग कर सकती है। **मनस्** अब मानसिक तालमेल का केन्द्र बन जाता है। यह छ: इन्द्रियों से संदेश ग्रहण करता है और संस्कारों पर बौद्धिक या संकल्पनात्मक निर्णय को घोषित करता है जिनकी उस समय इसको अपने संरक्षण के लिए आवश्यकता होती है। यह अपनी स्थिति पर भी विचार करता है और वहाँ पर आलय की उपस्थिति को देखकर गलत ढंग से इस निष्कर्ष पर कूद पड़ता है कि यहाँ पर वास्तविक अन्तिम अहंकार-आत्म विद्यमान है जिससे यह अपनी प्रामाणिकता, एकता एवं नित्यता को ग्रहण करता है।

जैसा स्पष्ट है, **मनस्** एक दुधारी तलवार है। अहंकार भाव की गलती से चिपक कर यह अपने आपको विनष्ट कर सकता है या अपनी तर्क क्षमता के विवेकपूर्ण प्रयोग से यह उन सभी गलत अवधारणाओं का विनाश कर सकता है जो अविद्या के सिद्धान्त की गलत व्याख्या से उत्पन्न होते हैं। अहंकार एवं आत्म

के दूसरे स्वरूप के द्वैतवाद से अभिभूत होकर मनस् अपने आपको विनष्ट कर देता है, पदार्थों को अन्तिम एवं अपरिवर्तनीय यथार्थ के रूप में मानकर भी यह अपना विनाश करता है, और इस प्रकार पूर्ण अहंकार केन्द्रित विचारों एवं इच्छाओं को संजोए रखने से एवं धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से अपने आपको अदम्य अहंकार का एक उत्सुक शिकार बनाकर भी अपना विनाश करता है। दूसरी ओर जब यह व्यक्तियों के पूर्ण यथार्थ के विचार में एक गलती को देखता है, जब यह मेरे एवं दूसरे के द्वैत में अविद्या के खेल को देखता है, जब यह तथागतत्व अर्थात् तथता के सार में जीवन के उद्देश्य को देखता है, जब यह अनुभव करता है कि आलय, जिसको अहंकार समझ लिया जाता है, ब्रह्माण्डीय गर्भ के एक अनभिज्ञ एवं निर्दोष प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह तुरन्त ही वैशिष्ट्य के क्षेत्र को अतिक्रान्त करता है और शाश्वत प्रज्ञा का एक अग्रदूत बन जाता है।

अतः बौद्ध लोग आलय के विकास में कोई गलती या बुराई नहीं देखते हैं। चेतना की जाग्रति में, व्यक्ति एवं पदार्थ के द्वैतवाद में, संसार की वैयक्तिकरण की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं है, जब तक हमारा मनस् मिथ्या अहंकार के सम्मिश्रण से अपने आपको दूर रखता है। जैसे ही मनस् के कार्यों के दुरुपयोग से आलय के विकास की प्रकृति को गलत ठंग से समझा जाता है,[1] तब सबसे भयंकर

1. यहाँ थोड़ा सा विषयान्तर। महायान की नैतिकता के बारे में बार-बार दृढ़ता से कहा गया है कि क्योंकि इसकी एक शून्यवादी प्रवृत्ति है, यह इसकी नैतिकता, संवेदना एवं मूल प्रवृत्ति के महत्त्व की उपेक्षा करके संन्यास की ओर मुड़ जाती है। यह सही है कि महायान वेदान्त के साथ पूरी तरह सहमत है जब वेदान्त यह घोषणा करता है, "यदि हन्ता सोचता है कि वह हत्या कर रहा है, यदि मरने वाला यह सोचता है कि वह मारा जाता है; वे नहीं समझते हैं, क्योंकि न कोई मारता है और न कोई मारा जाता है।" कठोपनिषद, II. 19) अक्रिया का यह विश्वास सापेक्षता के संसार के अस्तित्त्व को नकारता है, परन्तु वह एक कृत्रिम आलोचक होगा जो महायान दर्शन के इस पूर्ण पक्ष पर थोड़ा रुक जाएगा, और इसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार करने के लिए मना करेगा। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, बौद्ध लोग मनोविज्ञान के विकास की कल्पना ब्रह्माण्डीय चित्त के दोष के रूप में नहीं करते हैं, न ही वे यह सोचते हैं कि अविद्या का दावा बिल्कुल गलत है और यह एक नैतिक बुराई है। अतः महायान इन्द्रियों के संसार को यथार्थ के दावे को नकारता नहीं है, यद्यपि निःसन्देह सापेक्ष रूप में न कि पूर्ण रूप से।

फिर "**तत् त्वम्** असि" या "**मैं बुद्ध हूँ**" यह दावा, यद्यपि कुछ लोगों को दंभी

गलती अपनी पूरी बुराई एवं अतार्किकता के साथ हमारे चित्त के प्रत्येक अंश में व्याप्त हो जाती है।

यद्यपि महायान बहुत जोर देकर एक व्यक्तिगत अहंकार को नकारता है, जिसकी कल्पना शरीर में स्थित रूप में की गई है और यह इसका आध्यात्मिक स्वामी भी समझा गया है, आवश्यक रूप से इसका यह अर्थ नहीं है कि यह चेतना या व्यक्तित्त्व या वैयक्तिकता की एकता को भी नकारता है। वास्तव में बौद्धों की मनोविज्ञान की मान्यता निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध करती है कि एक अर्थ में उनके यहाँ अहंकार है जिसके सांसारिक अस्तित्त्व को नकारना हमारे दैनन्दिन अनुभवों के अत्यधिक ठोस तथ्यों को नकारने के बराबर है। जिसको वे लगातार दृढ़ रूप से नकारते हैं, वह अहंकार का अस्तित्त्व नहीं है, परन्तु वह आखिरी एवं अन्तिम यथार्थ है। परन्तु इस विषय को और अधिक संपूर्ण रूप से विचार करने के लिए ''आत्मा'' को समर्पित एक विशेष अध्याय नीचे दिया गया है।

दिखलाई दे सकता है, पूर्ण तादात्म्य के क्षेत्र में पूरी तरह तर्कसंगत है, जहाँ पर **तथता** का पवित्र प्रकाश ही केवल व्याप्त रहता है। परन्तु जब हम धरातल पर उतरते हैं और अपने व्यावहारिक एवं द्वैतमय जीवन के कोलाहल से मिश्रित होते हैं, तो इसकी सांसारिक सीमाओं से दु:खी हुए बिना नहीं रह सकते हैं। हमें भूख लगती है, हमें प्यास लगती है, हम अपने प्रिय जन के निधन पर दु:खी होते हैं, हम अपनी गलतियों पर अफसोस करते हैं। महायान उन मानव भावावेशों एवं भावनाओं की समाप्ति की शिक्षा नहीं देता है।

एक बार एक संन्यासी-दर्शनिक था, जिसके बारे में गाँव वाले यह सोचते थे कि उसने सभी प्राकृतिक इच्छाओं एवं आकांक्षाओं का पूरी तरह त्याग कर दिया है। वे लगभग उसकी पूजा करते थे और उनको अतिमानव समझते थे। एक दिन सर्दी के मौसम में प्रात: काल एक भक्त उसके पास आया और आदरपूर्वक उसके स्वास्थ्य के बारे में जानने लगा। उस ऋषि ने तुरन्त पद्य में उत्तर दिया :

''मैं संसार त्यागने वाला सच्चा संन्यासी हूँ,
फिर जमीन पर सफेद बर्फ पड़ी है,
मुझे ठंड लगती है मैं काँपने लगता हूँ।''

अनेक पवित्र-हृदय वाले, निर्दोष चित्तों वाले लोगों के द्वारा सँजोइ गई इस धार्मिक संन्यासी की इस मिथ्या भावना ने कुछ लोगों को घोर अन्धविश्वासों में डाल दिया है, जिसका शाप आज भी हम में विद्यमान है। शरीर के द्वारा की गई बुराइयों को किन्हीं भौतिक एवं वैज्ञानिक तरीकों से दूर किया जाना चाहिए।

सांख्य दर्शन एवं महायान

यदि हम सांख्य दर्शन एवं महायान की एक तुलना करें, तो महायान को पुरुष एवं प्रकृति का सम्मिश्रण समझा जाना चाहिए, और मनोविज्ञान की अहंकार सहित बुद्धि एवं महत् का सम्मिश्रण समझा जाना चाहिए। सांख्यकारिका (11) के अनुसार प्रकृति का आवश्यक स्वभाव सृष्टि करने की शक्ति है, या बौद्ध शब्दावली का प्रयोग करें तो, यह एक अन्धी गतिविधि है; जबकि पुरुष साक्षी बना रहता है और देखता रहता है (कारिका 19)। एक आधुनिक दार्शनिक कहेगा, पुरुष बुद्धि है, और प्रकृति इच्छा है, और जब वे एक साथ हो जाते हैं और एक में मिल जाते हैं तो वे हार्टमेन के (अवचेतन भावना) का निर्माण करते हैं। कुछ अर्थ में आलय अवचेतन से मिलता-जुलता है, क्योंकि यह प्रज्ञा के सिद्धान्त, तथता की अभिव्यक्ति है, अपनी विकासात्मक स्थिति में यह अविद्या से सोपाधिक रूप में है; और अविद्या प्रत्यक्ष रूप से अन्धी गतिविधि के रूप में इच्छा के समानान्तर है। सांख्य दर्शन एक स्वीकृत द्वैतवाद है और यह एक दूसरे से स्वतन्त्र दो सिद्धान्तों के अस्तित्त्व की अनुज्ञा प्रदान करता है। महायान मौलिक रूप से एकत्त्ववादी है, अविद्या को केवल तथता[1] के प्रकट होने के लिए एक आवश्यक परिस्थिति बनाता है। अतः सांख्य जिसे दो में विभक्त करता है, महायान उन दोनों को एक में स्थापित करता है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान, बुद्धि एवं अहंकार के बीच समानता है। बुद्धि अध्यवसाय (कारिका, 23) के रूप में परिभाषित की गई है, जो प्रत्यक्ष रूप में आत्म-चेतना ही है। जहाँ तक अध्यवसाय के सही अर्थ का संबंध है, वहाँ पर मत-वैभिन्य है: ''निश्चय'', ''निर्णय'', ''संकल्प'', ''संभावना''। परन्तु बुद्धि का आन्तरिक महत्त्व काफी स्पष्ट है, ज्ञान की जाग्रति, तार्किकता का उदय, अवचेतना की गहरी कन्दराओं में प्रकाश का जाना— बुद्धि इन सब को प्रदर्शित करती है; इसलिए टीकाकार, मति, ख्याति, ज्ञान, प्रज्ञा, आदि इसके पर्याय के रूप में प्रस्तुत करते हैं, इनमें अन्तिम दो भी जिनका अर्थ ज्ञान या बुद्धि है, महायान बौद्धधर्म के तकनीकी शब्द हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, ये वे अर्थ हैं जो

---

1. बौद्ध अविद्या सांख्य प्रकृति के समानान्तर है वह इस तथ्य से भी देखा जा सकता है कि कुछ सांख्य टीकाकार प्रकृति को शक्ति जैसे पर्याय प्रदान करते हैं, जो मुझे कर्म या संस्कार, तमस् एवं माया की याद दिलाता है और स्वयं अविद्या शब्द की भी याद दिलाता है।

बौद्ध लोग अपने मनोविज्ञान को प्रदान करते हैं, इसके अतिरिक्त कि मनोविज्ञान में मेरे एवं तेरे में भेद करने की क्षमता अधिक है, जब कि सांख्य में यह अहंकार के लिए सुरक्षित है। अतः यहाँ भी सांख्य के द्वैतवाद के स्थान पर बौद्धधर्म में एकता है।

दो महान धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं की तुलना करते समय एक और बिन्दु है जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए: सांख्य दर्शन आत्म (पुरुष कारिका, 18) को बहुलीकृत बनाता है, जबकि बौद्ध-दर्शन एक सार्वभौमिक **चित्त** या **आलय** की स्थापना करता है। अतः कपिल के अनुयायियों के अनुसार जितने व्यक्ति हैं उतनी ही आत्माएँ होनी चाहिएँ, और प्रत्येक व्यक्ति के मरने पर या जन्म लेने पर उसके समानान्तर एक आत्मा का गुजर जाना या आना मानना चाहिए, यद्यपि हम यह नहीं जानते कि यह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है। बौद्धधर्म आलय के अतिरिक्त दूसरी ओर, किसी भी वैयक्तिक चित्त को नकारता है, जो (आलय) सार्वभौमिक है। मनोविज्ञान की जागृति में वैयक्तिकता पहले प्रकट होती है। चित्त का सार **तथता** है और यह दिक् काल की सीमा या कारणता के नियमों के अधीन नहीं है। परन्तु जैसे ही यह अपने आपको **वैशिष्ट्य** के संसार में दृढ़ता से स्थापित करता है, उसके माध्यम से यह अपने आपको नकारता है, और विशिष्ट बनकर वैयक्तिक आत्माओं को जन्म देता है।[1]

1. **आलय** या **चित्त** की एकता का यह दृष्टिकोण कुछ महायानियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता है, विशेष रूप से जो **योगाचार** दर्शन को मानते हैं; परन्तु वर्तमान लेखक यहाँ एक और ज्यादा रुढ़िवादी एवं विशिष्ट और अतः अत्यधिक जाने पहचाने महायान के सिद्धान्त की व्याख्या करने का प्रयास कर रहा है, अर्थात् **अश्वघोष** का सिद्धान्त।

अध्याय 7

अनात्म या अनहंकार का सिद्धान्त

यदि मुझे महायान बौद्धधर्म के दर्शन के जमीनी-सिद्धान्तों और वास्तव में बौद्धधर्म के सभी संप्रदायों के जमीनी-सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के लिए प्रार्थना की जाए तो मैं निम्नलिखित बातें प्रस्तावित करूँगा:

(1) **सर्वं क्षणिकम्।**

(2) **सर्वं शून्यम्।**

(3) **सर्वं अनात्मम्।**

(4) **सर्वं तथातत्त्वम्।**

ये चार नियम आपस में इतने घनिष्ठ रूप से अन्त:सम्बन्धित हैं, चाहे वे स्थित रहें या गिर जाएँ, आवश्यक रूप से इन सबका भाग्य बिल्कुल एक ही है। बौद्धधर्म के विभिन्न संप्रदाय मामूली महत्त्व के बिन्दुओं पर जो भी पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण रखें, इन चार मुख्य स्थापनाओं पर वे सब भी एकमत हैं।

इन चार स्थापनाओं में से, पहली दूसरी और चौथी की ऊपर व्याख्या कर दी गई है, कमोबेश स्पष्ट रूप से। यदि सापेक्ष संसार का अस्तित्त्व अविद्या का कार्य है और इस रूप में इसका कोई अन्तिम यथार्थ नहीं है, इसको भ्रमात्मक एवं शून्य समझा जाना चाहिए; यद्यपि इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि इसके कारण हमारा जीवन रहने लायक नहीं है। संघटनात्मकता की सत्तामीमांसीय सहित अस्तित्त्व के नैतिक मूल्य को लेकर हमें उलझन में नहीं पड़ना चाहिए। यह हमारी पूरी व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्ति पर निर्भर करता है कि क्या हमारा संसार एवं जीवन महत्त्वपूर्ण बनते हैं या नहीं। जब वैयक्तिक अस्तित्त्वों की भ्रमात्मकता या संघटनात्मकता स्वीकार कर ली जाती है और हम इसके अनुसार प्रयोग करते हैं, अर्थात् ''जैसे इसका दुरुपयोग न करते हुए,'' हम अहंकारवाद

की गलती एवं शाप से बच जाते हैं, और हम पदार्थों को उसी रूप में ग्रहण करते हैं जिस प्रकार तथता के धर्म को प्रतिबिम्बित करते हुए हमें प्रस्तुत की जाती हैं। हम वैशिष्ट्य के स्वरूपों को कुछ अन्तिम एवं पूर्ण रूप से यथार्थ मानकर उनसे और अधिक नहीं चिपकते हैं, उस रूप में जिसमें हमारे जीवन का सार निहित है। हम उनको उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार वे हैं, और हम उनकी वास्तविकता को केवल उतना ही पहचानते हैं जितना कि उनको तथता की आंशिक अनुभूति समझा जाता है, और हम आगे नहीं जाते हैं। वास्तव में तथता उनके पीछे छिपी नहीं है, परन्तु उनमें अन्तर्निहित रूप में स्थित है। चीजें शून्य एवं भ्रामक हैं जहाँ तक वे विशिष्ट चीजें हैं और उन पर तथता एवं यथार्थ के संदर्भ में विचार नहीं किया जाता है।

तार्किक रूप से इसका यह अर्थ निकलता है कि सापेक्षता के इस संसार में सब कुछ क्षणिक है, कुछ भी नित्य नहीं है, जहाँ तक अकेले विशिष्ट अस्तित्वों का संबंध है। ऊपर बलताए गए कथन से स्वतन्त्र रूप से भी सार्वभौमिक अनित्यता का सिद्धान्त सर्वत्र एक स्वतः प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य है, और इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी विशेष प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक चेतना के विकास की अवस्थाओं में अमृतत्त्व की इच्छा इतनी विचित्र एवं दृढ़ होती है कि स्वयं इच्छा को सभी धार्मिक परम्पराओं का सार समझा गया है— यह इसका निर्णायक सबूत है कि इस पृथिवी पर पदार्थ होने के कारण निरन्तर परिवर्तन में रहती है, और हमारे वैयक्तिक जीवन में कुछ भी नित्य या स्थिर नहीं है; यदि इसके विपरीत होता तो लोग कभी भी अमृतत्त्व के पीछे नहीं भागते।

यदि इसे हमारे दैनन्दिन अनुभव के तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाए, हम स्वाभाविक रूप से पूछते हैं: ''पदार्थ इतने परिवर्तनशील क्यों हैं? जीवन इतना क्षणिक क्यों है? वह क्या है जो पदार्थों को परिवर्तनशील एवं अनित्य बनाता है?'' इसके लिए बौद्ध उत्तर है : क्योंकि ब्रह्माण्ड बहुत सी प्रभावशाली शक्तियों का परिणामी उत्पाद है जो विभिन्न कर्मों के अनुसार कार्य कर रही है—उन शक्तियों का भाग्य यह है कि कोई एक शक्ति या शक्तियों का एक समूह लगातार दूसरी शक्तियों के ऊपर श्रेष्ठ नहीं हो सकता है, परन्तु जब एक शक्ति अपने में अन्तर्निहित कर्म को समाप्त कर देती है, दूसरी शक्ति इसका स्थान ले लेती है जो इस बीच धीरे-धीरे आगे आ रही होती है। अतः जन्म एवं

मृत्यु का बसन्त एवं पतझड़ का, ज्वारभाटे एवं इसके उतार का, समन्वय एवं विखराव का आरोह-अवरोह है। जहाँ आकर्षण है, वहाँ विकर्षण भी है, जहाँ पर केन्द्राभिमुखी शक्ति है, वहाँ पर अपकेन्द्रीशक्ति भी है। क्योंकि यह कर्म का नियम है कि जन्म के तुरन्त आने वाले क्षण में ही जीवन की गर्दन के गले में मृत्यु की बाहें आ जाती हैं। ब्रह्माण्ड कुछ नहीं है अपितु कुछ शक्तियों की लयात्मक अभिव्यक्ति है जो अपने पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार काम कर रही है; या, बौद्ध शब्दावली का प्रयोग करें तो, हेतु एवं प्रत्यय कर्मों से नियमित होकर एक श्रृंखला का निर्माण करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो या पदार्थो की एक कोई निश्चित स्थित होती जिसमें पूर्ण सन्तुलन कायम रहता या पदार्थों का एक निर्वचनीय भ्रम होता जिसका कोई ज्ञान या अनुभव संभव हो पाता। पहली स्थिति में, हमारे पास सार्वभौमिक निष्क्रियता एवं शाश्वत मृत्यु होगी; बाद वाले संदर्भ में कोई ब्रह्माण्ड नहीं होगा, कोई जीवन नहीं होगा, कुछ नहीं परन्तु एक पूर्ण अव्यवथा होगी। अतः जब तक हमारे सामने संसार है, जिसमें वैशिष्ट्य की सभी संभव विभिन्नताएँ अभिव्यक्त होती हैं, सुख-दुःख की एक सतत् स्थिति के अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं हो सकता है, अतः सार्वभौमिक अनित्यता की स्थिति है।

अब अनहंकार के सिद्धान्त के लिए यह बौद्ध तर्क है: यदि वैयक्तिक जीवन विरोधी शक्तियों के बीच के संबंधों के कारण हैं, जो कभी-कभी एकरूपता में होते हैं और कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी होते हैं जो अपने कर्म से पूर्व निर्धारित होते हैं, उनके पीछे किसी भी पारमार्थिक शक्ति के होने की बात नहीं की जा सकती है, जो एक नित्य एकता और एक पूर्ण तानाशाह ही होता है। दूसरे शब्दों में, हमारी मानसिक गतिविधियों के पीछे कोई आत्म नहीं है, कहने का तात्पर्य है कि अस्तित्त्व के विशिष्ट स्वरूप के पीछे कोई स्वभाव नहीं है। यह बौद्धों का अनात्म का सिद्धान्त कहलाता है।

आत्मन्

बौद्ध ''आत्मन्'' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं: पहला, व्यक्तिगत अहंकार[1] के रूप में, और दूसरे, स्वलक्षण के अर्थ में, शायद इसके सामान्यतः

1. पुद्गल या पुद्गलसंज्ञा महायानियों द्वारा कभी-कभी आत्मन् के पर्याय के रूप में प्रयुक्त की जाती है। अहंकार-आधारित अर्थ में बौद्ध आत्मन् को वेदान्त के जीवात्मन् के समानान्तर समझा जाना चाहिए, जो परमात्मन्, सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति या ब्रह्मा के विरोध में प्रयुक्त होता है।

स्वीकृत अर्थ में थोड़े से परिवर्तन के साथ। हमें इसका प्रयोग पहले अर्थ में भूतात्मन् के समानान्तर रूप में करना चाहिए, क्योंकि हम पहले अनहंकार के सिद्धान्त को समझ रहे हैं, और बाद में अस्वभाव को।

आत्मन् का सामान्यत: अनुवाद "जीवन,' ,"अहंकार" या "आत्मा"[1] के रूप में किया जाता है, और यह दोनों वेदान्त एवं बौद्ध दार्शनिकों द्वारा एक तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु प्रारंभ में ही हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे इस शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं करते हैं। जब वेदान्त दर्शन आत्मन् की हमारे अत्यधिक आत्म के रूप में बात करता है, जो सार्वभौमिक ब्रह्म के समानान्तर है, इसका प्रयोग अत्यधिक गूढ़ सत्तामीमांसीय अर्थ में किया जाता है और किसी भी आत्मा से इसका तात्पर्य नहीं है, क्योंकि सत्तामीमांसीय अर्थ सामान्यत: गँवारु मनों द्वारा समझा जाता है। दूसरी ओर बौद्ध आत्मन् से यह गँवारु भूतात्मन् का भौतिक विचार समझते हैं और इस प्रकार सकारात्मक ढंग से इसके अस्तित्त्व को नकारते हैं।

सुविधा की दृष्टि से यदि हम अपने अहंकार या आत्म के संघटनात्मक एवं तात्त्विक के बीच में भेद करते हैं, बौद्धधर्म का आत्मन् एक संघटनात्मक अहंकार है, अर्थात् एक ठोस कर्ता जो कार्य करने, सोचने एवं अनुभव करने का काम करता है, जब कि वेदान्तियों का आत्मन् हमारे मानसिक जीवन के उद्देश्य के रूप में तात्त्विक अहंकार है। एक वास्तव में भौतिक फिर भी इसे वायवीय

---

1. महायानी बौद्ध सामान्यत: आत्मन् के आवश्यक चरित्र को मुक्ति के अर्थ में समझते हैं, और मुक्ति से उनका तात्पर्य शाश्वतता, परम एकता, एवं सर्वोच्च सत्ता से है। एक व्यक्ति जो अनित्य है, मुक्त नहीं है, और यह दूसरे व्यक्तियों से सोपाधिक है, और अत: इसमें आत्मन् नहीं है। एक व्यक्ति, जो प्रारंभिक पदार्थ का या ऊर्जा के स्वरूपों का स्कन्ध है, परम नहीं है, क्योंकि यह पारस्परिक संबंधों की स्थिति है, और अत: इसमें आत्मन् नहीं है। फिर, एक व्यक्ति, जिसके पास अपने ऊपर एवं दूसरों के ऊपर प्रामाणिक अधिकार नहीं है, मुक्त नहीं है, क्योंकि यह अपने अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति के अधीन रहता है और अत: इसमें आत्मन् नहीं है। अब किसी भी चीज को लें जिसे हम वैशिष्ट्य के संसार में पाते हैं; इसमें इन तीनों में से एक या तीनों चीज नहीं हैं: अनित्यता, संमिश्रणता, और असहायपन या आश्रयता। अत: मानव व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी ठोस वैयक्तिक जीवन में आत्मन् नहीं है, अहंकार नहीं है, वह नित्य, परम एवं सर्वोच्च है।

समझा जा सकता है। दूसरा मानव के तर्कमूलक ज्ञान की पकड़ को अतिक्रान्त करने वाला अत्यधिक तात्त्विक विचार है। बाद वाले का तादात्म्य परमात्मन् से पहले के जीवात्मन् से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। परमात्मन् एक सार्वभौमिक आत्मा है, वेदान्त के अनुसार जिससे संघटना का संसार उद्भूत होता है, और कुछ अर्थ में इसको बौद्धधर्म के तथागतगर्भ के समानान्तर कहा जा सकता है। जीवात्मन् अहंकार-आत्म है जिसकी अज्ञानी लोगों द्वारा एक स्वतन्त्र ईकाई के रूप में कल्पना की जाती है जो हमारी सभी मानसिक गतिविधियों को निर्देशित करती है। यह वह बाद वाली आत्मा है जिसको बुद्ध द्वारा शून्य समझा गया था, जब यह घोषणा करते हुए वह अपनी लम्बी समाधि के बाद उठ खड़े हुए थे:

> ''मै बिना रुके अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा।
> (इस कायारूपी) गृह[1] को बनाने वाली (तृष्णा) को खोजते
> बार-बार दुःख-भय जन्म में पड़ता रहा
> हे गृहकारक (तृष्णा) मैने तुझे देख लिया
> फिर तू घर नहीं बना सकेगी।
> तेरी सभी कड़ियाँ मग्न हो गईं, गृह शिखर गिर गया,
> चित्त संस्काररहित हो गया।
> अर्हत्त्व (निर्वाण प्राप्त हो गया)।[2]

बुद्ध की जाँच-पड़ताल की पहली पद्धति

बौद्धधर्म अहंकार-आत्म के गँवारू भौतिक विचार में सभी बुराइयों एवं दुःखों का स्रोत खोजता है, और अहंकार-केन्द्रित विचारों एवं इच्छाओं के विनाश के ऊपर अपनी सारी नैतिक शक्ति केन्द्रित करता है। अपने घुमन्तु जीवन के

---

1. गृह-कारक अहंकार-आत्मा के लिए आलंकारिक शब्द है। प्रचलित गलती का अनुसरण करते हुए बुद्ध ने पहले अहंकार के लिए एक सच्चा प्रयास किया, जो हमारे मानसिक अनुभवों के पीछे आराम से बैठा हुआ समझा जाता था, और इसका परिणाम यह उक्ति थी।

2. धम्मपद 153-154

प्रारंभ से ही बुद्ध ने, ऐसा लगता है, इस विचार की कल्पना की थी कि मुक्ति का मार्ग किसी प्रकार से अहंकारवादी पूर्वाग्रहों के निराकरण में विद्यमान रहना चाहिए, क्योंकि जब तक हम इसके शाप से मुक्त नहीं हो जाते हैं, हम इन तीन जहरीले भावावेशों के शिकार बनने वाले हैं: लालच, मोह, और क्रोध, और हम जन्म एवं मृत्यु की वेदना, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दुःख को झेलने के लिए हैं। इस प्रकार जब उन्होंने सांख्य दार्शनिक अराड़ से अपनी पहली शिक्षा ग्रहण की, वे संतुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने इसकी शिक्षा नहीं दी कि इस स्वयं अहंकार-आत्म का परित्याग कैसे किया जाए। बुद्ध ने वाद-विवाद किया, ''मैं समझता हूँ कि शरीरस्थ अहंकार-आत्म, यद्यपि विकासीय विकासज[1] से मुक्त है, अभी भी जन्म की स्थिति के पराधीन है और इसमें बीज की स्थिति विद्यमान है। बीज निष्क्रिय बना रह सकता है जब तक यह अनुप्राणित होने की आवश्यक परिस्थितयों के संपर्क में आने से वंचित रहता है, परन्तु क्योंकि इसकी अंकुरित होने की शक्ति अभी विनष्ट नहीं हुई है, यह निश्चित रूप से अपनी सभी क्षमताओं का विकास करेगी, जैसे ही यह आवश्यक संपर्क में आता है। यद्यपि अहंकार-आत्म उलझन से मुक्त (प्रकृति के बन्धन से मुक्त) घोषित की जाती है, फिर भी जब तक अहंकार-आत्म विद्यमान रहती है, इसका कोई पूर्ण परित्याग नहीं हो सकता है, अहंकार का कोई वास्तविक परित्याग नहीं हो सकता है।[2]

बुद्ध उस मार्ग को बतलाने के लिए आगे बढ़ते हैं जिसके माध्यम से वे अपने अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे थे, वे घोषणा करते है: ''गुणों एवं उनके विषयों का कोई वास्तविक पार्थक्य नहीं है; क्योंकि अग्नि की कल्पना इसकी गर्मी एवं स्वरूप के बिना नहीं की जा सकती है।'' जब इस विवाद को तार्किक ढंग से आगे बढ़ाया जाता है, यह कहीं भी नहीं ले जाता है, परन्तु बौद्धों के अनात्म के सिद्धान्त की ओर अग्रसर होता है, जो यह कहता है, ''संवेदन, दर्शन, कल्पना, बुद्धि, संकल्प के अतिरिक्त एक अहंकार-आत्म के अस्तित्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, और अतः यह सोचना बेतुका है कि एक स्वतन्त्र वैयक्तिक आत्म-कर्ता विद्यमान है जो हमारी चेतना को अपनी कार्यशाला बनाता है।

1. प्रकृति विकृतयः यह सांख्यदर्शन का एक तकनीकी शब्द है और प्रकृति का स्वरूप इसका तात्पर्य है, वे जैसे इससे विकसित होते हैं और इस प्रकार आगे विकसित होते जाते हैं। देखिए सतीश चन्द्र बैनर्जी, सांख्य-दर्शन पृ. XXXII

2. यहाँ उद्धृत संदर्भ और अगले संदर्भ अश्वघोष के बुद्धचरित से लिए गए हैं।

यह कल्पना करना कि एक पदार्थ को इसके गुणों से पृथक् किया जा सकता है, न केवल तार्किक ढंग से परन्तु वास्तव में इसमें कोई एक अज्ञात विषय है, जिसमें इस प्रकार के लक्षण विद्यमान हैं जिसके माध्यम से यह अपने आपको हमारी इन्द्रियों द्वारा दर्शनीय बनाता है, बौद्धधर्म यह कहता है, यह गलत है और तर्कसंगत नहीं है। अग्नि की कल्पना इसके स्वरूप एवं गर्मी के बिना नहीं की जा सकती है; लहरों की कल्पना जल एवं संक्षोभ के बिना नहीं की जा सकती है; चक्र अपनी नेमि, अरे एवं धुरी के बाहर विद्यमान नहीं रह सकता है। इस प्रकार सभी चीजें हेतु एवं प्रत्ययों गुणों एवं लक्षणों से निर्मित होती हैं, और हमारे पुद्‌गल या आत्मा या अहंकार के लिए पदार्थों की इस सार्वभौमिक स्थिति में एक अपवाद बना रहना असंभव है।

इस संदर्भ में चीनी बौद्धधर्म के इतिहास में एक रोचक घटना को मुझे वर्णन करने दीजिए। अपने बदलाव से पहले चीन में ध्यान संप्रदाय का दूसरा आचार्य हुई के इस आत्म-समस्या से परेशान था। वह पहले कन्फुशीयस संप्रदाय में दीक्षित था परन्तु कन्फुशीयस संप्रदाय उसकी आध्यात्मिक इच्छाओं को संतुष्ट नहीं कर सका। उसकी आत्मा अज्ञेयवाद एवं संदेहवाद के बीच डाँवाँडोल होती रही, और परिणामस्वरूप उसने अपने आन्तरिक हृदय में एक अनिर्वचनीय क्रोध का अनुभव किया। जब उसको उसके देश में बोधिधर्म के आने का पता चला, वह उसके विहार में गया और उसको कुछ धार्मिक सलाह देने के लिए प्रार्थना की। परन्तु बोधिधर्म ने एक भी शब्द नहीं बोला, और प्रत्यक्ष रूप से अपनी गंभीर समाधि में डूबे रहे। फिर भी, हुई के सभी मुसीबतों में उससे कुछ धार्मिक शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए कृतसंकल्प थे। इसलिए यह कहा जाता है कि वे उसी स्थान पर सात दिन एवं सात रात्रियों तक खड़े रहे, अन्त में जब उसने अपनी तलवार से अपनी बाँई भुजा काट डाली और यह कह कर उसे बोधिधर्म के सामने रख दिया: "धर्म में शिक्षित होने के लिए मेरी इच्छा की यह मेरी भुजा एक सच्चा चिह्न है। मेरी आत्मा परेशान है, और क्रोधित है, कृपया मुझे इसे शान्त करने का रास्ता सुझाइए।" बोधिधर्म अपनी समाधिस्थ अवस्था से शान्त भाव से उठे और बोले, "आपकी आत्मा कहाँ है? इसे यहाँ लाइए और मैं उसे शान्त कर दूँगा।" हुई के ने जवाब दिया, "इन वर्षो में मैं इसे खोजता रहा हूँ, परन्तु मैं इसे प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ हूँ।" बौधिधर्म ने तब घोषणा की, "मैंने आपकी आत्मा को शान्त कर दिया है" ऐसा कहा जाता है, इस पर

आध्यात्मिक प्रज्ञा का एक कौंध हुई के मन से निकली, और उसकी ''आत्मा'' हमेशा के लिए शान्त हो गई।

स्कन्ध

पूर्व कर्मों के अनुसार जब पाँच स्कन्ध एकत्रित होते हैं, और एक चेतन प्राणों के रूप में एक अस्थायी अस्तित्त्व प्रस्तुत करते हैं, गँवारु मन कल्पना करते हैं कि उनके पास यहाँ एक अनैतिक अहंकार-आधारित से अनुप्राणित एक वैयक्तिक ईकाई आ जाती है। वास्तव में, केवल रूपकाय ही अहंकार-आत्म का निर्माण नहीं करती है, न वेदना, न संस्कार न विज्ञान और न ही संज्ञा एक अहंकार-आत्म का निर्माण करते हैं, परन्तु केवल जब वे एक निश्चित स्वरूप में एकत्रित होते हैं, वे एक चेतन प्राणी का निर्माण करते हैं। फिर भी यह संमिश्रण एक निश्चि स्वतन्त्र ईकाई का काम नहीं है, जो, अपनी इच्छा के अनुसार, पाँच स्कन्धों को एक रूप में एकत्रित करता है और फिर उसमें अपने आपको छिपा लेता है। बौद्धधर्म यह घोषणा करता है, उनके कर्म के अनुसार घटक तत्त्वों का संमिश्रण उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है। जब हाईड्रोजन एवं ओक्सिजन के अणुओं की एक निश्चित संख्या एकत्रित होती है, वे अपने आप एक दूसरे को आकर्षित करते हैं या उनके कर्म के अनुसार एक दूसरे को आकर्षित करते हैं, और परिणाम जल होता है। कहना चाहिए कि जल के अहंकार ने दो तत्त्वों को लाने का संकल्प नहीं किया और इसमें से किसी एक ने भी अपने आपको निर्मित करने का संकल्प नहीं किया। एक चेतन प्राणी के साथ भी ऐसा ही होता है, और पाँच स्कन्धों के संमिश्रण के पीछे एक काल्पनिक अहंकार राक्षस की आवश्यकता नहीं होती है।

चीनी भाष्यकारों के अनुसार स्कन्ध (पालि में खन्द) इसलिए कहलाता है, क्योंकि हमारा वैयक्तिक जीवन व्यक्ति के पाँच घटक तत्त्वों का स्कन्ध है, क्योंकि यह एक निश्चित वैयक्तिक स्वरूप ग्रहण करता है, जब अपने पूर्व कर्म के अनुसार स्कन्ध एकत्रित हाते हैं। पाँच स्कन्धों में सबसे पहला स्कन्ध रूप है, जिसका आवश्यक गुण इसका विरोध सकझा जाता है। हमारे जीवन का भौतिक भाग इन्द्रिय कहलाता है : आँख, कान, नाक, जिह्वा, एवं शरीर। दूसरा स्कन्ध वेदना कहलाता है, जो छः विज्ञानों के विषयों के संपर्क से पैदा होता है। तीसरा स्कन्ध संज्ञा कहलाता है जो हमारे विचार के समानान्तर है। यह एक मानसिक

शक्ति है जिसके द्वारा हम विशिष्ट पदार्थों का मूर्त बिम्ब को बनाने में योग्य होते हैं। चौथा **स्कन्ध संस्कार** है जिसे गति या कार्य कहा जा सकता है। पूर्व ग्रहण किए संस्कारों के लिए उत्तरदायी हमारी बौद्धिक चेतना, वे (संस्कार) चाहे सुखद हों या दुखद उनके अनुसार काम करती है; और आगे आने वाली पीढ़ियों में ये कार्य अपना फल देते हैं।

व्यक्ति का चौथा घटक **संस्कार** दो कोटियों का होता है: **चैत्त** और **चित्तविप्रयुक्त**। **चैत्त** आगे छः भागों में विभाजित है: **महाभूमि**, **कुशल**, **क्लेश**, **अकुशल**, **उपक्लेश** और **अनित्य**। यह बतलाना रुचिकार हो सकता है ये सभी **संस्कार** क्या हैं, क्योंकि ये बौद्धधर्म की व्यावहारिक नैतिकता पर प्रकाश डालते हैं।

मानसिक गतिविधियों की कोटि से संबंधित दस मौलिक संस्कार हैं : 1. **चेतना** 2. **स्पर्श**, 3. **छन्द**, 4. **मति**, 5. **स्मृति** 6. **मनस्कार**, 7. **अधिमोक्ष**, 8. **समाधि** दस कुशल संस्कार हैं। : 1. **श्रद्धा**, 2. **वीर्य**, 3. **उपेक्षा**, 4. **ह्री**, 5. **अपत्रपा**, 6. **अलोभ**, 7. **अद्वेष**, 8. **अहिंसा**, 9. **प्रश्रब्धि**, 10. **अप्रमाद**।

छः उपक्लेश संस्कार निम्नलिखित हैं : 1. **मोह**, 2. **प्रमाद**, 3. **कौसिद्य**, 4. **अश्राद्ध्य**, 5. **स्त्यान**, 6. **औद्धत्य**।

दो छोटे **अकुशल** संस्कार हैं : 1. **अह्रीकता**, विनम्र न होने की स्थिति, या अहंकार या आत्म दृढ़ता और 2. **अनपत्रता**, शर्मनाक होना, या बिना अन्तः के होना।

दस छोटे **उपक्लेश संस्कार** हैं: 1. **क्रोध**, 2. **म्रक्ष**, 3. **मात्सर्य**, 4. **ईर्ष्या**, 5. **प्रदाश**, 6. **विहिंसा**, 7. **उपनाह**, 8. **माया**, 9. **शध्य**, 10. **मद**।

आठ अनिश्चित संस्कार हैं 1. **कौकृत्य**, 2. **मिद्ध** 3. **वितर्क**, 4. **विचार**, 5. **राग**, 6. **प्रतिघ**, 7. **मान**, 8. **विचिकित्सा**।

संस्कारों की दूसरी बड़ी कोटि, जो मानसिक संस्कारों के अन्तर्गत, सम्मिलित नहीं है, चौदह शब्दों की है जो निम्न प्रकार है : 1. **प्राप्ति**, 2. **अप्राप्ति**, 3. **सभागता**, 4. **असंज्ञिका**, 5. असंज्ञिसमापत्ति, 6. **निरोधसमापत्ति**, 7. **जीवित**, 8. **जाति**, 9. **स्थिति**, 10. **जरा**, 11. **अनित्यता**, 12. **नामकाय**, 13. **पदकाय**, 14. **व्यञ्जनकाय**।

अब हम मुख्य समस्या की ओर मुड़ते हैं। पांचवाँ **स्कन्ध विज्ञान** कहलाता

है। विज्ञान बुद्धि या मानसिकता है, यह भेद करनेवाली मानसिक शक्ति है, और अनेक संदर्भो में इसे इन्द्रिय के रूप में अनूदित किया जा सकता है। हीनयानियों के अनुसार विज्ञान या इन्द्रियाँ छः हैं: चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान; महायान के अनुसार आठ विज्ञान है : मनोविज्ञान एवं आलयविज्ञान, जो ऊपर वाले छः विज्ञानों में जोड़ दिए जाते हैं महायान दर्शन की यह मानसिक स्थिति मुख्यतया योगाचार संप्रदाय द्वारा चलाई जाती है, जिसके अग्रणी विचारक असंग एवं बसुबन्ध हैं।

राजा मिलिन्द एवं नागसेन

उत्तरी एवं दक्षिणी बौद्ध साहित्य अनहंकार के सिद्धान्त की व्याख्याओं से भरपूर हैं, और यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार-शिलाओं में से एक है जिसके ऊपर बौद्धधर्म का शानदार मन्दिर निर्मित है। राजा मिलिन्द एवं नागसेन के बीच का संवाद[1] अनेक संवादों में से अनेक कारणों से बहुत ही रोचक है और विचारोत्तेजक विचारों से भरपूर है, और उनके इस संवाद से उत्पन्न अहंकार की समस्या से संबंधित निम्नलिखित विवाद हमारे पास विद्यमान है।

अपनी पहली ही भेंट में राजा मिलिन्द नागसेन से पूछते हैं,

"आदरणीय आप कैसे जाने जाते हैं, और आपका नाम क्या है"? इस पर दार्शनिक उत्तर देता है, "मैं नागसेन के नाम से जाना जाता हूँ, और इसी नाम से ही मेरे संघ के साथी मुझे संबोधित करते हैं। परन्तु यद्यपि मेरे माता-पिता नागसेन या सुरसेन वीरसेन या सिंहसेन जैसा नाम रखते हैं, फिर यह नाम नागसेन, आदि-केवल सामान्यतया से समझा जाने वाला शब्द है, सामान्य प्रयोग के लिए एक अभिधान है। क्योंकि इस विषय में कोई भी नित्य आत्मा प्रवृत्त नहीं है।"

इस उत्तर पर बहुत आश्चर्यचकित होकर राजा ने नागसेन के ऊपर प्रश्नों की एक श्रृंखला की बौछार निम्न ढंग से कर दी :

"यदि इस विषय में कोई स्थायी आत्मा प्रवृत्त नहीं है, भगवान्, यह कौन है, आपके संघ के सदस्यों को भोजन एवं रहने का स्थान, और बीमार लोगों के लिए आवश्यक सामान कौन देता है? वह व्यक्ति कौन है जो इन दी गई वस्तुओं का उपभोग करता है? वह कौन है जो सदाचार का जीवन व्यतीत करता है? वह कौन है जो अपने आपको ध्यान को समर्पित करता है? वह कौन है जो सर्वोत्तम

1. दि क्वश्चन्स ऑफ किंग मिलिन्द, सेक्रिड बुकस् ऑफ दि ईस्ट वा. XXXV

मार्ग के उद्देश्य अर्हत के निर्वाण को प्राप्त करता है? और वह कौन है जो जीवित प्राणियों का विनाश करता है? वह कौन है जो उसको ले लेता है जो उससे संबंधित नहीं है? वह कौन है जो सांसारिक लोभ के बुरे जीवन को जीता है, जो असत्य भाषण करता है, जो खराब शराब पीता है, जो पाँच पापों में से एक पाप को करता है, जो उसके इस ही जीवन में उसे बुरे फल देते हैं? यदि ऐसा है, तो न पुण्य है और न ही अपुण्य है, न कर्ता है और न ही अच्छे या बुरे कर्मों का कारण है; न ही फल है और न ही अच्छे या बुरे कर्मों का परिणाम है। यदि हम यह सोचें कि आपको मारने के लिए एक व्यक्ति होता, तो इससे कोई हत्या नहीं होती है तब इसका अर्थ यह है कि आपके संघ में कोई वास्तविक अध्यापक या प्राचार्य नहीं हैं, आपके नियम शून्य हैं। तुम मुझे बलताओ कि आपके संघ में आपके साथियों को आपको नागसेन कहने की आदत क्यों हैं। अब यह नागसेन कौन है? क्या आप यह कहना चाहते है कि आपके बाल नागसेन हैं?''

उस बौद्ध भिक्षु के इस अन्तिम प्रश्न को नकारने के बाद राजा पूछते हैं: ''या नाखून, त्वचा, मांस, नाड़ियाँ, हड्डियाँ, मज्जा, गुर्दे, हृदय, जिगर, पेट, तिल्ली, फेफड़े, बड़ी आँते, छोटी आँतें, मल, पित्त, बलगम, पस, रक्त, पसीना, चर्बी आँसू, वीर्य, लार, श्लेष्मा, वह तेल जो जोड़ों को चिकना करता है, मूत्र या दिमाग या ये सभी या इनमें कोई एक नागसेन है?''

''क्या यह भौतिक रूप नागसेन है या वेदना, या विचार, या कार्य या चेतना नागसेन है?''

राजा ने इन सभी प्रश्नों के उत्तर में एक जैसा ही नकारात्मक उत्तर सुनकर जोश में आकर घोषणा की, ''तब इस प्रकार मैं आपसे कहता हूँ, मैं किसी भी नागसेन को नहीं खोज सकता हूँ। नागसेन केवल एक खाली ध्वनि है। तब वह कौन नागसेन है जिसे हम अपने सामने देखते हैं?[1] यह एक धोखा है जो आदरणीय आपने दिया है, एक असत्य है?''

1. जैसा अन्यत्र उद्धृत किया गया है, ध्यान संप्रदाय के बोधिधर्म से जब इसी प्रकार प्रश्न किया गया था, तो उन्होंने उत्तर दिया, ''मैं नहीं जानता हूँ।''

   वाल्ट व्हिटमेन निम्नलिखित पंक्तियों में वही भावना व्यक्त करते हैं:

   ''अपने हाथों से घास को मेरे पास लाते हुए एक बच्चे ने कहा, घास क्या है?

   मैं बच्चे को कैसे उत्तर दे सकता था? उससे ज्यादा मैं नहीं जानता हूँ कि यह क्या है।

नागसेन कोई सीधा उत्तर नहीं देत हैं, परन्तु राजा को कुछ प्रतिप्रश्न चुप-चाप प्रस्तुत करते हैं। यह निश्चित करते हुए कि वे बौद्ध दार्शनिक के पास एक रथ में आए थे, वे पूछते हैं, "क्या चक्र या ढाँचा या रस्सियाँ या पहियों के अरे या अंकुश रथ हैं।"

इस पर राजा कहते हैं, "नहीं" और वे आगे कहते हैं; "इन्हीं सब चीजों के कारण यह सामान्यतया समझे गए शब्द की कोटि में आता है अर्थात् 'रथ' के सामान्य प्रयोग के निर्देश में।"

"बहुत अच्छा," नागसेन कहते हैं, "आपने 'रथ' के अर्थ को ठीक प्रकार से समझ लिया है। ठीक इसी प्रकार से इन्हीं सब पदार्थों के कारण आपने मानव शरीर के अन्दर बत्तीस प्रकार के अवयवी पदार्थों के बारे में और पाँच स्कन्धों के बारे में प्रश्न किया, मैं, सामान्यतया समझे गए शब्द के अन्तर्गत आता हूँ, अर्थात् 'नागसेन' के सामान्य प्रयोग के निर्देश में।"

तब भिक्षु पुष्टीकरण के लिए संयुक्त निकाय से एक संदर्भ उद्धृत करता है : "विभिन्न भागों के सह-अस्तित्त्व की पूर्ववर्ती स्थिति के कारण ही 'रथ' शब्द का प्रयोग होता है, ठीक वैसे ही जब स्कन्ध वहाँ होते हैं, हम एक 'व्यक्ति' की बात करते हैं।"

अनात्म सिद्धान्त को प्राचीन बौद्ध साहित्य से आगे उदाहृत करने के लिए, मैं जातक कहानियों से (सं. 244) निम्नलिखित उद्धृत करता हूँ :

बोधिसत्त्व ने एक तीर्थयात्री से कहा, "क्या आप जंगल की सुगन्ध वाला गंगा-जल पीएँगे?"

तीर्थयात्री ने उसे उसके शब्दों में फसाने का प्रयत्न किया, "गंगा क्या है? क्या बालू रेत गंगा है? क्या जल गंगा है? क्या इधर वाला किनारा गंगा है? क्या आगे वाला किनारा गंगा है?"

परन्तु बोधिसत्त्व ने पलट कर उत्तर दिया, "यदि आप जल, बालू रेत, इधर वाले किनारे और दूसरे किनारे को छोड़ देते हो, आपको गंगा कहाँ मिलेगी?"

इस विवाद का अनुसरण करते हुए हम कह सकते हैं: "कल्पना, संकल्प, बुद्धि, इच्छा, आकांक्षा आदि के अतिरिक्त अहंकार-आत्म कहाँ है?"

आत्मा को ढूँढने का आनन्द का प्रयत्न

सुरंगमसूत्र[1] में बुद्ध एक वैयक्तिक ठोस आत्म-पदार्थ की कल्पना की मूर्खता को अभिव्यक्त करते हैं। वे इसकी उत्पत्ति को निश्चित करने वाले आनन्द के सात क्रमिक प्रयत्नों को नष्ट करने से ऐसा करते हैं। अधिकांश लोग जो व्यक्तिगत अनैतिकता में विश्वास करते हैं, देखेंगे कि उनका आत्मा का विचार कितना अस्पष्ट, काल्पनिक तथा तार्किक ढंग से अयुक्तियुक्त है, जब इसकी निम्नलिखित संदर्भ में आलोचनात्मक ढंग से परीक्षा की जाती है। आनन्द का आत्मा का विचार कुछ बचकाना सा है, परन्तु मैं सन्देह करता हूँ कि क्या हमारे ज्ञानवान युग में अधिकांश लोगों का विश्वास उसके विचार से ज्यादा अच्छा है।

जब आत्मा की स्थिति के बारे में बुद्ध के द्वारा प्रश्न किया गया, आनन्द ने दावा किया कि यह शरीर के अन्दर स्थित रहती है। उसके बाद बुद्ध कहते हैं, ''यदि आपकी बुद्धिमान आत्मा आपके भौतिक शरीर में स्थित रहती है, यह कैसे है कि यह आपके अन्दर नहीं देखती है। उदाहरण के लिए, इस भाषण कक्ष में जो पहले दिखलाई पड़ता है वह अन्दर का भाग है और यह तब ही होता है जब खिड़कियाँ खोल दी जाती हैं, हम बाहर के बाग एवं जंगल को देखने में समर्थ हो जाते हैं। हमारे लिए यह असंभव है कि इस कक्ष में बैठने वाले लोग बाहर की ओर देख सकें और वे अन्दर की ओर नहीं देख सकते हैं। उसी प्रकार तर्क करते हुए शरीर में स्थित आत्मा शरीर के आन्तरिक अंगों जैसे पेट, नाड़ियों आदि को पहले देख नहीं पाती है। यदि फिर, यह अन्दर की ओर

---

1. इस सूत्र के दो चीनी अनुवाद दिखलाई पड़ते हैं, एक **कुमारजीव** का और दूसरा **परमार्थ** का, परन्तु एक ही शीर्षक वाले वे स्पष्टतया दो भिन्न-भिन्न ग्रंथ हैं। इन दो के अतिरिक्त चीनी अनुवाद में एक बिल्कुल दूसरा ही ग्रंथ है। मेरे पास अपर्याप्त सामग्री होने के कारण मैं इन दस्तावेजों की पहचान या विभिन्नता के बारे में कुछ भी निश्चित नहीं कह सकता हूँ। निम्नलिखित विवाद, जो बुद्ध एवं आनन्द के बीच हुआ था, **परमार्थ** के अनुवाद के पहले और दूसरे पन्नों से तैयार किया गया सारांश है। बील अपने 'केटेना ऑफ् बुद्धिस्ट स्क्रीप्व्सर्स फ्रोम दि चाइनीच' नामक ग्रंथ में (पृ. 286-369) **सुरंगमसूत्र** के पहले चार पन्नों का अंग्रेजी अनुवाद देते हैं। यद्यपि अनेक दृष्टियों से यह अनुवाद संतोषजनक नहीं है, पाठक वहाँ विवाद का एक विस्तृत विवरण प्राप्त कर सकता है, जो यहाँ आंशिक एवं अस्पष्ट रूप से संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

नहीं देखती है, निश्चित रूप से इसको शरीर में स्थित नहीं कहा जा सकता है।''

अब आनन्द आत्मा को शरीर के बाहर स्थित करके समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा कक्ष के बाहर स्थित एक मोमबत्ती का प्रकाश है। जहाँ प्रकाश चमकता है हर चीज दर्शनीय हो जाती है। परन्तु कमरे के अन्दर कोई मोमबत्ती नहीं जल रही है, अतः वहाँ पर और कुछ व्याप्त नहीं है केवल अन्धकार ही है। यह आत्मा के बाहर देखने के सामर्थ्य के अभाव की व्याख्या करता है। परन्तु बुद्ध विवाद करते हैं कि, ''आत्मा के लिए बाहर स्थित होना असंभव है। यदि ऐसा है, जो आत्मा अनुभव करती है, वह शरीर के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है, और जो शरीर अनुभव करता है, वह आत्मा के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन दोनों में कोई संबंध नहीं है। वास्तव में फिर, तथ्य यह है कि जब तुम, आनन्द, इस प्रकार फैलाए गए मेरे हाथ को देखते हो, आप सचेत हैं कि आपको इसका आभास है। जहाँ तक आत्मा एवं शरीर में समानता है, आत्मा को शरीर से बाहर स्थित नहीं कहा जा सकता है।''

आनन्द के द्वारा स्वीकृत तीसरी कल्पना यह है कि आत्मा अपने आपको इन्द्रियों के पीछे छिपा लेती है। मान लीजिए एक व्यक्ति अपनी आँखों पर चश्मा पहनता है। क्या वह उसके माध्यम से बाहर के संसार को नहीं देख सकता है? कारण कि यह अन्दर की ओर क्यों नहीं देख सकती है— यह है कि यह इन्द्रिय अवयवों में निवास करती है।

परन्तु बुद्ध कहते हैं, ''जब हमारी आँखों पर चश्मा होता है, हम इस चश्मे एवं बाह्य संसार को भी देखते हैं। यदि आत्मा इन्द्रिय-अवयवों के पीछे छिपी है, तो यह स्वयं इन्द्रिय-अवयवों को क्यों नहीं देखती है? क्यों वास्तव में यह ऐसा नहीं करती है, यह तुम्हारे द्वारा बतलाए गए स्थान में निवास नहीं कर सकती है।''

आनन्द दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, ''हमारे अन्दर पेट, जिगर, हृदय आदि हैं, : बाहर हमारे पास बहुत सारे सुराख हैं। जहाँ आन्तरिक अवयव हैं, वहाँ अन्धकार है; परन्तु जहाँ पर सुराख हैं, वहाँ पर प्रकाश है। आँखें बन्द कीजिए और आत्मा अन्दर के अन्धकार को देखती है। आँखे खोलिए और यह बाहर के

चमक को देखती है। आप इस सिद्धान्त के बारे में क्या कहते हैं?''

बुद्ध कहते हैं, यदि आप अन्धकार को ग्रहण करते हो, तुम उस समय देखते हो जब आपकी आँखें आपके अन्दर की ओर से बन्द हैं, क्या आप इस अन्धकार को आपकी आत्मा का सामना करने वाली के रूप में समझते हो, या नहीं? पहली अवस्था में, वहाँ जहाँ अन्धकार व्याप्त है, उसको आपका आन्तरिक अवयव समझा जाना चाहिए। बाद वाले संदर्भ में, देखना असंभव है, क्योंकि देखना व्यक्ति एवं पदार्थ का पूर्वानुमान करता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कठिनाई है। आपकी मान्यता स्वीकार करते हुए कि आँखे अपने आपको अन्दर की ओर या बाहर की ओर मोड़ सकती हैं और अन्दर के अन्धकार या बाह्य संसार की चमक को देख सकती हैं, जब आँख बन्द है, यह आपका अपना चेहरा भी देख सकती है। यदि ऐसा नहीं करती, तो इस दृश्य को अन्दर की ओर मोड़ने में असमर्थ कहा जाना चाहिए।''

आनन्द के द्वारा स्वीकार की गई पाँचवीं मान्यता है कि आत्मा समझ या बुद्धि का सारांश है, जो न तो अन्दर है और न ही बाहर है, न ही मध्य में है, परन्तु ज्यों ही यह वस्तुनिष्ठ संसार का सामना करती है, यह वास्तविक अस्तित्त्व में आ जाती है, क्योंकि बुद्ध के द्वारा यह शिक्षा दी गई है कि संसार चित्त (मन) के कारण विद्यमान रहता है और चित्त (मन) संसार के कारण विद्यमान रहता है।

इसका बुद्ध उत्तर देते हैं : ''आपके तर्क के अनुसार, आत्मा के संसार के संपर्क में आने से पहले ही, इसको विद्यमान समझा जाना चहिए, अन्यथा संपर्क का कोई अर्थ नहीं है। तब आत्मा एक वैयक्तिक उपस्थिति के रूप में विद्यमान रहती है, न ही बाद में और न ही बाह्य संसार के साथ संपर्क में आने के समय में, निश्चित रूप से संपर्क से पहले। यह मानते हुए, हम पुरानी कठिनाइयों की ओर दोबारा आते हैं: क्या आत्मा आपके अन्दर से बाहर आती है या यह बाहर से आती है? पहले विकल्प के संदर्भ में, आत्मा को अपना चेहरा देखने में समर्थ होना चाहिए।''

आनन्द रोकते हैं: ''देखने का काम आँखों द्वारा किया जाता है और आत्मा का इससे कोई संबंध नहीं है।''

बुद्ध आपत्ति करते हैं: "यदि ऐसा है, एक मृत व्यक्ति की वैसी ही बढ़िया आँखे है जैसे एक जीवित व्यक्ति की।[1] उसे चीजों को देखने में समर्थ होना चाहिए, परन्तु यदि वह बिल्कुल देखता है, वह मृत नहीं हो सकता है। अच्छा, यदि आपकी बुद्धिमान आत्मा के पास एक ठोस जीवन है, क्या इसे साधारण या संयुक्त समझा जाए? क्या इसको शरीर को मरने वाला समझा जाए या केवल एक विशिष्ट भाग में ही उपस्थित समझा जाए? यदि यह एक सामान्य ईकाई है, जब आपके शरीर के अंगों में से एक का स्पर्श किया जाता है, सभी चारों तत्काल स्पर्श के बारे में सचेत हो जाएंगे, जिसका वास्तविक अर्थ है कोई भी स्पर्श नहीं है। यदि आत्मा एक संयुक्त शरीर है, यह अपने आपको दूसरी आत्मा से कैसे भिन्न समझ सकती है, यदि यह चारों ओर से शरीर को भर रही है, वेदना की कोई स्थिति नहीं होगी, जैसा कि एक सामान्य आत्म-ईकाई मानने के पहले संदर्भ के अनुसार होना चाहिए। अन्तिम रूप से, यह शरीर के एक विशिष्ट भाग को ही घेरती है, आप उस ही हिस्से में कुछ भावनाओं का अनुभव कर सकते हैं और दूसरे सभी भाग पूरी तरह शान्त रहते हैं। ये सभी कल्पनाएँ हमारे अनुभव के वास्तविक तथ्यों के विरुद्ध हैं और इन्हें तर्किक ढंग से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।"

छठी बार आनन्द आत्मा की समस्या की गुत्थी को खोलने का साहस करते हैं, "क्योंकि आत्मा को न तो अन्दर स्थित या बाहर स्थित भी नहीं समझा जा सकता है, इसको कहीं पर मध्य में होना चाहिए।" परन्तु यह कह कर बुद्ध इसका विरोध करते हैं, "यह 'मध्य' अत्यधिक रूप से अनिश्चित है। क्या इसको

---

1. तुलना कीजिए, निम्नलिखित "क्वश्चन्स ऑफ किगं मिलिन्द" (सेक्रेड बुकस् ऑफ दि ईस्ट वा. XXXV पृ. 133) से लिया गया है। "यदि एक आत्मा है (शरीर से भिन्न) जो यह सब करता है, तब यदि आँखों के द्वार को नीचे की ओर खोल दिया जाए। (यदि आँखों को निकाल दिया जाए) क्या यह अपने सिर को फैला सकती है, जैसे मानों, यह बड़े छिद्र के माध्यम से (एक बड़े आयाम के साथ) पहले की अपेक्षा रूपों को अधिक स्पष्टता से देख सकती है? यदि कानों को काट दिया जाए तो क्या कोई आवाज को अच्छे ढंग से सुन सकता है, या जिह्वा काट दी जाए, तो क्या ज्यादा स्वाद आएगा या शरीर का विनाश कर दिया जाए तो क्या स्पर्श का अच्छा अनुभव होगा?

आकाश में एक बिन्दु के रूप में या कहीं पर शरीर में स्थित किया जाए? यदि यह शरीर की सतह पर स्थित है, यह मध्य नहीं है, यदि यह शरीर के ऊपर है, तब यह (शरीर के) अन्दर है। यदि इसको आकाश में एक बिन्दु घेरने वाला कहा जाता है, उस बिन्दु को कैसे निर्देशित किया जा सकता है? बिना संकेत के एक बिन्दु कोई बिन्दु नहीं है; और यदि एक संकेत की आवश्यकता है, इसे मनमाने ढंग से कहीं भी स्थित किया जा सकता है, तो इस भ्रम का कोई अन्त नहीं होगा।''

आनन्द हस्तक्षेप करते हैं और कहते हैं कि उनका इस तरह के ''मध्य'' से कोई तात्पर्य नहीं है। आँख एवं रंग के एक साथ काम करने पर एक दृश्य का अस्तित्त्व सामने आता है। आँख के पास भेद-भाव का सामर्थ्य है, और रंग के संसार में कोई संवेदनात्मकता नहीं होती है, परन्तु भाव उनके ''मध्य'' में ही घटित होता है, अर्थात् उनकी, अन्योन्यक्रिया में, और तब यह कहा जाता है कि एक आत्मा विद्यमान है।

बुद्ध कहते हैं : ''जैसा तुम कहते हो, आत्मा इन्द्रिय एवं विषयों के संबंध से विद्यमान रहती है, तो क्या हमें यह विचार करना चाहिए कि आत्मा इन दो असंगत चीजों— विषय एवं इन्द्रिय की प्रकृति को जोड़ने एवं उनमें भागीदार के रूप में विद्यमान रहती है? यदि आत्मा एक दूसरे का कुछ भाग ग्रहण करती है, इसका अपना कोई लक्षण नहीं है। यदि यह दो प्रकृतियों को जोड़ती है, व्यक्ति एवं पदार्थ का भेद और अधिक विद्यमान नहीं रहता है। 'मध्य में' एक खाली शब्द है, अर्थात् आत्मा को इन्द्रिय एवं विषय के संबंध के रूप में कल्पना करना इसको एक वायवीय (वस्तु) बनाना है।''

आनन्द के द्वारा प्रस्तुत की गई सातवीं और अन्तिम कल्पना है कि आत्मा एक अनासक्ति की स्थिति है और अत: इसकी कोई विशिष्ट स्थिति नहीं है, जहाँ पर यह निवास करती है। परन्तु इस पर भी बुद्ध के द्वारा निर्दयता से प्रहार किया जाता है, वे कहते हैं : ''आसक्ति व्यक्तियों के अस्तित्त्व का पूर्वानुमान करती है जिसके साथ एक मन संसक्त हो सकता है। अब, क्या हमें संसार, आकाश, पृथिवी, जल, पक्षी, जंगली पशु, आदि जैसे धर्मों को विद्यमान या अविद्यमान समझना चाहिए? यदि बाह्य संसार विद्यमान नहीं है, हम अनासक्ति की बात नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पहले से आसक्त होने के लिए कोई चीज

नहीं है। यदि बाह्य संसार वास्तव में विद्यमान है, हम इसके संपर्क में आए बिना कैसे रह सकते हैं? जब हम यह कहते हैं कि चीजें लाक्षणिक चिह्नों से रहित हैं, इसका अर्थ इस घोषणा से होता है कि वे अविद्यमान हैं। परन्तु वे अविद्यमान नहीं हैं, उनके कुछ निश्चित लक्षण हैं जो आपस में भेद पैदा करते हैं। अब बाह्य संसार के कुछ निश्चित रूप से लक्षण हैं और इसको सभी दृष्टियों से विद्यमान होने के रूप में ही समझा जाना चाहिए। तब आपके अनात्म के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है।''

इस पर आनन्द अपने आपको समर्पित कर देते हैं और बुद्ध अपने **धर्मकाय** के सिद्धान्त को उद्घाटित करते हैं, जिसकी हम इससे संबंधित विशेष अध्याय में विस्तार से व्याख्या करेगें।

ऊपर कही गई बातों के सारांश के रूप में मुझे यह कहना है कि तात्त्विक अहंकार के विरुद्ध बौद्ध तथाकथित सांसारिक अहंकार के अस्तित्त्व को नकारते नहीं हैं, जिसको बाद में बौद्ध आत्मन् के समानान्तर समझा जा सकता है। **वसुबन्धु** अपने **योगाचार** विज्ञानवादी दर्शन के ग्रंथ में घोषणा करते हैं कि आत्मन् एवं **धर्म** का अस्तित्त्व केवल काल्पनिक, अस्थायी एवं प्रत्यक्ष है, और किसी भी अर्थ में यथार्थ एवं अन्तिम नहीं है। इसे आधुनिक शब्दावली में अभिव्यक्त करें तो आत्मा एवं संसार या व्यक्ति एवं पदार्थ— इनका केवल सापेक्ष अस्तित्त्व है और कोई भी परम यथार्थ उन पर आरोपित नहीं किया जा सकता है। मानसिक रूप से हम में से प्रत्येक में एक अहंकार या आत्मा विद्यमान है जिसका अर्थ है चेतना की एकता; और शारीरिक रूप से संघटना का यह संसार एक व्यक्ति की ऊर्जा की अभिव्यक्ति के रूप में या तो यथार्थ है या अणुओं या परमाणुओं के संमिश्रण के रूप में यथार्थ है, जैसा कि भौतिकी विज्ञानियों द्वारा समझा जाता है।

अपने आपको मनोवैज्ञानिक समस्या तक सीमित रखने पर, जिस पर बौद्धधर्म अत्यधिक रूप से बल देता है— वह एक ठोस, वैयक्तिक, अपरिवर्तनीय आत्मा--पदार्थ का अनस्तित्त्व है, जिसके अमृतत्त्व के विषय में अधिकांश अज्ञानी लोगों द्वारा लालच किया जाता है। वैयक्तिकरण केवल सापेक्ष है और यह पूर्ण नहीं है। बौद्धधर्म यह जानता है कि इस सिद्धान्त को सुरक्षित एवं सतत् ढंग से कितनी दूरी तक ले जाया जा सकता है और इसके अनुयायी यह नहीं भूलेंगे कि कहाँ रुकना है और वैयक्तिकरण की दीवार को, जो कुछ धार्मिक जनों के लिए

लगभग बहुत कठोर है, नष्ट किया जाए। पूर्ण वैयक्तिकरण, जैसा बौद्ध इसे समझते हैं, सहानुभूति के स्वाभाविक बहाव का अनुसरण करना हमें पंगु बना देता है, द्विव्यता की शाश्वत धूप में स्नान करना है, जो धूप केवल हमारे पास रहती है परन्तु हम में प्रवेश भी करती है; वैयक्तिक अमृतत्त्व के शाप से बचना हमें पंगु बनाता है जो अमृतत्त्व कुछ लोगों द्वारा अजीब ढंग से खोजा जाता है; इस सांसारिक जीवन के फव्वारे को खोजना हमें पंगु बनाता है। जिस फव्बारे से यह (जीवन) स्वतन्त्र रूप से और अनजाने में इतना रस ग्रहण करता है; काल को जला देने वाली अग्नि से तरोताजा होकर उठना हमें पंगु बनाता है। यह सोचना कि इस सांसारिक अहंकार के पीछे कुछ रहस्यात्मक है और यह कुछ शरीरत्त्व की शवाग्नि से अमर पक्षी की तरह बाहर निकलने के समान कुछ विजेता की तरह बाहर निकल आता है— यह बौद्ध परम्परा के अनुकूल नहीं है।

यहाँ आत्मा की समस्या के संदर्भ में, जो मैं टिप्पणी कर रहा हूँ, वह इसके आलयविज्ञान के रिश्ते के बारे में है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि इसके अहंकार के भाव से आसानी से मिल जाने के कारण बुद्ध इस पर बात करने के लिए बहुत अनुत्साही थे।

जैसे व्याख्या की जा चुकी है, आलय एक प्रकार की सार्वभौमिक आत्मा है जिससे हमारी वैयक्तिक सांसारिक आत्माएँ विकसित समझी जाती हैं। मनस् जो आलय की पहली संतान है, भेद-भाव के सामर्थ्य से युक्त है, और इस सामर्थ्य के गलत प्रयोग से ही मनस् में अहंकार के रूप में आलय का भाव उत्पन्न होता है— वास्तविक, ठोस आत्म-आधार।

फिर आलय कोई विशिष्ट संघटना नहीं है, क्योंकि यह अपनी विकासशील अवस्था में तथता की एक स्थिति है और अभी तक इसमें ऐसा कुछ नहीं है जो इसके ठोस व्यक्तित्त्व को बतला सके। जब मनस् अपनी गलती को खोज लेता है और आलय के शरीर से अज्ञान का पर्दा हटा लेता है, यह तुरन्त ही तथाकथित आत्मा की अन्तिम प्रकृति के बारे में कायल हो जाता है। क्यांकि आत्मा वैयक्तिक नहीं है, परन्तु व्यक्ति से ऊपर है।

आत्मन् और "पुराना मानव"

जब बौद्ध लोग घोषणा करते हैं: "अपने अहंकारवाद को दूर करो, क्योंकि अहंकार एक खाली विचार है, यह बिना यथार्थ के केवल एक शब्द है हमारे

कुछ ईसाई पाठक सोच सकते हैं कि यदि कोई अहंकार नहीं है, हमारे व्यक्तित्व का क्या होगा? जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी, हमें यहाँ यह टिप्पणी करनी चाहिए कि जो बौद्धधर्म अहंकार या आत्मन् से समझता है, उसे अनेक संदर्भों में ईसाईयों के ''शरीर'' या ''पुराने मानव'' की अवधारणा के समानान्तर समझा जा सकता है, जो हमारे सभी पापपूर्ण कार्यों का स्रोत है। पाल कहते हैं : ''मुझे ईसा के साथ सूली पर चढ़ाया गया है; मैं फिर भी जीवित हूँ, मैं फिर जिन्दा नहीं भी हूँ, परन्तु ईसा मेरे अन्दर निवास करता है : और जो जीवन मैं अब, शरीर के रूप में जी रहा हूँ, मैं ईश्वर के पुत्र के विश्वास से जी रहा हूँ, जो मुझ से प्रेम करता था और जिसने मेरे लिए अपने आपको समर्पित किया था।'' जब बौद्धों द्वारा इस संदर्भ की व्याख्या की जाती है, ''मैं'' जिसका सूली चढ़ाने के माध्यम से उच्छेद किया गया था, हमारे आत्म (अहंकार) का मिथ्या भाव है, और ''मैं'' जो ईश्वर प्रसाद द्वारा जीवित है— वह बोधि है, धर्मकाय का हमारे अन्दर एक बिम्ब है।

जब ईसाई लोग भावना एवं शरीर को विपरीत रूप में रखते हैं और हमें ''भावना में चलने'' की सलाह देते हैं और ''शरीर की लालसा को पूर्ण'' न करने की सलाह देते हैं, यह कहा जाना चाहिए कि वे शरीर से हमारे ठोस भौतिक जीवन को समझते हैं जिसके लक्षण मुख्य रूप से वैयक्तिक हैं और वे भावना से उसे समझते हैं जो वैशिष्ट्य एवं अहंकारवाद को अतिक्रान्त करता है; क्योंकि ''प्रेम, आनन्द, शान्ति, गहरी पीड़ा, श्रद्धा, विनम्रता, संयम और इस प्रकार के गुण केवल तभी संभव हैं जब आत्म-निर्मित इच्छाएँ बिल्कुल समाप्त हो जाती हैं। ईसाईयत या यहूदीधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म अधिक बौद्धिक है और दार्शनिक शब्दावली को पसन्द करता है जो लोकप्रिय भाषा की अपेक्षा अच्छी प्रकार से समझी जाती है, जो (लोकप्रिय भाषा) प्रायः भ्रम पैदा करती है। बौद्धों के आत्म की अवधारणा की तुलना में ''शरीर'' के विचार में प्रसादत्त्व एवं सटीकपन की कमी है, द्वयात्मक प्रवृत्ति का तो कहना ही नहीं, जो बौद्धों के लिए अत्यधिक घृणास्पद है।

वेदान्ती विचार

यद्यपि अनात्म का सिद्धान्त मुख्य रूप से बौद्धों का है, दूसरे हिन्दू दार्शनिकों ने हमारे जीवन में इसके महत्त्व को स्वीकार करने में लापरवाही नहीं की है।

एक जैसे वातावरण के अन्तर्गत उसी मिट्टी में विकिसत होने के बाद निम्नलिखित संदर्भ, जो योगवासिष्ठ से लिया गया है (जो वेदान्ती ग्रंथ माना जाता है, उपशम, अध्याय (11, 31, 44) लगभग बौद्ध जैसा ही लगता है :

"मैं परम हूँ, मैं बुद्धि का प्रकाश हूँ, मैं अंहकारवाद के दोष से मुक्त हूँ। हे आप, जो अवास्तविक हैं, मैं आप से, अहंकारवाद के बीज से बँधा हुआ नहीं हूँ।"[1]

तब लेखक तर्क प्रस्तुत करता है : इस हाड़, माँस के शरीर में हम तथाकथित अहंकार-आत्म को कहाँ स्थित समझेंगे? यह कैसा दिखलाई पड़ता है? हम अपने शरीर के अंगों को हिलाते हैं परन्तु यह गति वात (वायु) के कारण है। हम सोचते हैं, परन्तु यह चेतना महाचित्त की अभिव्यक्ति है। हम विद्यमान नहीं हैं, परन्तु इस उन्मूलन का कार्य से संबंध है। अब जिसे हम अपना व्यक्तिगत जीवन समझते हैं, उसे आप दूर कर दीजिए। शरीर एक चीज है, रक्त दूसरी चीज है और बोध एवं स्पन्द भी वैसे ही है। कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद को चखती है, आँखे देखती हैं, मन सोचता है, परन्तु वह क्या एवं कहाँ है जिसे हम "अहंकार" कहते हैं?

तब निष्कर्ष निकलता है, "वास्तव में, अहंकार-आत्म जैसी कोई चीज नहीं है, न तेरा और न मेरा है, न ही कल्पना है। यह सब कुछ नहीं है परन्तु सार्वभौमिक आत्मा की अभिव्यक्ति है जो विशुद्ध बुद्धि का प्रकाश है।"[2]

आत्मा पर नागार्जुन के विचार

निष्कर्ष में मैं नागार्जुन से इस विषय से संबंधित कुछ संदर्भ उद्धृत करना चाहता हूँ,[3] "कुछ लोग कहते हैं कि देखना, सुनना, अनुभव करना आदि हैं,

---

1. निर्विकल्पोऽस्मि चिद् दीपो निरहंकारवासनैः।
   त्वया अहंकारबीजेन न संबद्धोऽस्मि असन्मया।। (31)
2. यथा भूततया न अहंमनो न त्वं न वासना।
   आत्मा शुद्धचिदभाषः केवलो यं विजृभते।।(44)
3. निम्नलिखित कुमारजीव के मूल चीनी भाषा से कुछ स्वतन्त्र अनुवाद है जो बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटि ऑफ इंडिया से प्रकाशित संस्कृत ग्रंथ से बिल्कुल पूरी तरह मिलता है।

क्योंकि कुछ ऐसी चीज है जो उन अभिव्यक्तियों से पहले भी विद्यमान रहती है। (क्योंकि) देखना आदि वहाँ से कैसे आ सकता है जो विद्यमान ही नहीं है। अतः यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि वह सत् (अर्थात् आत्म) उन अभिव्यक्तियों से पहले विद्यमान था।

"परन्तु (आत्मा के इस पूर्व या स्वतन्त्र अस्तित्त्व की यह कल्पना गलत है, क्योंकि) उस सत् को कैसे जाना जा सकता है, यदि वह देखने, अनुभव करने से पहले विद्यमान था। यदि वह सत् देखने आदि के बिना विद्यमान रह सकता था, तो देखना आदि निश्चित रूप से उस सत् के बिना भी विद्यमान रह सकता था। परन्तु कैसे एक चीज, जिसको किसी भी चिह्न द्वारा नहीं जाना जा सकता, ज्ञात होने से पहले विद्यमान रह सकती है। यह उस के बिना कैसे विद्यमान रह सकता है और वह इसके बिना कैसे विद्यमान रह सकता है। (क्या सभी चीजें सापेक्ष नहीं हैं और एक दूसरे के लिए सौपाधिक नहीं हैं)?

"यदि आत्म नामक सत्—देखना जैसी सभी अविव्यक्तियों से पहले विद्यमान नहीं रह सकता है, वह उनमें से प्रत्येक व्यक्तिगत से पहले कैसे विद्यमान रह सकता है?

"यदि यह वही आत्मा है जो देखती है, सुनती है, अनुभव आदि करती है, यह माना जाना चाहिए कि इन प्रत्येक अभिव्यक्तियों से पहले आत्मा विद्यमान रहती है। फिर यह तथ्यों द्वारा सिद्ध नहीं है। (क्योंकि उस संदर्भ में एक व्यक्ति आँखों से सुनने, कानों से देखने में समर्थ होना चाहिए क्योंकि एक ही आत्मा अपनी इच्छानुसार इन सभी इन्द्रियों को निर्देशित करती हुई समझी जाती है।)

"यदि, दूसरी ओर, सुननेवाला एक है, देखने वाला दूसरा है, अनुभव करने वाला भी दूसरा ही होना चाहिए। फिर, सुनना, देखना आदि एक साथ होंगे—जो आत्माओं के बाहुल्य की मान्यता की ओर अग्रसर करता है।[1] (यह भी अनुभव के विरुद्ध है।)

"इसके अतिरिक्त आत्मा भूत में विद्यमान नहीं रहती है जिस पर देखना सुनना, अनुभव करना आदि निर्भर करते हैं। (यदि आधुनिक अभिव्यक्ति का प्रयोग करें तो आत्मा नाड़ियों में विद्यमान नहीं रहती है जो बाहरी प्रेरणा के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं।)

1. संस्कृत पाठ इस संदर्भ को नहीं देता है।

''यदि देखना, सुनना, अनुभव करना आदि में आत्मा नहीं रहती है, जो उनसे पहले भी विद्यमान रहती है, एक प्रकार से उनके पास भी कोई अस्तित्त्व नहीं है। क्योंकि वह इसके बिना कैसे विद्यमान रह सकता है, और यह उसके बिना कैसे विद्यमान रह सकता है? व्यक्ति एवं पदार्थ पारस्परिक रूप से सोपाधिक होते हैं। जिस रूप में आत्मा है, इसका कोई, स्वतन्त्र वैयक्तिक यथार्थ नहीं है। अतः यह कल्पना, जो आत्मा के देखने आदि से पहले, एक साथ, या बाद के अस्तित्त्व का दावा करती है, निष्फल मानकर त्याग देनी चाहिए, क्योंकि अहंकार-आत्मा विद्यमान नहीं रहती है।''

पदार्थों का अनात्मत्व

''आत्मा'' शब्द बौद्धों द्वारा न केवल मानसिक रूप से आत्मा या अहंकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु सत्तामीमांसीय रूप से पदार्थ या स्वभाव या वस्तुत्त्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; और उनके द्वारा इस हैसियत में इसके अस्तित्त्व को भी जबरदस्त रूप में नकारा जाता है। क्योंकि उसी कारण से कि एक वैयक्तिक अहंकार-आत्मा अमान्य है, वे एक वैयक्तिक पदार्थ के नित्य अस्तित्त्व की कल्पना को स्वीकार नहीं करते हैं। क्योंकि हमारे आत्म-जीवन में कोई श्रेष्ठ कर्ता नहीं है, इसलिए कोई वास्तविक, व्यक्तियों का शाश्वत जीवन व्यक्तियों के रूप में नहीं है परन्तु विभिन्न प्रवृत्तियों की एक पद्धति है, जो जब कर्म की ऊर्जा नष्ट हो जाती है, वह जारी रहना बन्द कर देती है। अपनी नैसर्गिक प्रकृति के कारण वैयक्तिक जीवन वास्तविक नहीं हो सकते हैं, परन्तु वे भ्रामक हैं, और इस प्रकार वे कभी भी स्थायी नहीं हैं, क्योंकि वे लगातार होते रहते हैं, और उनमें कोई स्वत्त्व नहीं है, यद्यपि हमारी व्यक्तिनिष्ठ अविद्या के कारण वे हमारी वैशिष्ट्य (प्रवृत्तियों वाली) इन्द्रियों को ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में वे शून्य एवं अनात्म हैं।

स्वभाव

महायानियों द्वारा कभी-कभी ''**स्वभाव**'' शब्द का प्रयोग आत्मन् के स्थान पर किया जाता है और वे कहते हैं कि **धर्मों** का कोई स्वभाव नहीं है: **सर्वं धर्मं निःस्वभावम्** अर्थात् अपने संघटनात्मक स्वरूप में सभी चीजें अपने वैयक्तिक स्वत्त्व से रहित हैं, यह केवल हमारे अज्ञान के कारण ही है कि हम वस्तुओं के वस्तुत्त्व में विश्वास करते हैं, जबकि स्वभाव या आत्मन् या तत्त्व जैसी कोई चीज

नहीं है जो उनमें निवास करता है। स्वभाव और आत्मन् आदतन बौद्धों द्वारा पयार्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

वे "**स्वभाव**" से पूरी तरह क्या समझते हैं, जिसका अस्तित्त्व एक विशिष्ट पदार्थ में हमारी इन्द्रियों द्वारा देखे गए रूप में नकारा जाता है? यह कभी भी महायानियों द्वारा स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है, परन्तु वे **स्वभाव** से कुछ ठोस वैयक्तिक, फिर भी स्वतन्त्र, अनुपाधिक और प्रतीत्यसमुत्पन्न के नियम के अनाधीन समझते हैं। अतः यह **शून्यता** एवं सोपाधिकता के विरुद्ध स्थित है। जहाँ तक सभी पदार्थ अपने नैसर्गिक स्वरूप में अनित्य एवं शून्य हैं, वे तार्किक रूप से स्वभाव रखने वाले नहीं कहे जा सकते हैं, यह कारणता के नियम का उल्लंघन करता है। सभी पदार्थ पास्परिक रूप से सोपाधिक एवं सीमित हैं, और उनकी सापेक्षता के अतिरिक्त वे अविद्यमान हैं और वे हमारे द्वारा जाने नहीं जा सकते हैं। अतः नागार्जुन कहते हैं, "यदि पदार्थ अपने गुण से भिन्न है, यह तब समझ से परे है।"[1] क्योंकि "एक घट को पदार्थ आदि से स्वतन्त्र रूप में नहीं जाना जा सकता है और पदार्थ को क्रमिक रूप से आकाश आदि से स्वतन्त्र रूप से नहीं जाना जा सकता है।[2] जैसे पदार्थ के बिना कोई विषय नहीं हो सकता है, इसी प्रकार पदार्थ के बिना कोई गुण नहीं हो सकता है, क्योंकि एक दूसरे के लिए एक शर्त है। फिर क्या **स्वभाव** कारणता में विद्यमान है? नहीं "जो भी सोपाधिकता के अधीन है, वह अपने **स्वभाव** से शान्त है" (प्रतीत्या यद् यद् भवति, तद् तद् शान्तं स्वभावतः)। जिसका भी अस्तित्त्व कारण एवं परिस्थितियों के संमिश्रण के अधीन है, वह बिना **स्वभाव** का है, और अतः, यह शान्त है यह शून्य है, यह असत् है और इस सार्वभौमिक **शून्यता** का अन्तिम स्वभाव बौद्धिक प्रदर्शन के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि मानव समझ इसकी नैसर्गिक सीमाओं को अतिक्रान्त करने में समर्थ नहीं है।

नागार्जुन के एक टीकाकार पिंगलक कहते हैं, "धागों के कारण कपड़ा विद्यमान है; बेंत के कारण चटाई संभव है। यदि धागे का अपना निश्चित, अपरिवर्तनीय **स्वभाव** होता, तो यह अपने ताने-बाने से नहीं बनाया जा सकता

---

1. लक्ष्यालक्ष्यमन्यच्चेत् स्यात्तल्लक्ष्यमलक्षणम्।
2. रूप्यादि व्यतिरेकेण यथा कुम्भो न विद्यते।
   वाय्वादि व्यतिरेकेण तथा रूपं न विद्यते।।

था। यदि कपड़े का अपना निश्चित, अपरिवर्तनीय **स्वभाव** होता, तो यह धागे से नहीं बनाया जा सकता था। परन्तु जैसे इस तथ्य के बिन्दु में यह बात है कि कपड़ा धागे से बनता है और धागा ताने-बाने से बनता है, यह कहा जाना चाहिए कि धागे और कपड़े का भी कोई निश्चित, अपरिवर्तनीय **स्वभाव** नहीं था। यह जलना एवं जले हुए के बीच के संबंध के समान है। कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत उनको एकत्रित किया जाता है, और इस प्रकार जलना नामक घटना घटित होती है। जलना और जले हुए का अपना कोई यथार्थ नहीं है। क्योंकि जब एक अनुपस्थित है, दूसरा अस्तित्त्व से बाहर हो जाता है। इस संसार में सभी पदार्थों के साथ ऐसा ही है, वे सभी शून्य हैं, बिना आत्मा के बिना किसी परम अस्तित्त्व के, वे छलावे के समान हैं।''[1]

शून्यता का वास्तविक महत्त्व

इन कथनों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि पदार्थों की **शून्यता** का अर्थ नगण्यता नहीं है, और जैसा कुछ आलोचकों द्वारा इसकी कभी-कभी व्याख्या की जाती है, परन्तु इसका अर्थ केवल सभी संघटनात्मक अस्तित्त्वों की सोपाधिकता या अनित्यता है, यह अन्तिम या प्रतीत्य का पर्याय है। अत: बौद्धों के अनुसार, **शून्यता** नकारात्मक ढंग से वैशिष्ट्य की अनुपस्थिति को व्यक्तियों के अनस्तित्त्व और सकारात्मक ढंग को संघटानात्मक संसार की नित्य-परिवर्तन स्थिति को, संभवन के सतत् परिवर्तन को कार्यकरण की एक शाश्वत श्रृंखला से सूचित करती है। इसको विनाश या पूर्ण नगण्यता के अर्थ में कभी भी नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि उच्छेदवाद बौद्धों द्वारा, भोले-भाले यथार्थवाद के रूप में निन्दित किया जाता है। ''बुद्ध ने **शून्यता** को सभी सैद्धान्तिक विवादों के उपाय के रूप में घोषित किया था, परन्तु वे लोग, जो इसके बदले में **शून्यता** से चिपकते हैं, असाध्य हैं।'' जब एक बीमारी को ठीक करना है, एक दवा अपरिहार्य है, परन्तु जब पूर्ण स्वास्थ्य लाभ हो जाता है, तो इसके बाद दवा जहर बन जाती है। इस बात को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए मैं **नागार्जुन** के माध्यमिक शास्त्र (अध्याय XXIV) से निम्नलिखित को उद्धृत करता हूँ ''(कोई व्यक्ति यह कहते हुए **शून्यता** के बौद्ध सिद्धान्त पर आपत्ति कर सकता है:) यदि सब कुछ

1. पिंगलक की 'कोमेन्ट्री आन् दि मध्यमकशास्त्र, अध्याय VII से लिया गया है। चीनी अनुवाद कुमारजीव का है।

शून्य है, और न कोई उत्पाद है और न कोई विनाश है, यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि चार आर्य सत्य भी विद्यमान नहीं है। यदि चार आर्य सत्य भी विद्यमान नहीं है, दुःख का उदय, संचय की हानि, और साक्षिकर्म,— इन सबको अप्राप्य कहा जाना चाहिए। यदि ये सभी बिल्कुल ही अप्राप्य हैं, चार आर्य सत्यों में से किसी की भी स्थिति नहीं हो सकती और इन स्थितियों के बिना, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, जो इसकी आकांक्षा करेगा। यदि बुद्धिमान लोग नहीं हैं, तब संघ भी असंभव है। इसके अतिरिक्त, जैसे चार आर्य सत्य नहीं हैं, तो सद्धर्म भी नहीं हैं, और क्योंकि न तो सद्धर्म है और न ही संघ है, स्वयं बुद्ध का अस्तित्त्व भी असंभव है। जो लोग शून्यता की बात करते हैं, वे त्रिरत्न को नकारने वाले कहे जाने चाहिए। शून्यता न केवल कारणता के नियम को और फलसद्भाव को नष्ट करती है, परन्तु संघटनात्मक संसार की संभावना का भी पूरी तरह उच्छेद करती है।'' (''यहाँ हम कहते हैं)

''आप शून्यता में प्रयोजन को नहीं जानते हैं। शून्यता की शून्यता के लिए इस प्रकार से हत्या की जाती है। ''दो सत्यों को लेकर बुद्धों द्वारा अपनी धर्मदेशना की गई है। एक लोकसंवृति सत्य है और दूसरी परमार्थ सत्य है।

''जो लोग इन दो सत्यों के विभाग को नहीं जानते हैं, वे बुद्धशासन में गम्भीर तत्त्व को नहीं जानते हैं। (सत् का सार धर्मता वाचिक परिभाषा या बौद्धिक समझ से परे है, क्योंकि इसमें न तो जन्म है और न ही मृत्यु है, यह निर्वाण के सदृश है। तथता तत्त्व मौलिक रूप से सोपाधिकता से मुक्त है, यह शान्त है, यह अपने आप को संघटनात्मक तुच्छता से दूर रखती है। न ही यह भेद करती है और न ही यह विशिष्ट है।[1]

''व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ की देशना नहीं हो सकती है। परमार्थ को पाए बिना निर्वाण का अधिगमन नहीं हो सकता है।

''गलत ढंग से समझी गई शून्यता मन्दबुद्धि लोगों को विनष्ट कर देती है, जिस तरह गलत ढंग से पकड़ा गया सर्प (लोगों को डस लेता है) या गलत ढंग से साधी गई विद्या निष्ट कर देती है।

''तथागत ने धर्म के गाम्भीर्य को समझ लिया था, जो सामान्य बुद्धि के

1. यह संदर्भ नागार्जुन पर चन्द्रकीर्ति की टीका से लिया गया है।

लोगों की समझ से परे था, अतः उन्होंने उन लोगों को (मन्दबुद्धि लोगों) धर्म की देशना न करने का निर्णय किया।

''आप जो शून्यता को लेकर हम पर दोष लगा रहे हो, इसमें वह दोषप्रसंग शून्यता में उपयुक्त नहीं है।

''उसके लिए सब कुल उचित है, जिसके लिए शून्यता उपयुक्त है, उसके लिए सब कुछ उपयुक्त नहीं है, जिसका शून्य उचित नहीं है।

''जो लोग शून्यता को नकारते हैं और इसमें दोष ढूँढते हैं, वे एक घुड़सवार के समान हैं जो अश्वाधिरूढ़ होते हुए भी यह भूल जाते हैं कि वे घोड़े पर सवार हैं।

''यदि आप भावों की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं, तो आप बिना हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाले भावों को देखते हैं।

''इस प्रकार की दृष्टि कार्य, कारण कर्ता, करण, क्रिया, उत्पाद, निरोध एवं फल को भी प्रतिबाधित करती है।

''जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, हम उसी को शून्यता कहते हैं, वही (शून्यता)प्रज्ञप्ति को धारण कर मध्यमप्रतिपद कहलाती है।

''बिना कारणों से उत्पन्न होने वाला धर्म भी विद्यमान नहीं है। इस कारण से ही कोई अशून्य धर्म भी विद्यमान नहीं है।

''यदि सब कुछ शून्य नहीं है, तब न कोई मृत्यु है न कोई जन्म है और इसके साथ-साथ चार आर्य-सत्य भी नहीं हैं।

''बिना कारण से उत्पन्न दुःख कहाँ होगा? अनित्यता ही दुःख है, परन्तु स्वभाव के रहने पर अत्यिता कहाँ रहेगी?

''दुःख स्वभाव है, तो यह समुदय से नहीं आ सकता है। इसलिए शून्यता को बाधित करते हुए समुदय भी नहीं है।

''जब दुःख ही स्वभाव है, तब समुदय नहीं हो सकता है। तब स्वभाव के समुदय की कल्पना बाधित होती है।

''जब दुःख ही स्वभाव है, तब मार्ग नहीं होगा। परन्तु इस मार्ग के रहने पर स्वभाव भी विद्यमान नहीं रहेगा।

''जब **दुःख**, **समुदय**, **निरोध** विद्यमान नहीं है, तब दुःख के निरोध वाला मार्ग भी कहाँ रहेगा।

''यदि वास्तव में **स्वभाव** है, दुःख का परिज्ञान अब नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अब तक ज्ञात नहीं था, क्योंकि इस प्रकार यह हमेशा वही रहेगा। (अर्थात् बुद्ध की शिक्षा के माध्यम से प्रज्ञावान व्यक्ति अब दुःख के अस्तित्त्व को पहचानते हैं, यद्यपि उन्होंने इसको तब नहीं पहचाना जब वे अभी भी अदीक्षित ही थे। यदि सभी वस्तुएँ स्थिर थीं, अपने स्वभाव के कारण स्व-निर्धारण की स्थिति में थीं, उन प्रज्ञावान लोगों के लिए यह खोजना असंभव होगा जिसका उन्होंने पहले कभी भी दर्शन नहीं किया था। चार आर्य सत्यों की पहचान केवल सम्भव है जब यह संघटनात्मक संसार सतत् सम्भवन की एक स्थिति में रहता है, अर्थात्, जब यह शून्य है, जैसा कि यह वास्तव में है।)

''समुदय के प्रहाण और निरोध के साक्षात्कार में यह मार्ग की भावना बनी रहती है। इसी प्रकार दुःख का परिज्ञान असम्भव है और इसके साथ चार आर्य सत्य भी असंभव हैं।

''**स्वभाव** से अनधिगत फल कैसे संभव हो सकता है। पूर्व में अनधिगत **स्वभावों** का बाद में अधिगम उचित नहीं है। (परन्तु) एक तथ्य के रूप में हम चार **आर्य सत्यों** का ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि ऐसे अनेक पवित्र जन हैं जो अपने आध्यात्मिक अनुशासन के माध्यम से अपने पूर्व जन्म की अविद्या एवं अन्धकार से बाहर निकले हैं। यदि प्रत्येक वस्तु का अपना एक **स्वभाव** है तो इसके लिए एक स्थिति से दूसरी स्थिति में रूपान्तरण करना असंभव है, एक व्यक्ति ऊपर उठने की इच्छा कैसे कर सकता है, यदि वह ऐसी इच्छा करता है तो भी वह जीवन की तराजू पर ऊपर और ऊपर कैसे जा सकता है?)

''यदि चार फल नहीं होगें तो उसके ग्राहक भी नहीं होंगे और यदि आठ बुद्धिमान लोग नहीं होगे (पुरुषपुद्गल) तो कोई संघ भी विद्यमान नहीं रह सकता है।

''चार आर्य सत्यों के अभाव में सद्धर्म भी विद्यमान नहीं रहेगा। **धर्म** एवं **संघ** के न रहने पर बुद्ध कैसे रह पाएँगे।

''**बोधि** के कारण बुद्ध विद्यमान नहीं रहते और **बोधि** भी बुद्ध के कारण विद्यमान रह सकती है।

"यदि एक व्यक्ति के पास बुद्ध-सार (अर्थात् बोधि) नहीं है, वह बुद्धत्त्व प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता है। वह चाहे बोधिसत्त्व मार्ग में कितनी भी कठिनता से परिश्रम करे।

"कोई व्यक्ति धर्म एवं अधर्म का कुछ भी नहीं करेगा। अशून्य वाले स्वभाव का कोई कारण विद्यमान नहीं है।

"यदि आप कहते हैं कि धर्म एवं अधर्म के बिना फल विद्यमान रहता है, तब धर्म एवं अधर्म से उत्पन्न होने वाला फल (धर्माधर्म निमित्त) विद्यमान नहीं है।

"यदि आप कहते हैं कि धर्म एवं अधर्म से उत्पन्न होने वाला फल विद्यमान है, तब धर्म एवं अधर्म से उत्पन्न होने वाला फल अशून्य कैसे हो सकता है।

"यदि आप शून्यता एवं प्रतीत्यसमुत्वाद को नकारते हैं, तब आप संसार के सभी लौकिक व्यवहारों को बाधित करते हैं।

"जब शून्यता को नकारा जाता है तब कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है, अनारब्ध क्रिया को ही क्रिया कहा जाता है, और न करता हुआ भी कारक कहलाता है।

"यदि स्वभाव नामक कोई वस्तु है, तब वस्तुबाहुल्य को अजात अनिरुद्ध एवं शाश्वत विद्यमान समझा जाएगा, जो शाश्वत शून्यता के समान है।

"यदि कोई शून्यता नहीं है, तब अप्राप्त की प्राप्ति नहीं होगी, दुःख का अन्त नहीं होगा, और सर्वक्लेशप्रहाण भी नहीं होगा।

"अतः जो सार्वभौमिक कारणता के सिद्धान्त (प्रतीत्यसमुत्पाद) को देखता है, वह बुद्ध दुःख, समुदय निरोध एवं मार्ग को भी देखता है।"

इस प्रकार प्रतिपादित किए गए और आज तक चले आ रहे महायान के सिद्धान्त ये हैं : अहंकार नाम की कोई वस्तु नहीं है; मनन विभिन्न इन्द्रियों के सामाञ्जस्य से उत्पन्न किया जाता है।

वैयक्तिक जीवन में कोई स्वत्त्व या स्वभाव या यथार्थ नहीं होता है, क्योंकि वह दक्ष कर्म से समर्थित कुछ गुणों का एक स्कन्ध है। वैशिष्ट्यों का संसार अविद्या का कार्य है जैसा कि बुद्ध द्वारा अपने बारह निदानों के फार्मूले में घोषित

किया गया है। जब माया का यह पर्दा उठा लिया जाता है, धर्मकाय का सार्वभौमिक प्रकाश अपनी पूरी भव्यता में चमकता है। वैयक्तिक जीवन तब इस प्रकार अपना महत्त्व खो देता है और धर्मकाय की एकता में विलीन होकर उनका उदात्तीकरण हो जाता है, अहंकारवादी पूर्वाग्रह हमेशा के लिए शान्त हो जाते हैं, और हमारे जीवन का उद्देश्य स्वार्थी तृष्णाओं की से तृप्ति नहीं होता है, परन्तु धर्म का गुणगान, जैसे हमारा जीवन पदार्थों की बहुलता के माध्यम से अपना मार्ग तय करता है। आत्मा और अधिक एकाकी अवस्था में स्थित नहीं रहती है (जो एक भ्रम है), यह धर्म के सार्वभौमिक शरीर में निमग्न हो जाती है, यह अपने आपको दूसरी आत्माओं चेतन और जड़ दोनों में पहचान लेती है, जो सभी पदार्थ निर्वाण में स्थित रहते हैं। जब हम इस आदर्श प्रज्ञा की स्थिति में पहुँच जाते हैं, तब यह कहा जाता है कि हमने बौद्ध जीवन का अनुभव कर लिया है।

अध्याय 8

कर्म

परिभाषा

कर्म या संस्कार जो कभी-कभी इसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है— यद्यपि संस्कार थोड़ा भिन्न अर्थ देता है,— संस्कृत धातु कृ ''करना'', ''बनाना'', ''सम्पन्न करना'', ''प्रभावित करना'', ''उत्पन्न करना'' आदि से बनता है। दोनों ही शब्दों का अर्थ अपने ठोस एवं मूर्त भाव में गति होता है और सामान्यतया बौद्धिकता, विचार या आदर्श के विरोध के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जब कर्म का प्रयोग अपने अत्यधिक अमूर्त अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह ''आरंभ-रहित अविद्या' के बराबर बन जाता है, जो सार्वभौमिक रूप से प्रकृति में अन्तर्निहित होता है और इच्छा या शोपेनहावर की अन्धी गतिविधि के समानान्तर है; क्योंकि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अविद्या भूततथता की नकारात्मक अभिव्यक्ति है, और यह संघटनात्मक संसार के प्रारम्भ या उद्‌घाटन को द्योतित करती है, जिसका अस्तित्त्व कर्म के सिद्धान्त से प्रेरित सतत गतिविधियों से लक्षित होता है। जब गेटे 'फाउस्ट' में इस विषय के बारे में कहते हैं, वे ''उसको,'' शब्द का प्रयोग कर्म के अर्थ में करते हैं, जैसा यह यहाँ समझा गया है।

जब कर्म का प्रयोग इसके ठोस अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह नामरूप के संसार में गतिविधि का सिद्धान्त है, भौतिक संसार में यह ऊर्जा को सुरक्षित रखने का सिद्धान्त है, जैविक क्षेत्र में यह आनुवंशिकता आदि का सिद्धान्त है और नैतिक संसार में यह कार्यों के अमृतत्त्व का सिद्धान्त है। संस्कार, जब यह कर्म के बराबर के रूप में प्रयुक्त होता है, यह इसके ठोस महत्त्व के समानान्तर होता

है, जैसा यह बारह निदानों की शृंखला (या प्रतीत्यसमुत्पाद)[1] के संदर्भ में है। यहाँ यह अविद्या का अनुसरण करता है और विज्ञान का पूर्ववर्ती है। इस संदर्भ में अविद्या का अर्थ केवल प्रज्ञा का निजीकरण है, और किसी भी अर्थ में इसका आशय गतिविधि का भाव नहीं है जो संस्कार में अभिव्यक्त है। यह केवल तब तक ही है जब संस्कार के साथ जुड़ा हुआ होता है, यह गतिविधि का सिद्धान्त बन जाता है, और विज्ञान या चेतना के रूप में यह अपना पहला अंकुर उत्पन्न करता है। वास्तव में अविद्या एवं अन्धी गतिविधि एक ही हैं, उनका तार्किक भेद यह है: अविद्या ज्ञानमीमांसीय स्थिति पर बल देती है और अन्धी गतिविधि नैतिक स्थिति पर बल देती है; हम कह सकते हैं, एक स्थिर है और दूसरी क्रियाशील है। यदि बारह निदानों में से पहले चार एवं विकास की अनेक प्रक्रियाओं में हमे तुलना करनी हो, जैसा ऊपर बतलाया गया है कि विकास की अनेक प्रक्रियाएँ तथागतगर्भ में घटित होती हैं, हम बारह की शृंखला में अविद्या एवं अन्धी गतिविधि के सिद्धान्त को एवं संस्कार को आलय विज्ञान के समानान्तर समझ सकते हैं, विज्ञान को मनोविज्ञान के रूप में समझ सकते हैं, और नामरूप को इस दृश्य जगत के समानान्तर समझ सकते हैं, विषय जिसमें कर्म का सिद्धान्त अपने ठोस स्वरूप में कार्य करता है।

क्योंकि हमने अपने अमूर्त भाव के रूप में कर्म के समानान्तर "अविद्या" के लिए विशिष्ट अध्याय समर्पित किया गया है, हमें यहाँ नामरूप के क्षेत्र में कर्म की बौद्ध भावना पर विचार करना चाहिए, अर्थात् कर्म के इसके ठोस रूप में परन्तु हम अपने आपको नैतिक संसार में कर्म संबंधी कारणता की गतिविधि तक ही सीमित रखेंगे, क्योंकि हमारा संबंध भौतिकी या जैवविज्ञान से नहीं है।

कर्म की कार्यशैली

कर्म का बौद्धिक विचार संक्षेप में इस प्रकार बतलाया गया है: कोई भी कर्म, अच्छा या बुरा एक प्रकार किया गया और कल्पित किया गया पानी में एक बुलबुले के समान कभी भी लुप्त नहीं होता है, सक्षम रूप में या क्रियाशील रूप में, जैसा भी संदर्भ हो, चित्त एवं कार्य के संसार में जीवित रहता है। कहने

1. बाहर निदान हैं : (1) अविद्या, (2) संस्कार (3) विज्ञान (4) नामरूप, (5) छः आयतन, (6) स्पर्श, (7) वेदना, (8) तृष्णा (9) उपादान, (10) भाव, (11) जाति, (12) जरा, मरण, शोक आदि।

का तात्पर्य यह है कि यह रहस्यात्मक नैतिक ऊर्जा प्रत्येक कार्य एवं विचार में विद्यमान रहती है और इन्हीं से उत्पन्न होती है, क्योंकि इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि क्या वास्तव में सम्पन्न किया गया है या केवल मन में कल्पित किया गया है। जब समय आता है, इसका अंकुरित होना निश्चित है और यह अपनी पूरी ओजस्विता के साथ विकसित होता है। बुद्ध कहते हैं :

> "एक सौ कल्पों के बाद भी कर्म समाप्त नहीं होगा या विनष्ट होगा ज्यों ही आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार हो जाती हैं इसका फल निश्चित ही परिपक्व हो जाता है।"[1]

फिर

> "जो कुछ भी एक व्यक्ति करता है, उसी को वह अपने में पाएगा, अच्छा आदमी अच्छा है, बुरे आदमी की बुरी योजना है, और हमारे कर्म भी बीजों के समान हैं, और ठोस रूप में फल देते हैं।[2]

यह कहा जाता है कि एक गेहूँ के दाने ने, जो संयोग से एक मकबरे में एक हजार साल से अधिक समय तक अच्छी स्थिति में सुरक्षित रखा गया था, अपनी अंकुरित होने की ऊर्जा को समाप्त नहीं किया, और जब इसे समुचित सुरक्षा से रोपा गया, इसने वास्तव में अंकुरित होना प्रारम्भ कर दिया। कर्म के साथ भी ऐसा ही है, यह अत्यधिक ओजस्विता से युक्त होता है, नहीं यह अमर भी होता है। फिर भी, कर्मों के द्वारा किए कार्यों का समय कितना ही दूर हो, हमारे कार्यों का कर्म कभी भी मरता नहीं है; किसी भी कीमत पर इसे अपनी नियति के लिए कार्य करना चाहिए, किसी विरोधी शक्ति के द्वारा न रोके जाने पर भी। कर्म का नियम अकाट्य है।

कर्म की अकाट्यता का तात्पर्य यह है कि कारणता का नियम नैतिक क्षेत्र और भौतिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च है; जीवन कर्म के सिद्धान्त से नियमित होकर कारण एवं प्रभाव की श्रृंखला से निर्मित होता है; एक व्यक्ति या एक राष्ट्र या एक जाति के जीवन में समुचित कारण और पर्याय तर्क बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता है। अतः बौद्ध हमारे धार्मिक क्षेत्र एवं नैतिक जीवन में किसी भी विशिष्ट कृपा के कर्म या रहस्योद्घाटन में विश्वास नहीं करते हैं। बौद्धधर्म में

1. एक चीनी महायान सूत्र से।
2. पालि जातक, नं. 222. अनुवाद डब्ल्यु. एच. राउज।

कृत्रिम समाधान वर्जित है। हमारे वर्तमान जीवन में नैतिक रूप से जो कुछ भी दुःख होता है या आनन्द होता है, वह पृथिवी पर जीवन के प्रारंभ से लेकर संचित कर्म के कारण ही है। कुछ भी चीज न तो बोई जाती है और न ही कुछ भी काटा जाता है।

जो कुछ भी किया गया है, वह व्यक्ति के जीवन एवं ब्रह्माण्ड में भी एक अकथनीय चिह्न छोड़ देता है; केवल कर्म की समाप्ति या अत्यधिक प्रतिकूल कर्म की बाधा के अतिरिक्त इस चिह्न को कभी भी मिटाया नहीं जा सकता है। यदि एक व्यक्ति के जीवन काल में एक कार्य का कर्म (फल) सम्पन्न नहीं होता है, यह उसके उत्तराधिकारियों के जीवन में सम्पन्न होगा, जो शारीरिक या आध्यात्मिक हो सकते हैं। न केवल ''जो व्यक्ति बुराई करते हैं, वह उनके बाद भी जीवित रहती है,'' परन्तु अच्छाई भी, क्योंकि यह ''उनकी हड्डियों पर अंकित नहीं होगी,'' जैसा भद्दे दिमाग इसकी कल्पना करते हैं। हम संयुक्त निकाय III, 1-4 में पढ़ते हैं:

''जीवन की अन्तिम टीस में, मृत्यु से प्रताड़ित,
इस मानव स्थिति को छोड़ते हुए,
वह क्या है जिसे एक व्यक्ति अपना कह सकता है?
जब वह यहाँ से जाता है, अपने साथ क्या ले जाता है?
वह क्या है जो उसके पीछे उसका अनुसरण करती है,
और जो एक छाया के समान कभी भी पृथक् नहीं होती है।

''उसके अच्छे कर्म एवं उसकी दुष्टता,
यहाँ जो भी एक मर्त्य करता है,
इसी को केवल वह अपना कह सकता है,
इसी को जब वह जाता है अपने साथ ले जाता है।
यही उसके पीछे उसका अनुसरण करता है,
और जो एक छाया के समान कभी भी पृथक् नहीं होती है।

"तब सभी अच्छे कर्म किए जाने चाहिए

भविष्य के जनकल्याण के लिए एक खजाना,

इस जीवन में किया गया पुण्य

अगले जीवन में एक आशीर्वाद प्रदान करेगा।"[1]

कर्म के इस परिरक्षण के अनुसार बौद्ध लोग पापों को दूसरे निर्दोष लोगों द्वारा विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की जाने की आशा नहीं करते हैं, जब तक उनके अपने हृदय हमेशा की तरह कठोर बने रहते हैं। परन्तु जब बुद्धों का सभी चेतन प्राणियों को आलिंगन करने वाला प्रेम एक पापी के हृदय में पश्चाताप एवं प्रज्ञा की सबसे छोटी चिंगारी के रूप में सुलगता रहता है, और जब यह हमेशा चमकने वाला प्रकाश अनुकूल परिस्थितियों में अपनी पूरी मात्रा में विकसित होता है, एक पापी कल्पों के बुरे कर्मों से पूरी तरह जागृत हो जाता है, और सभी शापों से मुक्त होकर निर्वाण की शाश्वतता में प्रवेश कर जाता है।

"कर्म एवं सामाजिक अन्याय"

कर्म के सिद्धान्त का प्रयोग कुछ बौद्धों द्वारा वस्तुओं की स्थिति की व्याख्या करने के लिए अधिकांश रूप से किया जाता है जिसको सामाजिक अन्याय के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

कुछ ऐसे लोग होते हैं जो धनाड्य एवं श्रेष्ठ रूप में पैदा होते हैं, और सांसारिक सुखों के सभी रूपों एवं सामाजिक जीवन के सभी लाभों को भोगना उनकी नियति होती है, यद्यपि उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया होता है जो उनको उनके गरीब पड़ोसियों की अपेक्षा इस प्रकार से शानदार जीवन व्यतीत करने को उचित ठहराता हो। फिर, कुछ छद्म-बौद्धों द्वारा ये लोग केवल अपने अच्छे कर्मों की खेती को काटने वाले घोषित किए जाते हैं, जो कर्म इन्होंने अपने पूर्व जीवन में किए थे। दूसरी ओर, गरीब जरुरतमन्द और निम्नवर्ग के लोग अपनी नैतिक साधुता एवं कड़ी मेहनत के बावजूद मुश्किल से अपने जीवन का निर्वाह करते हैं, वे बुरे कर्म से पीड़ित समझे जाते हैं, जो उनके पूर्व जीवन में संचित हो गए

---

1. वारेन का बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन्स, पृ. 214।

थे। नैतिक कर्मफल का नियम कभी भी स्थगित नहीं होता है, जैसा वे उन परिवर्तनों के कारण तर्क करते हैं जो एक मर्त्य में घटित हो सकते हैं। एक कार्य, अच्छा या बुरा, एक बार किए जाने के बाद शाश्वत अनुक्रम एवं घटनाओं की पारस्परिक क्रिया में कभी भी विलुप्त नहीं होगा, और निश्चित रूप से दुःख भोगने वाले को इसका उचित परिणाम देगा, और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि कर्ता जन्म एवं मृत्यु के सुख-दुःख में से गुजरा है या नहीं। क्योंकि वैयक्तिक पहचान का बौद्ध विचार वैयक्तिक सातत्य का नहीं है, परन्तु कर्म के संरक्षण का है। हम कोई भी कार्य करें, वे हमेशा ही अपना उचित फल देते हैं और मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करते हैं। अतः यदि धनवान एवं श्रेष्ठ जन अपने कर्त्तव्यों को करने में उपेक्षा करते हैं या ऐन्द्रिय सुखोपभोगों के लिए अपने आप को छोड़ देते हैं, तब उनका अपने भविष्य के जन्मों में, यदि इस वर्तमान जीवन में तो नहीं, एक फसल को काटना निश्चित है, जो उन्होंने अनजाने में अपने लिए तैयार की है। फिर गरीब, चाहे यह जीवन उनके लिए कितना ही कठिन हो, अपने समुचित प्रतिफल का दावा कर सकते हैं, यदि वे अपने वर्तमान के दुःखों से निराश नहीं हो गए हैं, और अपने आपको प्रलोभनों के सुपुर्द कर देते हैं, और निष्ठापूर्वक अच्छी चीजों एवं पुण्य कामों को करते रहते हैं। क्योंकि उनका वर्तमान भाग्य उनके पूर्व कर्मों का फल है, इसी प्रकार उनका भविष्य का भाग्य भी उनके वर्तमान कार्यों का फल ही होगा।

कुछ छद्म-बौद्धों का यह दृष्टिकोण नामरूप के इस संसार में कर्म के सिद्धान्त की व्यावहारिक कार्यशैली के बारे में एक गलत राय देता है, क्योंकि यह संघटना की कार्मिक सिद्धान्त के द्वारा व्याख्या करने का प्रयत्न करता है जो इसकी व्यावहारिकता के क्षेत्र से बाहर स्थित है। जैसा मैं समझता हूँ, जो कर्म का सिद्धान्त व्याख्या के लिए प्रस्तुत होता है, वह सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक असमानता के संदर्भ में नहीं होता है, परन्तु वह नैतिक कारणता का तथ्य होता है।

धनी एवं श्रेष्ठ जनों की दबंग प्रकृति, गरीब लोगों का अनावश्यक दुःख अपराधियों की अत्यधिक उत्पत्ति और इस प्रकार की सामाजिक संघटना हमारे वर्तमान सामाजिक संगठनों की अपूर्णता से उत्पन्न होती हैं, जो संपूर्ण निजी स्वामित्त्व के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। अपने प्रयोग के लिए लोगों को असीमित धन एकत्रित करने की आज्ञा है और इसे अपने उत्तराधिकारियों को वसीयत में देने

की भी आज्ञा है जो किसी भी प्रकार से इसके योग्य नहीं हैं। वे लोग उन चोटों की ओर ध्यान भी नहीं देते है, जो चोट यह व्यवस्था समुदाय की सामान्य भलाई के ऊपर कर सकती है, जिस समुदाय से उनका संबंध है और दूसरे सदस्यों पर वैयक्तिक रूप से यह व्यवस्था उन पर चोट कर सकती है। धनी लोग सामाजिक प्रतिष्ठा एवं और पूरी सीमा में इसका आनन्द लेने से पहले ही अपने लाखों भाइयों की हत्या कर चुके होते हैं और इसके परिणामस्वरूप राजनैतिक एवं नैतिक दृष्टि से उनकी हत्या कर चुके होंगे। स्वार्थ-सिद्धि की अपनी विशालकाय योजना को क्रियान्वयन करने के लिए उन्होंने कुबेर की वेदी पर लाखों शिकारों की भेट चढ़ा दी होगी। सबसे बुरा यह है कि एक व्यक्ति द्वारा इस प्रकार एकत्रित किए गए धन को कानून की दृष्टि में उसके उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित करने की आज्ञा है, जो एक अर्थ में समाज के परजीवी सदस्य हैं। उनको दूसरों के पसीने एवं खून पर जीवित रहने का विशेषाधिकार प्राप्त है, कुछ दूसरे ऐसे हैं जिन्हें यह पता ही नहीं है कि अपना सर कहाँ रखें, जो प्रतिदिन भारी बोझ से पिसते चले जा रहे हैं, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं, परन्तु वह भारी बोझ जो समाज द्वारा उन पर जबरदस्ती थोप दिया गया है।

यहाँ हमें बहुत ही बारीकी से तथ्यों को देखना चाहिए। समाज का एक ऐसा वर्ग है जो सामान्य भलाई के लिए लगभग कुछ भी नहीं करता है, और दूसरा एक वर्ग है, जो अपने बोझ को न उठाने के अतिरिक्त भी, केवल साहसी ढंग से जीवन के लिए संघर्ष कर रहा है। इन दुर्भाग्यपूर्ण संघटनाओं को, जो सामाजिक संगठन की अपूर्णता के कारण विद्यमान हैं, हम प्रतिदिन अपने आस-पास देखते हैं— क्या हमें इन्हें वैयक्तिक कर्म की विविधता पर आरोपित करना चाहिए और व्यक्तियों को उसके लिए जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए जिसका कारण वास्तव में समुदाय का दोषपूर्ण संगठन है, जिससे वे संबंधित हैं? नहीं, कर्म के सिद्धान्त को हमारी सामाजिक एवं आर्थिक अपूर्णता के कारण की व्याख्या करने के लिए निश्चित रूप में नहीं समझा जाना चाहिए।

वह क्षेत्र, जहाँ कर्म का सिद्धान्त सर्वोच्च रूप से कार्य करता है, हमारा नैतिक संसार है, और इसे दूसरे आर्थिक क्षेत्र तक विस्तृत नहीं किया जा सकता है। गरीबी आवश्यक रूप से बुरे कर्मों का परिणाम नहीं है, न ही परिपूर्णता अच्छे कर्मों का परिणाम है। क्या कोई व्यक्ति संपन्न है या जरूरतमन्द है, यह

आर्थिक सिद्धान्त से निश्चित होता है, जहाँ तक हमारी सामाजिक व्यवस्था का संबंध है। नैतिकता एवं अर्थ व्यवस्था मानव गतिविधि के दो भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं। ईमानदारी एवं नैतिक साधुता आवश्यक रूप से खुशहाली की गारंटी नहीं देती है। इसके विरुद्ध, बेइमानी और नैतिक नियम का उलंघन प्रायः भौतिक समृद्धि की दासी के रूप में प्रयुक्त होते हैं। क्या हम अपने आस-पास इस प्रकार अनेक अच्छे सदाचारी लोगों को नहीं देखते हैं जो बुरी तरह से गरीबी में डूबे पड़े हैं? क्या हम उनको उनके पूर्व जन्मों के बुरे कर्म के शाप के कारण दुःखी समझें, जब हम इस तथ्य को पूरी तरह से सामाजिक अन्याय का एक संदर्भ समझ सकते हैं? किसी भी दृष्टि से यह आवश्यक नहीं हैं, यह बुराई का उत्पादक है, किसी दृष्टि से दो चीजों में संबंध स्थापित करना आवश्यक नहीं है कि उनके अपने स्वभाव में किसी प्रकार की कारणता का आश्रय विद्यमान है। कर्म को आर्थिक असमानता के लिए जिम्मेदार नहीं समझा जाना चाहिए।

एक सद्‌गुणी व्यक्ति अपनी चेतना की शुचिता एवं हृदय की पवित्रता से संतुष्ट रहता है। जैसी उसकी वर्तमान सामाजिक स्थिति धुँधली है, और उसकी वर्तमान आर्थिक परिस्थितियाँ दयनीय हैं, उसके पास पीछे की ओर देखने का मन भी नहीं है और अपनी सामाजिक महत्त्वहीनता को जानने का मन भी नहीं है, न ही वह अपने भविष्य के सांसारिक भाग्य के बारे में चिन्तित है, जो (भाग्य) उसके लिए प्रतीक्षा कर रहा है जब उसकी कर्म संबंधी ऊर्जा एक नए वस्त्र में प्रकट होती है। उसका हृदय ऐसे अहंकार एवं चिन्ताओं से बिल्कुल मुक्त हो जाता है। वह अपने आप में परिपूर्ण है जैसे वह यहाँ अब विद्यमान है। जहाँ तक उसके नैतिक कर्मों के परोपकारी पक्ष का संबंध है, वह बिल्कुल चेतन्न है कि उसके कर्म आध्यात्मिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को लाभान्वित करेंगे, जो भी इससे प्रेरणा प्राप्त करता है और यह भी है कि यह अधिकांश रूप से इस पृथिवी पर भलाई की प्राप्ति के लिए योगदान करेगा। तब क्यों, हमें कर्म के एक ऐसे रद्दी सिद्धान्त का आविष्कार करना चाहिए, जैसा कुछ लोगों की मान्यता है, ताकि वे उसके भौतिक दुर्भाग्य के लिए उसे एक आध्यात्मिक सान्त्वना दे सकें।

भद्दे लोग हर चीज एवं हर काम जो वे करते हैं, वे उसमें यह देखने के लिए उत्सुक रहते हैं कि यह सब धन एवं भौतिक भलाई की उन्नति के संग्रह के लिए ही कार्य करता है। वे नैतिक कामों को भी सांसारिक चीजों को प्राप्त करने वाले अवसरों में परिवर्तित करना चाहते हैं, जिन नैतिक कामों का जीवन

की आर्थिक स्थिति से कोई संबंध नहीं है। वे कर्म संबंधी कारणता के नियम को एक ऐसे क्षेत्र में लागू करने की इच्छा करते हैं, जहाँ पर बिल्कुल ही दूसरे नियमों का बोलवाला है। तथ्य की दृष्टि से, पुण्य कर्मों से जो भी प्राप्त होता है वह केवल आध्यात्मिक आशीर्वाद ही है,— संतोष, चित्त की शान्ति, हृदय की विनम्रता, और श्रद्धा की दृढ़ता— ये सभी स्वर्गिक खजाने हैं, जो कीड़े या जंग से नष्ट नहीं किए जा सकते हैं। अच्छे कार्यों का कर्म हमारे लिए और क्या दे सकता है? एक पवित्र हृदय वाला व्यक्ति अपने भले होने से और क्या पाने की इच्छा करेगा? "अपने जीवन के लिए ऐसा विचार मत करो, जिसे आप पचा न सके, या जिसका आप पान न कर सको अपने शरीर के लिए नहीं, जिसे, आप पहन न सको। क्या (मानव) जीवन भोजन, शरीर एवं परिधान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है? हमें कर्म की सांसारिक व्याख्या का त्याग कर देना चाहिए जो बौद्धधर्म की भावना के इतना विरुद्ध है।

जब तक हम पदार्थों की वर्तमान स्थिति के अन्तर्गत जीवित रहते हैं, सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक असमानता के शाप से बचना असंभव है। कुछ लोगों को धनवान एवं श्रेष्ठ जनों के रूप में पैदा होना चाहिए और भौतिक धन के बाहुल्य का उपभोग करना चाहिए, जब कि दूसरों को कठोर समाज द्वारा उन पर थोपे गए असह्य बोझ के तले कराहना चाहिए। जब तक हम अपने वर्तमान सामाजिक संगठन में आमूलचूल परिवर्तन नहीं करते हैं, हम अपने में से प्रत्येक को समान अवसर एवं उचित मौके का आनन्द लेने की आशा नहीं कर सकते हैं। जब तक हम समाजवाद के एक निश्चित स्वरूप को स्थापित नहीं कर लेते हैं, जो उदार, तर्कसंगत एवं व्यवस्थायुक्त है, तब तक कुछ लोग रहने चाहिएं जो दूसरों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक उपकृत हैं। परन्तु सांसारिक संस्थाओं की एक संघटना वस्तुस्थिति है और इसका देर-सबेर बर्बाद होना निश्चित है। इसके विपरीत कर्म का नियम धर्मकाय की इच्छा का एक शाश्वत अध्यादेश है जैसा कि वैशिष्ट्य के संसार से अभिव्यक्त है। हमें मानव समाज की एक अनित्य घटना को संसार की सत्ता से निकले हुए एक संपूर्ण आदेश के साथ उलझाना नहीं चाहिए।

कर्म का एक वैयक्तिक दृष्टिकोण

कर्म के सिद्धान्त से संबंधित एक दूसरी लोकप्रिय गलत अवधारणा है,

जो बौद्धधर्म की सही व्याख्या को गंभीर रूप से अवरुद्ध करती है। इससे मेरा अभिप्राय इस सिद्धान्त के एक वैयक्तिक दृष्टिकोण से है। यह दृष्टिकोण यह दावा करता है कि एक व्यक्ति द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कर्म केवल उसके ही भाग्य का निर्धारण करते हैं, इससे कोई भी दूसरा व्यक्ति किसी भी तरीके से प्रभावित नहीं होता है, एक कारण कि हमें गलत काम करने से परहेज करना चाहिए— यह है: क्योंकि हमें ही, दूसरे को नहीं, इसके दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। कर्म की यह अवधारणा, जिसे मैं वैयक्तिक कहता हूँ, एक व्यक्तिगत, आत्मा के पूर्ण यथार्थ और इसके एक शारीरिक अस्तित्त्व के रूप में इस प्रकार इसकी सन्तति का पूर्वानुमान करती है, वह सन्तति इसके पूर्व कर्म द्वारा ही संभव हो पाती है। क्योंकि एक वैयक्तिक आत्मा यहाँ पर एक स्वतन्त्र ईकाई के रूप में समझी जाती है, जिसका दूसरों से कोई संबंध नहीं है, अत: न तो वह उनको प्रभावित करती है, और न ही वह उनसे किसी भी प्रकार से प्रभावित होती है। जो भी एक व्यक्ति के द्वारा किया जाता है, वह केवल उसी के द्वारा ही भुगता जाता है और दूसरे लोगों का इससे कोई लेना-देना नहीं है, और न ही वे इससे रत्तीभर भी दु:खी होते हैं।

फिर, बौद्धधर्म कर्म संबंधी नियम की यह वैयक्तिक व्याख्या की पैरवी नहीं करता है, क्योंकि यह अनात्म के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है और न ही **धर्मकाय** के अनुकूल है।

परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार, कर्म का केवल तात्पर्य संरक्षण या उसके कर्त्ता की भौतिक पहचान की परवाह किए बिना कर्मों की आन्तरिक शक्ति का अमृतत्त्व है। अच्छे या बुरे एक बार किए गए कर्म चेतन प्राणियों की सामान्य व्यवस्था पर स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं, जिसका कर्त्ता केवल एक घटक अंश है; और यह केवल कर्त्ता ही अकेला नहीं है, परन्तु "**धर्मधातु**" (आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड) नामक एक शानदार मानसिक समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति इसका एक घटक अंश है जो नैतिक कार्य के परिणाम का दु:ख भोगता है या उसका उपभोग करता है।

क्योंकि ब्रह्माण्ड केवल किसी विशिष्ट आत्मा के लिए ही एक नाट्यग्रह नहीं है; इसके विपरीत, इसका संबंध सभी चेतन प्राणियों से है, जो प्रत्येक मानसिक ईकाई का निर्माण करते हैं; और ये ईकाइयाँ रक्त एवं आत्मा में इतनी घनिष्ठ रूप से एक दूसरे से गुथी हुई हैं कि एक व्यक्ति के द्वारा किए गए छोटे से

कार्यों का प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप से दूसरों द्वारा भी उतना ही अनुभव किया जाता है जितना निश्चित रूप से स्वयं कर्त्ता के द्वारा अनुभव किया जाता है। जल के एक बड़े विस्तार में एक साधारण सा पत्थर का टुकड़ा फेंकिए, निश्चित रूप से यह लगभग एक अनन्त लहरों की शृंखला को उत्पन्न करेगा, वे चाहे कितनी भी अदृश्य हों, वे दूर वाले किनारे तक पहुँचने से पहले कभी भी नहीं रुकेंगी। इस प्रकार पैदा हुई कम्पन डूबने वाले पत्थर एवं बाधित जल द्वारा एक साथ अनुभव की जाती है। ब्रह्माण्ड, जो असभ्य दर्शकों को केवल एक स्थूल भौतिक शक्तियों की व्यवस्था दिखलाई पड़ती है, वास्तव में एक महान आध्यात्मिक समुदाय है, और प्रत्येक अकेला चेतन प्राणी इसका एक घटक अंश है। यह बहुत उलझा हुआ, अत्यधिक सूक्ष्म, अत्यधिक, संवेदनशील, और आध्यात्मिक परमाणुओं का सर्वश्रेष्ठ ढंग से संगठित पिण्ड है जो अत्यधिक तीव्रता एवं निश्चितता से नैतिक विद्युत के अपने करंट को एक कण से दूसरे कण तक भेजता है। क्योंकि यह आध्यात्मिक परमाणुओं का समुदाय सबसे नीचे स्तर पर **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है, यह अपने भौतिक वैयक्तिक पक्ष में कितना विविध और असमान प्रतीत हो, आखिरकार यह एक व्यापक सार के विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसमें चीजों का बाहुल्य अपनी एकता एवं पहचान को उपलब्ध करता है। अतः यह समाज के व्यापक हितों के लिए है, और न केवल अपनी भलाई के लिए ही बौद्ध लोग नैतिक नियमों का उल्लंघन करने से परहेज करते हैं, वे भलाई को प्रोत्साहित करने के लिए उत्साहित रहते हैं। वे, जिनकी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि इस प्रकार सभी मानव आत्माओं की आन्तरिक एकता एवं पारस्परिकता में गंभीर रूप से प्रवेश करती है, **बोधिसत्त्व** कहलाते हैं।

मैं इसी भावना से ही यह पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ कि धर्मनिष्ठ बौद्ध लोग अपने प्रेम एवं परोपकार के कार्यों से उत्पन्न पुण्य को अपने लिए रखने की इच्छा नहीं करते हैं, परन्तु सभी चेतन प्राणियों की अविद्या के अन्धकार से मुक्ति के लिए परिवर्तित करने की इच्छा करते हैं। अतः किसी भी धार्मिक ग्रंथ को समाप्त करने का बौद्धों का अत्यधिक विचित्र तरीका सामान्यतया निम्न प्रकार का है :

"बुद्ध के द्वारा बतलाए गए तीन कर्मों का गंभीर महत्त्व।

मैंने इस प्रकार धर्म एवं तर्क के अनुसार इसकी व्याख्या को पूर्ण कर लिया है:

इस पुण्य के कारण मैं सभी चेतन प्राणियों की मुक्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ,
और उनको शीघ्र ही पूर्ण प्रज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।''[1]

या

''मेरी व्याख्या से उत्पन्न होने वाले सभी पुण्य।
सभी प्राणी उन्हें स्वीकार करें और सार्वभौमिक रूप से सभी प्राणियों में बाँटे जाए;
और वे जीवन में ऊँचे उठें और उनके आशीर्वाद एवं प्रज्ञा में वृद्धि हो।
शीघ्र ही वे सर्वोच्च, पूर्ण, महान एवं दूरगामी प्रज्ञा को प्राप्त करें।''[2]

कारण यह है कि क्यों एक व्यक्ति द्वारा किया गया एक नैतिक कर्म दूसरों को प्रज्ञा की प्राप्ति करवा देता है— यह है कि आत्माएँ जो सामान्यतया वैयक्तिक एवं दूसरों से स्वतन्त्र समझी जाती हैं, वास्तव में ऐसी नहीं होती हैं, परन्तु एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से घुली-मिली होती हैं, ताकि एक (आत्मा) में पैदा हुई हलचल देर-सबेर दूसरी को सही या गलत ढंग से प्रभावित करती हुई उसमें पहुँच जाती है। मेरे अपने कार्य का कर्म संबंधी प्रभाव न केवल मेरे अपने भविष्य का निर्धारण करता है, बहुत कम सीमा में नहीं अपितु दूसरों के भाग्य का भी निर्धारण करता है, अतः धर्मनिष्ठ बौद्धों की ऊपर उद्धृत की गई प्रार्थनाएँ, जो अपने द्वारा प्राप्त होने वाले सभी पुण्यों को जनता की भलाई के लिए समर्पित करने की इच्छा करते हैं।

हर संभव तरीके से संप्रेषण को विस्तृत करने और इसे सुगम बनाने के लिए मानवता की सदैव बढ़ने वाली प्रवृत्ति मानव आत्माओं की अन्तर्भूत एकता का एक संघटनात्मक उदाहरण है। अकेलापन आदमी की हत्या कर देता है क्योंकि यह मृत्यु का ही दूसरा नाम है। प्रत्येक आत्मा, जो जीवित रहती है और विकसित होती है, दूसरों का आलिंगन करना चाहती है, उनके साथ संप्रेषण में रहना चाहती है, उनसे (मिलकर) वह पूर्ण होना चाहती है, और अनिश्चित रूप से विस्तृत होना चाहती है ताकि सभी वैयक्तिक आत्माएँ एकत्रित एवं एक आत्मा में सूत्रबद्ध हो जाएँ। इसी परिस्थिति के अन्तर्गत एक व्यक्ति का कर्म दूसरे लोगों को प्रभावित

---

1. ऑन् दि कंप्लिशन ऑफ कर्म, वसुबन्धु, नाञ्जो सं. 122।
2. दि डिस्टिंग्यूशिंग ऑफ् दि मीन, वसुबन्धु, नाञ्जो, सं. 1248।

करने योग्य बनता है, और उसके पुण्य सामान्य प्रज्ञा के प्रोत्साहन के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

कर्म एवं नियतिवाद

यदि कर्म की अखण्डनीयता का तात्पर्य हमारे नैतिक जीवन का पूर्व निर्धारण है, कुछ लोग तर्क करेंगे कि यह सिद्धान्त विशुद्ध एवं सीधा भाग्य-वाद है। यह बिल्कुल सच है कि हमारा वर्तमान जीवन पूर्व जन्मों में संगृहीत कर्म का ही परिणाम है, और जब तक कर्म अपनी ओजस्विता को सुरक्षित रखता है, अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के परिणामों से बचने का कोई अवसर नहीं होता है। यह भी सच है कि क्योंकि सबसे घटिया गौरेया भी ईश्वर की जानकारी के बिना पृथिवी पर नहीं उतरेगी और क्योंकि हमारे सिरों के सारे बाल ईश्वर द्वारा गिने हुए हैं, इसी प्रकार घास की एक अकेली पत्ती भी शाम को बयार से पहले कर्म की शक्ति के बिना नहीं हिलती है। यह भी सच है कि यदि हमारी बुद्धि इतनी निकटदर्शी नहीं होती, जैसा यह है, तो हम परिस्थितियों की संभव जटिलता को कम कर पाते, जिसके अन्तर्गत हमारा जीवन सबसे सीधे-सादे तरीके से विद्यमान रह पाता, और हम इस प्रकार गणितीय संक्षिप्तता से एक जीवन के रास्ते की पूर्व घोषणा कर सकते जिसमें से गुजरना इसकी नियति है। यदि हम अनादि काल से अपने सभी पूर्व कर्मों को दर्ज कर सकते और हमारे ऊपर एवं हमारे संपर्क में आने वाले दोनों लोगों पर इसके सभी परिणामों को भी दर्ज कर पाते, अत्यधिक निश्चितता से हमारे भविष्य के जीवन के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर, मानव बुद्धि, जैसी होती है, इतने बड़े आकार के कार्य को करने में अयोग्य है, हम नियतिवाद के पूर्ण महत्त्व को नहीं देख सकते हैं, परन्तु दैवी दृष्टिकोण से, नियतिवाद पूरी तरह उचित दिखलाई पड़ता है क्योंकि एक संसार-आत्मा के लिए ब्रह्मांड की नियति के रूप में कोई एक अदूरदर्शिता नहीं हो सकती है, जो और कुछ नहीं है अपितु इसकी अपनी एक अभिव्यक्ति ही है। यह केवल मानव दृष्टिकोण से ही है कि हम अपने अन्तिम स्वभाव के बारे में अनिश्चितता अनुभव करते हैं, और हमें अस्तित्त्व की व्याख्या एक मशीनी दृष्टिकोण से करने का प्रयास करते हैं, हम उद्देश्यपरक दृष्टिकोण से व्याख्या करने का प्रयास करते हैं, फिर भी विचित्र बात यह है कि हम अपनी आत्मा की नीचे की तह में अनुभव करते हैं कि यहाँ कुछ ऐसी रहस्यात्मक चीज है,

जो हमें या तो निराशा में या विश्वास भरे त्याग में चिल्लाने के लिए कहती है, ''आपकी इच्छा पूरी होगी।'' जब कि ''आपकी इच्छा'' का यही विश्वास सिद्ध करता है कि हमारी अपनी सबसे आन्तरिक चेतना में और हमारे बौद्धिक विश्लेषण के घेरे से बाहर सर्वोच्च व्यवस्था में एक विश्वास विद्यमान है, जो पूरी तरह पूर्व निर्धारित है और कम से कम वह हमारे निश्चित, सीमित, खण्डित मन के द्वारा नियंत्रित होने योग्य नहीं है। फिर भी कर्म के सिद्धान्त को भाग्यवादी के सबसे कठोर अर्थ में नहीं समझा जाना चाहिए।

जहाँ तक नियतिवाद के सामान्य सिद्धान्त का संबंध है, बौद्धधर्म को इसमें कोई आपत्ति नहीं है। माना कि कारणता का एक नियम होता है, कि प्रत्येक कर्म, क्रियान्वित किया गया या इसके विपरीत कुछ-न कुछ पीछे छोड़ जाता है, और यह हमारे भविष्य के जीवन के लिए निर्धारण करने वाला एक कारण बन जाता है; जब हम इस निष्कर्ष से कैसे बच सकते हैं ''इसमें से प्रत्येक व्यक्ति अपरिहार्य है,'' जैसा व्हिटमेन गाते हैं? एक द्विव्य संकल्प में एक धार्मिक विश्वास रखना, जो हमेशा ही हमें अच्छी चीजे देता है, वास्तव में नियतिवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु यदि, इस नियम को अपने व्यावहारिक जीवन में लागू करने में हम सभी संभावनाओं को उद्घाटित करने के प्रयास को भूल जाते हैं, जो हममें स्थित हैं, परन्तु उनको केवल कठोर प्रयासों के बाद ही जागृत किया जा सकता है, कोई नैतिक चरित्र नहीं रहेगा कोई, व्यक्तिगत जिम्मेदारी नहीं रहेगी कोई श्रेष्ठ आकांक्षाएँ नहीं रहेंगी, मन और कुछ नहीं रहेगा, परन्तु प्रतिक्रियात्मक नाड़ीतन्त्र रह जाएगा और जीवन केवल एक मशीनरी बन जाएगा।

वास्तव में कर्म एक मशीन नहीं है, जो पुनरुत्पादन है एवं स्ववृद्धि के लिए अयोग्य नहीं है। कर्म एक आश्चर्यजनक अवयवी शक्ति है; यह विकसित होती है, यह विस्तृत होती है, और यह एक नए कर्म को भी जन्म देती है। सभी बीजों में यह सरसों के एक दाने के समान है, परन्तु ओजस्विता से भरपूर होने के कारण ज्यों ही यह पोषक जमीन के संपर्क में आता है, यह विकसित होता है और एक पेड़ बन जाता है ताकि हवा में रहने वाले पक्षी आते हैं और उसकी शाखाओं पर बैठ जाते हैं। इसकी रहस्यात्मकता सहानुभूति की लहरों के समान है जो सभी हृदयों में गुजरती है जो एक नायक के महान कर्मों को अनुभव करते हैं या अपने को न्योछावर करने वाली माँ की कहानी को सुनते हैं। अच्छे या बुरे

कर्म अपने काम में संक्रामक एवं सहानुभूतिपूर्ण होते हैं। अच्छाई का एक सबसे महत्त्वहीन कर्म भी आशातीत ढंग से बढ़िया फसल को काटता है। सबसे बड़े बदमाश के जीवन में उसके द्वारा किए गए एक अकेले अच्छे कर्म के कारण पश्चाताप का एक अवसर आता है, जो जीवन अनेक कल्पों तक विस्तृत हो जाता है। हमारे आध्यात्मिक संसार में सबसे ज्यादा आश्चर्यजनक चीज है कि इस प्रकार सबसे घटिया लोगों के लिए पश्चाताप एवं निर्वाण को लाने वाला कर्म दूसरे लोगों के हृदयों में सम्भावित रूप से सुप्त रहने वाले वैसे ही कर्म को जागृत करता है और उसको पुनः प्रदीप्त कर देता है।

जहाँ तक हम अपने आप को कर्म सिद्धान्त के एक सामान्य एवं कृत्रिम दृष्टिकोण तक सीमित रखते हैं, यह एक प्रकार के नियतिवाद की ओर अग्रसर होता है, परन्तु हमारे व्यावहारिक जीवन में, जो अत्यधिक उलझे कारणों का एक उत्पाद है, कर्म का सिद्धान्त हमारे लिए सभी प्रकार की सँभावनाओं एवं अवसरों की अनुज्ञा प्रदान करता है। हम इस प्रकार जीवन के मशीनी विचार से बच जाते हैं, हम नियतिवाद की निराशा से सुरक्षित रहते हैं, यद्यपि यह एक सीमा तक सच है, और हम आशाओं के क्रियान्वयन के बारे में आश्वस्त हो जाते हैं। यद्यपि बुरे कर्म का शाप कभी–कभी हमारे ऊपर बोझ के रूप में लटक जाता है, हमारी आकाक्षांओं को बिल्कुल ही समाप्त करने के लिए कोई कारण नहीं है, इसके विपरीत, हमें इसे बहादुरी से सहन करना चाहिए और बुराई के अन्तिम अवशेष को नष्ट करने के लिए अच्छाई के सभी कर्म करने चाहिए और अच्छे कर्म के भण्डार को परिपक्व होने देना चाहिए।

कुशलमूल का परिपक्व होना एवं पुण्यस्कन्ध का संग्रह

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों में से एक, जिसकी हम कर्म के सिद्धान्त पर विचार करते हुए उपेक्षा नहीं कर सकते हैं, बौद्ध विश्वास है कि अनेक जन्मों में छः पारमिताओं का अभ्यास करने के बाद शाक्यमुनि ने सर्वोच्च बुद्धत्त्व को प्राप्त कर लिया था। यह विश्वास ही बौद्ध नैतिकता की आधार है और कर्म के सिद्धान्त पर इसके अतीव महत्त्वपूर्ण प्रभाव हैं।

नैतिकता की दृष्टि से विचार करने पर कर्म का सिद्धान्त यह है: चेतन प्राणी ऊपर के व्यवधान से पारमिता को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु लम्बे, धैर्यवान, निर्भीक व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से आदर्शों का क्रियान्वयन प्राप्त

कर सकते हैं, या दूसरे शब्दों में कुशलमूल के परिचक्व होने एवं पुण्यस्कन्ध के संग्रह को प्राप्त कर सकते हैं। अनेक पीढ़ियों के अथक प्रयास द्वारा किए गए अच्छे कर्म से ही केवल इसको प्राप्त किया जा सकता है। भलाई का प्रत्येक कर्म, जो हम प्रतिदिन करते हैं, पूरी बारीकी से मानव विकास के इतिहास में दर्ज होता है और सदाचार के कारण के लिए लाभ भी इसी प्रकार मानव विकास के इतिहास में दर्ज होता है। इसके विपरीत, बुराई का प्रत्येक कर्म, स्वार्थ-सिद्धि का प्रत्येक विचार, अशुद्धि का प्रत्येक शब्द अहंकार का प्रत्येक दावा, मानवता की पूर्णता के लिए एक कमी ही है। ठोस रूप में कहें तो बुद्ध शाक्यमुनि के ऐतिहासिक पुरुष में सभी अच्छे कर्मों के स्फाटीयकरण का प्रतिनिधित्त्व करते हैं जो उनके जन्म से पहले असंख्य कल्पों में संग्रहीत किए गए थे। यदि देवदत्त, जैसा आख्यान उसे बतलाता है, वास्तव में बुद्ध का शत्रु था, वह उसके बुरे कर्म का प्रतीक है, जो सभी बुद्धों के अच्छे कर्मों के साथ संचित किया जा रहा था। बाद में इस प्रकार बौद्धधर्म ने इन दो ऐतिहासिक व्यक्तियों में अच्छे एवं बुरे कर्म के ठोस परिणामों का प्रतिनिधित्त्व करने के लिए प्रयत्न किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इनके अनुयायियों को किस दिशा में अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रयोग करना चाहिए।

अत: कर्म का सिद्धान्त वास्तव में विकास एवं आनुवंशिकता का सिद्धान्त है, जो हमारे नैतिक क्षेत्र में काम करता है। जैसे वाल्ट व्हिटमेन समुचित रूप से गाते हैं, हमारे से प्रत्येक में ''ब्रह्माण्ड के अभिमुख होने वाले पदार्थ'' लगातार बह रहे हैं, हमारे प्रत्येक के माध्यम से ''उत्प्रेरणा फूट रही है और फूट रही है — बहाव की एक निर्देशिका'' है। अभिमुख होते हुए ये पदार्थ एवं यह उत्प्रेरणा हमारे कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, जो हमारे अस्तित्त्व में गुथे हुए हैं और जो पृथिवी पर चेतना के प्रारंभ से ही परिपक्व हो रहे हैं। प्रत्येक पीढ़ी कर्म के परिपक्व होने को या तो रोक देती है या इसे आगे बढ़ा देती है और दूसरी पीढ़ी को इस भण्डार को या तो कम करके या बढ़ा कर इसे उसे सौंप देती है। जो, जीवन के महत्त्व को देखने में काफी अन्धे हैं, जो अपने अहंकार को पूरा यथार्थ समझते हैं, और जो अनादि काल से संग्रहीत आध्यात्मिक विरासत की उपेक्षा करते हैं; वे संसार के सबसे बेकार लोग हैं, अत्यधिक कृतघ्न और सबसे ज्यादा गैर-जिम्मेदार लोग हैं। बौद्धधर्म उनको विनाश कार्य में लगे मार के बच्चे कहता

है।

स्काटलैण्ड के डा. जी. आर. विल्सन अपने लेख में "द सीन ऑफ् डेन्जर" (दि माओइस्ट, 1903 अप्रैल) में एक अत्यधिक सुन्दर राजकीय पोशाक के बारे में एक कहानी का वर्णन करते हैं, जो भौगोलिक रूप से यह उद्धृत करती है कि कैसे मन से काफी दूर के समय से जमा किया गया एक संभव कर्म हमारी अवचेतन के प्रत्येक रेशे में परिपक्व हो जाता है या आलयविज्ञान में, जैसे बौद्ध लोग कहते हैं, कहानी निम्न प्रकार से है :

"यह एक ऐसी प्राचीन पौशाक थी, जिसका प्रारंभ एक प्राक्ऐतिहासिक वंशावली से जुड़ा हुआ था, जिसकी चित्रलिपि पढ़ी भी नहीं जा सकती थी। पूर्व (दिशा) की दृढ़ता एवं स्थायित्त्व जैसे लक्षणों के साथ यह शाही पौशाक चली आ रही है, लाखों सालों के माध्यम से नहीं, परन्तु हजारों पीढ़ियों के माध्यम से— पीढ़ियाँ, उनमें से कुछ लम्बी, बासी और नीरस; दूसरी थोड़े समय वाली शीघ्र समाप्त होने वाली एवं आनन्द में मग्न रहने वाली पीढ़ियाँ। राजाओं और रानियों की, एक ऐसी पौशाक, जिसको, जैसे परम्परा ने निर्धारित किया था, हर एक बादशाह ने इसमें कुछ गुण वाली वस्तु जोड़ दी थी— एक कीमती मणि, सोने का एक टुकड़ा, बढ़िया कढ़ाई का एक किनारा,— और प्रत्येक योगदान के साथ एक आख्यान ने एक अविनाशी रेशे का काम किया, इस आख्यान ने इसके दाता की कहानी को भी बतलाया था। क्या इन राजाओं एवं रानियों के व्यक्तित्त्व का कुछ (भाग) उनके हाथों के काम में ठहर गया था? यदि ऐसा है, यह पौशाक कोई मृत चीज नहीं थी, न केवल एक ऐसी ओढ़ने की चीज जिसे साधारण ढंग से ग्रहण किया जाए, या साधारण ढंग से अलग रख दिया जाए, परन्तु एक जीवित शक्ति, शाही प्रभाव, और इसको पहनने वाले सभी अनजान लोगों ने मृत के चरित्र का कुछ न कुछ अंश ग्रहण कर लिया होगा। यह शाही रक्त की एक महारानी है, शायद, संवेदानात्मक एवं रहस्यात्मक, राजतन्त्र के छोर के बारे शंकित होकर कांपते हुए, जो भी इस पोशाक को पहनता है और कोई महारानी इसे पहनती है, इसके संदेश को सुनकर उसमें सनसनी पैदा हो जाती है। ये महान माणिक्य, जो इसके सामने वाले हिस्से पर चमकते हैं, खूनी विजेताओं की यादगार हैं। जैसे ही वह इन पर आलस्य में अपनी उँगली घुमाती है, वह एक भाव से भर जाती है जिसे वह समझती नहीं है, क्योंकि

उसके रक्त में कोई चीज लड़ने की भावना का उत्तर देती है, जिस भावना को वे अपने शरीर में धारण किए हुए हैं। मोती शक्ति के लिए होते हैं। वह पौशाक राजाओं एवं रानियों द्वारा पहनी गई है। जिनको कला एवं शिक्षा पसन्द थीं, और जैसे ही रानी की ऊँगलियाँ उनके प्रेरणात्मक परिवर्तनों की ओर घूमती हैं, उसका मन सभ्य विद्वानों के उद्देश्यों पर वापिस चला जाता है। यहाँ एक भड़कीला गोटा-किनारी है, बेवफादार रानी की विरासत, जो अपने पूरे जीवन में षड़यन्त्रों में फँसी रही थी, जब तक उसकी हत्या ने इसको समाप्त नहीं कर दिया था; और जैसे ही एक कुँआरी लड़की इसकी और अधिक गहराई से परीक्षा करने के लिए इसे उठाती है, वह शर्म एवं लज्जा से सब कुछ समझ जाती है, फिर यह बिना जाने कि किसने उसमें यह परिवर्तन किया है, जो उसके चरित्र में गहरा विद्यमान है, वे सभी परिवर्तन षड़यन्त्रकारी संभावनाएँ हैं, दुष्टता एवं अभद्रता की संभावनाएँ, जो उसके राज्य के पदचिह्नों का पीछा करेंगी। ऐसे ही कुछ सुझाव हैं जो मन में छिपे हुए अंश सामने आते हैं, और इस प्रकार सूक्ष्म तरीके से वे पैदा होते हैं।''

कर्म का सिद्धान्त इस प्रकार यह घोषणा करता है कि प्रेम एवं सदिच्छा का कार्य जो आप यहाँ कर रहे हो, वह आपके स्वार्थी हितों के लिए नहीं है, परन्तु इसका केवल अर्थ है, आपके आदरणीय पूर्वजों के कार्यों की प्रशंसा, और संपूर्ण मानवता के प्रति आपके कर्त्तव्यों का निर्वहन और नैतिक आदर्शों के संसार के खजाने में आपका योगदान। अच्छे कर्मों को परिपक्व बनाओ, पुण्यों का संग्रह करो, बुरे कर्म को पवित्र करो, अहंकार की बाधा को दूर करो, और सभी प्राणियों में प्रेम पैदा करो; और निर्वाण का स्वर्गिक द्वार न केवल आपके लिए खुल जाएगा, परन्तु सारे संसार के लिए।

हम वाल्ट व्हिटमेन के साथ कर्म के अमृतत्त्व एवं मानवता के शाश्वत विकास को इस प्रकार गा सकते हैं:

''क्या आपने सोचा कोई वस्तु केवल अपने क्षण के लिए जीवित थी?

संसार इस प्रकार विद्यमान नहीं रहता है—

कोई भी भाग स्पृश्य विद्यमान नहीं रहता है या अस्पृश्य इस प्रकार विद्यमान रहता है

बिना किसी लम्बे पूर्वनिष्पादन के कोई भी निष्पादन विद्यमान नहीं रहता है और वह किसी दूसरे से

बिना दूरस्थ कल्पनीय कोई एक थोड़ा सा प्रारंभ के निकट आता है अन्य किसी की अपेक्षा''[1]

अमृतत्त्व

हम मिलिन्दपञ्ञ में पढ़ते हैं :

''आदरणीय श्रीमन्! ऐसा है यदि एक आदमी एक रोशनी के साथ एक घर की मंजिल पर चढ़ गया होता और वहाँ भोजन करता हुआ होता और जलती हुई रोशनी ने घास में आग लगा दी होती और जलती हुइ घास ने घर में आग लगा दी होती और जलते हुए घर ने गाँव में आग लगा दी होती; और गाँव के लोग उसे पकड़ लेते और कहते, ''क्यों अरे, आपने गाँव में आग क्यों लगाई?'' और वह कहता, ''मैंने गाँव में आग नहीं लगाई। दीपक की वह आग, जिसके प्रकाश में मैंने भोजन किया था गाँव में आग लगाने वाली अग्नि से भिन्न थी? और वे झगड़ते हुए आपके पास आते। आदरणीय श्रीमन्! आप किसको इसका कारण बतालाओगे?''

''आदरणीय श्रीमन्! गाँव के लोगों को'' आदि-आदि।

''और क्यों?''

''क्योंकि, आदमी कुछ भी कहे, इसके बावजूद, बाद की आग पहली आग से लगी थी''

''आदरणीय श्रीमन्! बिल्कुल उसी तरह से, यद्यपि नाम-रूप, जो अगले जन्म में पैदा होते हैं, उस नाम-रूप से भिन्न होते हैं, जो मृत्यु के समय में होते हैं, फिर भी यह उसी से उत्पन्न होते हैं। अत: कोई भी आदमी अपने बुरे कर्मों से मुक्त नहीं होता है।''

वैयक्तिक पहचान एवं इसके संरक्षण का बौद्ध विचार ऊपर दिया गया है, जो अहंकार-आत्म के अमृतत्त्व को नकारता है और कर्म के अमृतत्त्व को स्वीकार करता है।

---

1. ''मैने विचार करते हुए मैनहैटन की गलियों में चहलकदमी की है'' मैं पूरी कविता उद्धतृ कर सकता था, परन्तु स्थानाभाव के कारण नहीं कर रहा हूँ।

शायद इस सिद्धान्त को उद्धृत करने का दूसरा अच्छा तरीका बीज के विकास एवं स्थायीकरण का अनुसरण करने का है। वास्तव में बीज कर्म की एक ठोस अभिव्यक्ति है। जब एक पौधा विकास की एक निश्चित स्थिति तक पहुँच जाता है, यह खिलने लगता है और फल देता है। इस फल में एक अव्यक्त ऊर्जा विद्यमान रहती है जो अनुकूल परिस्थितियों में अपने प्रकार के एक परिपक्व पौधे के रूप में विकसित हो जाती है। नया पौधा अब इसी प्रक्रिया को दोहराता है जिसमें से इसके पूर्णवर्ती पौधे निकल चुके थे, और पौधे का एक शाश्वत स्थायीकरण उपलब्ध हो जाता है। अपनी नैसर्गिक प्रकृति के अनुसार एक वैयक्तिक पौधे का जीवन स्थायी नहीं हो सकता है, कभी भी इसी बीच में इसकी आयु कम हो जाना इसकी नियति है। परन्तु एक अनन्त ओजस्विता की धारा के संदर्भ में ऐसा नहीं है, जो इस पौधे में संसार के प्रारंभ से ही संचालित हो रही है। क्योंकि यह धारा अपनी प्रकृति में वैयक्तिक नहीं है और उतार-चढ़ाव से ऊपर स्थित है जो विशिष्ट पौधों के जीवन में घटित होते रहते हैं। यह हर समय अपने गत्यात्मक स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो सकती है, परन्तु यह बीज के अस्तित्त्व में हमेशा ही सक्षम रूप से विद्यमान रहती है। परिवर्तन केवल रूप का ही विषय है और ये परिवर्तन पौधे में उसकी धारा में बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं, जो ब्रह्माण्ड में वनस्पति की ऊर्जा के रूप में सुरक्षित रहते हैं।

वनस्पति की यह ऊर्जा है, जो एक परिपक्व पौधे में अभिव्यक्त होती है, जो इसे बसन्त ऋतु में खिलवाती है, जो बीज में जाती है, जो उनको अनुकूल वातावरण में खिलने के लिए पुनर्जीवित करती है। वनस्पति की यह ऊर्जा, यह रहस्यात्मक शक्ति जब इसे बौद्ध शब्दावली में बतलाया जाता है, कर्म की वनस्पति-अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो जैविक संसार में विरासत के नियम का निर्माण करती है, या यह अर्जित चरित्र का संप्रेषण कहलाता है, या कुछ दूसरे नियम हैं जो जैव-वैज्ञानिकों द्वारा ख़ोजे जा सकते हैं। यही वह है जब यह शक्ति मानव विषयों के नैतिक क्षेत्र में अपने आपको अभिव्यक्त करती है, जो कर्म नैतिक कारणता के नियम के रूप में अपने समुचित महत्त्व को प्राप्त करता है।

संप्रेषण के अनेक तरीके होते हैं जिनके माध्यम से एक व्यक्ति या लोगों या एक राष्ट्र या जाति का कर्म अपने आपको शाश्वतता तक स्थायी बनाने में

समर्थ होता है। उनमें कुछ नीचे वर्णित की गई हैं।

एक को वंशविषयक या शायद जैवविषयक कहा जा सकता है। मानो यहाँ एक शानदार परिवार के उत्तराधिकारी हैं, जिसमें से कुछ ने बहादुरी में या परोपकार में या बुद्धिमत्ता में या किसी अन्य प्रशंसनीय कार्य में या किसी क्षमता में अपने आपको प्रसिद्ध बनाया था। इन लोगों का एक नियम के रूप में अपने पड़ोसियों द्वारा आदर किया जाता है, मानो उनके पूर्वजों की आत्माएँ पीढ़ियों के माध्यम से संप्रेषित की गई थीं और वे आज भी अपने सगोत्रीय उत्तराधिकारियों में ठहरी हुई हैं। परम्परा में उनमें से कुछ अपनी बुद्धि एवं नैतिकता में औसत से कम रहे हों परन्तु यह तथ्य इस संभावना एवं विश्वास को बिल्कुल रद्द नहीं करता है कि उनके परिवार के दूसरे लोग किसी दिन अपने पूर्वजों द्वारा ग्रहण की गई क्षमताओं का विकास कर लेंगे, जो अब प्रसुप्त नजर आ रही हैं, उस प्रेरणा के माध्यम से जो वे भूतकाल के श्रेष्ठ उदाहरणों से प्राप्त कर सकते थे। आदर उन्हें मिल रहा है, और प्रेरणा की संभावना जो उनके पास है, यह सब उनके पूर्वजों द्वारा सभी कर्मों के कार्य से उत्पन्न किए हुए हैं। श्रेष्ठ कर्म के कर्ता अब विगत हो चुके हैं, उनकी हड्डियाँ काफी पहले अपने तत्त्वों में विलीन हो गई हैं, उनकी अहंकार आत्माएँ अब नही हैं, उनके ठोस निजी, व्यक्तित्त्व अब भूतकाल की चीज हो गए हैं, परन्तु उनका कर्म अभी भी यहाँ है और वह उतना ही तरोताजा है जैसा यह अपने जन्म के दिन था और समय के अन्त तक यह ऐसा ही रहेगा। दूसरी ओर, यदि उनमें से कुछ ने अपने पीछे बुरा इतिहास छोड़ा था, बुरा कर्म परिवार के इतिहास के साथ दृढ़ता से चिपका रहेगा, और जब तक इसकी प्राणवत्ता बनी हुई है, इसके उत्तराधिकारियों को शाप भोगना पड़ेगा, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वे स्वयं कितने निर्दोष हैं।

यहाँ मैं एक महत्त्वपूर्ण बात दर्ज करना चाहता हूँ, वह एक रहस्यात्मक तरीका है जिसमें बुरा कर्म अपना कार्य करता है। बुराई हमेशा ही बुराई को जन्म नहीं देती है, यदि यह एक कारण नहीं बनती है तो यह प्रायः एक परिस्थिति बन जाती है, जो एक नैतिक व्यक्ति को अपने संपूर्ण आध्यात्मिक प्रयासों से इस पर विजयी होने के लिए प्रेरणा प्रदान करेगी। उसका इस तथ्य के बारे में सचेत होना कि उसका पारिवारिक इतिहास किसी प्रकार से गन्दे दागों से कलंकित हुआ है, उसके हृदय में भलाई एक टिमटिमाता हुआ प्रकाश पुनः जगाएगा। उसके

अच्छे कर्म का संग्रह का अन्तिम रूप परिपक्व होकर उसके सद्‌गुण भूतकाल की बुराइयों को ढक देगा और उसके सामने एक नया पृष्ठ खोल देगा, जो आनन्द एवं आभा से परिपूर्ण होगा। इस संसार में प्रत्येक वस्तु भलाई की अन्तिम अनुभूति के लिए मात्र एक साधन के रूप में परिवर्तित होती है। बौद्ध लोग आध्यात्मिक संघटना के लिए धर्मकाय या अमिताभ बुद्ध[1] के उपाय के सद्‌गुणों को उत्तरदायी समझते हैं।

विषय की ओर वापिस लौटें। यह दिखाने के लिए किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है कि ये सभी बातें जो ऊपर परिवार के बारे कही गई हैं, जाति, जनजाति, गोत्र, राष्ट्र, या समुदाय के किसी अन्य स्वरूप के लिए भी सत्य हैं। मानवता का इतिहास अस्तित्त्व के सभी विविध आयामों में और कुछ नहीं है अपितु कर्म संबंधी अमृतत्त्व के बौद्ध सिद्धान्त की कल्पना करने का एक शानदार नाटक है। यह एक महान समुद्र के समान है, जिसकी सीमाएँ कोई नहीं जानता है और घटनाओं की लहरें बढ़ रही हैं, और फूटकर निकल रहीं हैं, अब घट रहीं है, अब चक्रवात पैदा कर रही हैं, अब नीचे की ओर जा रही हैं, दिन और रात हर समय यह उद्धृत करती हैं कि कैसे कर्म के नियम वास्तविक जीवन में काम कर रहे हैं। एक काम दूसरे को उकसाता है और दूसरा तीसरे को और इस प्रकार कर्म संबंधी कारणता की श्रृंखला को तोड़े बिना यह शाश्वतता तक यह चलता रहता है।

आगे, हम कर्म के ऐसे स्वरूप पर आते हैं जिसे ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इससे मेरा अभिप्राय है कि एक व्यक्ति का कर्म कुछ ऐतिहासिक कार्यों के द्वारा अमर बनाया जा सकता है जैसे, भवन, साहित्यिक कार्य, कला, उपकरण या साधनों की उत्पत्ति। वास्तव में लगभग कोई भी कार्य, मानव या प्राकृतिक, जो फिर अपने आप में कितना भी महत्त्वहीन हो, एक महान व्यक्ति

---

1. यदि हम तालसताय के निम्नलिखित शब्दों को उस प्रकाश में समझें जो हम बौद्धों के कर्म संबंधी अमृतत्त्व के सिद्धान्त से प्राप्त करते हैं, स्वयं लेखक की अपेक्षा शायद हम उनमें अधिक अर्थ प्राप्त करेंगे, जो यह कहना चाहता था, ''मेरा मृत भाई अपने जीवन की अपेक्षा अब मेरे ऊपर अधिक शक्तिशाली ढंग से कार्य करता है; वह मेरे जीवन में प्रविष्ट भी हो जाता है और मुझे अपनी ओर उठाता है।''

की यादगार से जुड़ा हुआ होता है, उसके कर्म का फल देता है, और इसे भावी पीढ़ियों को संप्रेषित करता है।

प्रत्येक व्यक्ति इन तथ्यों से परिचित है कि सभी साहित्यिक कार्यों में लेखक की आत्मा एवं भावना शरीर रूप में विद्यमान रहती है। वहाँ पर अभिव्यक्त किए गए विचारों एवं संवेदनाओं में भावी पीढ़ीयाँ उसकी जीवन्त उपस्थिति का अनुभव करा सकती हैं, और जब कभी भी पाठक उसके कार्य से प्रेरणा ग्रहण करता है और इसका क्रियान्वयन करता है, लेखक एवं पाठक को यद्यपि शारीरिक रूप से पृथक् और भिन्न-भिन्न समयों में रहते हुए एवं उसके हृदय की धड़कन को आध्यात्मिक रूप से अनुभव करते हुए कहा जाना चाहिए। कला की उत्पत्तियों के बारे में भी वही बात सही है। जब हम ग्रीक या रोमन कलाकारों के श्रेष्ठ कार्यों से सुसज्जित दीर्घा में प्रवेश करते हैं, हम यह अनुभव करते हैं कि मानो हम इन कला-प्रेमियों के ठीक बिल्कुल बीच में साँस ले रहे हैं और हमारे में वही संस्कार पुनः जागृत करता हुआ प्रतीत होता है जो उनके द्वारा किए जाते थे। जैसे वे भूल गए थे, हम भी अपने विशिष्ट जीवन के यथार्थ को भूल जाते हैं, हम अनजाने में उस से ऊपर उठ आए हैं, और हमारी कल्पनाएँ पार्थिव वस्तुओं से परिपूर्ण नहीं होती हैं। यह कैसी रहस्यात्मक शक्ति है!— शक्ति जिसके द्वारा ये जड़ पदार्थ हमें आदर्शों के संसार में बहुत दूर ले जाते हैं। यह कैसी रहस्यात्मक शक्ति है जो बीते हुए कलाकारों की भावना को एक फलक या संगमरमर के टुकडे पर पुनर्जीवित कर देती है! यह वास्तव में बिल्कुल सत्य के बिना नहीं था कि आदिम या अज्ञानी लोग मूर्तियों की आध्यात्मिक शक्ति में सहजानुभूत रूप में विश्वास किया करते थे। एक आत्मा की वस्तुनिष्ठ उपस्थिति एवं इसके वस्तुनिष्ठ यथार्थ के बीच के भेद को ग्रहण करने में विफल रहे। जहाँ तक उनकी धार्मिक अनुभूति, और उनकी आलोचनात्मक बुद्धि का संबंध है, वे मूर्तिपूजा में विश्वास करने में पूर्णतया न्यायसंगत थे। इन सब को ध्यान में रखते हुए ये तथ्य बिना किसी गलती के कर्म के अमृतत्त्व के बौद्ध सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं। बीते युगों के मर्त्यों से स्पृष्ट कर्म का एक तार आज भी उनके कार्यों में स्पन्दित होता है और यह स्पन्दन आज के दिन तक अपनी पूरी शक्ति के साथ सहानुभूतिशील आत्माओं तक संप्रेषित होता है।

कला एवं साहित्य के कार्यों की अपेक्षा वास्तुशास्त्र संबंधी रचनाएँ कर्म

के सिद्धान्त को किसी भी कम तरीके से वर्णन नहीं करती हैं। मिश्र की एक पिरामिड की सबसे ऊँची ईंट भी उसी ऊर्जा के साथ पृथिवी पर गिरेगी जो उसको फराओं के समय में लगाने में लगी थीं; भट्टी में से जलते हुए कोयले का एक टुकड़ा भी जिसको पृथिवी के बीच से खोदा गया था, आग की उतनी ही ऊर्जा फेंकता है जो इसने सूर्य से लाखों साल पहले प्राप्त की थी; इस प्रकार एक चट्टान, या ईंट या सीमेण्ट का एक महत्त्वहीन टुकड़ा भी, जो हमें बेबिलोनिया के महलों, भारतीय स्तूपों, फारस की छतरियों, मिश्री संकेत चिह्नों या रोमन के स्मारक भवनों के खण्डहरों में उपलब्ध होते हैं, उसी भावना एवं आत्मा से युक्त हैं, जिसने प्राचीन लोगों को इन विशालकाय वास्तुशास्त्र संबंधी आश्चर्यजनक चीजों को बनाने के लिए प्रेरित किया था। यहाँ पर भावना, अपने व्यक्तिगत स्वरूप में नहीं, अपितु, इसके कर्म संबधी रूप में विद्यमान है। जब हम इन महत्त्वहीन अदृश्य टुकड़ों को उठाते हैं, हमारी आत्माएँ भूतकाल के समय से आने वाली प्रेरणाओं की ओर एकांगी रूप से उत्तरदायी बन जाती हैं, और हमारी मन की आँखें देवताओं की आभा, राजाओं की शान, राष्ट्र की शान्ति, लोगों की समृद्धि आदि को स्पष्ट रूप से देखती हैं। हमारी और उनकी आत्माएँ पुराने दिनों के उन दृश्य-अवशेषों के माध्यम से कर्म संबंधी कारणता की शृंखला से जुड़ जाती हैं। उन पुराने लोगों के कर्म आज भी उन वास्तुशास्त्र संबंधी रचनाओं में अमृतत्त्व का साँस ले रहे हैं और दर्शकों को अपनी सहानुभूतिपूर्ण लहरों को संप्रेषित कर रहे हैं। इस प्रकार जब हम कर्म के अमृतत्त्व की सचाई के बारे में आश्वस्त हो जाते हैं, हम ईसाईयों के साथ सच्चे रूप में घोषणा कर सकते हैं, "हे मृत्यु, तुम्हारा दंश कहाँ पर है? हे कब्र तुम्हारी विजय कहाँ पर है?"

इसके ऐतिहासिक महत्त्व से संबंधित कर्म के सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए किसी और उदाहरण देने की मुश्किल से ही आवश्यकता पड़ती है। सभी वैज्ञानिक यन्त्र एवं उपकरण अन्वेषकों की प्रतिभा के अमर नेत्र साक्षी हैं। सभी औद्योगिक मशीनें और कृषी संबंधी उपकरण रचनाकारों द्वारा किए गए कर्म के अमृतत्त्व को ठोस रूप में प्रमाणित करते हैं, ठीक उसी अंश में जिस रूप में वे समान्य भलाई एवं मानवता के विकास के लिए लाभकारी हैं। उपकरणों या मशीनों या यन्त्रों का बाद में अच्छे उपकरण स्थान ले सकते हैं और संभवत: आगे आने वाली पीढ़ियों द्वारा उन्हें बिल्कुल ही भुला दिया जाए, परन्तु यह इस तथ्य को निरस्त नहीं करता है कि सुधरे हुए यन्त्र एवं उपकरण उस ज्ञान एवं

अनुभव के माध्यम से संभव बन पाए थे जो अनुभव पुराने यन्त्रों के प्रयोग से ही प्राप्त हो सका था, दूसरे शब्दों में, पुराने अन्वेषकों के विचार आज भी उनके उत्तराधिकारियों के माध्यम से जीवित चले आ रहे हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि वंशानुगत कर्मसंप्रेषण के संदर्भ में। एक व्यक्ति का कर्म अपने परवर्ती रास्ते के लिए कोई भी चोला पहन सकता है, यह हमेशा ही वहीं विद्यमान रहता है जहाँ पर इसकी प्रेरणा की अनुभूति होती है। सबसे कम महत्त्व की वस्तु में भी, चीथड़े के टुकड़े में भी, कागज की फटी-पुरानी स्लिप में भी, मृत लोगों की स्मृति से केवल संबंध जुड़ा रहना चाहिए; और एक अकथनीय एवं अप्रत्यक्ष भावना दर्शक के हृदय में रेंग जाती है; और जैसे मानों कि वह मृत व्यक्ति अपनी साधुता या सदाचार के लिए विदित था, हमारी प्रेरणा एवं नैतिक उत्थान के लिए यह एक अवसर है जब इसके अनुसार उस क्षण हम अपना कर्म कैसे करते हैं।

अब हम कर्म संबंधी गतिविधि के आध्यात्मिक उद्देश्य को और अधिक गहराई से देखते हैं। जो ऊपर कहा गया है उससे कोई भी बुद्धिमान पाठक यह अनुमान लगा सकता है कि कर्म का बौद्ध सिद्धान्त हमारे नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन पर कितना महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखता है। फिर, निम्नलिखित टिप्पणी इस सिद्धान्त के पूरे विस्तार को पूरी तरह समझने में सहायता करेगी और इसके गुणों पर एक निष्पक्ष निर्णय करने में भी सहायता करेगी।

यहाँ, यदि कहीं अन्यत्र नहीं तो, आत्मिक-गतिविधि के विचार के बारे में बौद्धधर्म एवं ईसाईयत के बीच का लाक्षणिक अन्तर बहुत ही अजीब ढंग से धुँधला दिखाई पड़ता है। ईसाईयत, यदि मैं इसे सही ठंग से समझता हूँ, हमारी आत्मिक-संघटना को एक व्यक्तिगत अहंकार-ईकाई के कार्य के रूप में कल्पना करती है, जो अपने आपको रहस्यात्मक ढंग से शरीर में किसी स्थान पर छिपाए रखती है। ईसाईयों के लिए आत्मा एक तात्त्विक सत् है, और इसका शरीर में अवतरण एक जेल है। यह मुक्ति के लिए कराहती है, यह स्वर्गिक निवास की आकांक्षा करती है, जहाँ पर, शारीरिक मृत्यु के बाद, यह अपने नग्न अस्तित्त्व के लिए सभी सुखों का आन्नद ले सके। इसको स्वर्ग में ईश्वर-पिता एवं ईसा-पुत्र की उपस्थिति में अमृतत्त्व का अमृत मिलता है, न कि इस ब्रह्माण्ड में कर्म के स्थायीकरण में। दूसरी ओर, एक दुष्ट की आत्मा शाश्वत रूप से तबाह हो जाती है यदि यह माना जाए कि उनमें कोई आत्मा होती है। जैसे ही यह शारीरिक केन्द्र से मुक्त होती है, इसे नाटकीय अग्नि में फेंक दिया जाता है, और वहाँ पर

यह अवर्णनीय कष्टों एवं दु:खों को भोगती है। अत: ईसाईयत एक आत्मा के पुनर्जन्म या दोबारा अवतार ग्रहण करने में विश्वास नहीं करती है। शरीर से एक बार गई हुई आत्मा दोबारा वापिस नहीं आती है; या तो यह स्वर्ग में एक शाश्वत जीवन जी रही होती है या नरक में एक क्षणिक विनाश से दु:खी हो रही होती है। एक व्यक्तिगत ठोस अहंकार-आत्मा के उनके आधार-वाक्यों से यह आवश्यक निष्कर्ष निकलता है।

फिर बौद्धधर्म आत्मा के तात्त्विक अस्तित्त्व की शिक्षा नहीं देता है। यह घोषणा करता है कि हमारे सभी मानसिक एवं आध्यात्मिक अनुभव कर्म के कारण होते हैं जो अपनी क्षमता पूर्व जन्म के ''कर्मबीज'' से विरासत में ग्रहण करता है और जिसने पाँच **स्कन्धों** की वर्तमान समन्वय की स्थिति को उत्पन्न किया है। अपनी ऊर्जा में विद्यमान रहते हुए वर्तमान कर्म अपने क्रम में 'कर्मबीज' को उत्पन्न करता है, जो अनुकूल परिस्थितयों में दोबारा परिपक्व हो जाता है। अत: जब तक कर्म की ऊर्जा इस प्रकार सफलतापूर्वक उत्पन्न होती रहती है, पाँच **स्कन्ध** लगातार अस्तित्त्व में आते रहते हैं और एक व्यक्ति के रूप में समन्वयात्मक ढंग से कार्य करते रहते हैं। कहने का तात्पर्य है कि इस प्रकार से कर्म की पुनरुत्पत्ति ही एक आत्मा के पुनर्जन्म का बौद्ध विचार है।

एक जापनी राष्ट्रीय नायक, जनरल कुसुनोकि मसाशिगे, जो एक परम्परावादी बौद्ध थे, वे रण क्षेत्र में गिर गए, तब उन्होंने निम्नलिखित शब्द कहे थे, ''मैं शाही खानदान के लिए अपने पूर्ण कर्त्तव्यों को निभाता हुआ सात बार दोबारा जन्म धारण करूँगा।'' उन्होंने ये शब्द बिना किसी उद्देश्य के नहीं बोले थे। क्योंकि आज भी, सात सौ से अधिक वर्षों के बाद उसकी भावना उनके देशवासियों में अभी भी जीवित है और वास्तव में घोड़े पर सवार उनकी ताँबे की प्रतिमा धूमधाम से शाही महल की सुरक्षा कर रही है। सात से अधिक बार उनका दोबारा जन्म हुआ और जब तक जापान देश एक राष्ट्र के रूप में पृथिवी पर विद्यमान है वे दोबारा जन्म लेते रहेंगे। सतत् पुनर्जन्म या दोबारा अवतरित होने का तात्पर्य कमोबेश रूप में कर्म का अमृतत्त्व ही है। बुद्ध कहते हैं: ''हे शिष्यों! मेरी मृत्यु के बाद इन नैतिक नियमों एवं सिद्धान्तों को ग्रहण करो, जिनकी शिक्षा मैने अपने व्यक्तितत्त्व के कारण ही आपको दी थी लिए, क्योंकि मैं उनमें जीवित हूँ।'' कर्म में रहना, न कि एक अहंकार-ईकाई के रूप में रहना, अमृतत्त्व की बौद्ध

अवधारणा है। अतः बौद्ध लोग एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि द्वारा इन पंक्तियों में व्यक्त भावनाओं से पूरी तरह सहमत होंगेः

> "हम कार्यों में जीवित रहते हैं, वर्षों में नहीं, विचारों में, साँसों में नहीं भावनाओं में, एक डायल पर अंकित अंको में नहीं, हमें हृदय की धड़कनों से समय को गिनना चाहिए, वह सबसे अधिक जीता है, जो सबसे अधिक सोचता है, श्रेष्ठ ढंग से अनुभव करता है, सबसे अच्छे ढंग से कार्य करता है।"

कुछ लोग इस प्रकार के अमृतत्त्व को असन्तोषजनक कहना पसन्द करें और उतावले ढंग से यह माँग करें कि कर्म की रहस्यात्मक ऊर्जा की अपेक्षा अहंकार-आत्म को अमर बनाया जाए, क्योंकि यह अधिक ठोस है और जनता द्वारा अधिक पसन्द की जाती है। ऐसी माँग के प्रति बौद्ध का उत्तर यह होगा, "यदि उनकी बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि कर्म के सिद्धान्त में सत्य को देखने के लिए इतनी विकसित नहीं हुई है, क्यों हम उन्हें जब तक वे चाहें, उनके भौंडे एवं आदिम विश्वास के साथ चिपके रहने दें और उससे संतुष्ट रहने दें"। बुद्ध ने भी अमूर्त तात्त्विक समस्याओं में बालबुद्धि लोगों को भी आनन्द खोजने नहीं दिया, उनमें चाहे कितना भी सत्य एवं उचित आध्यात्मिक सान्त्वना क्यों न हो। बालबुद्धि लोगों का हृदय खिलोनों, परियों की कहानियों एवं नीति कथाओं के पीछे भागता है। अतः बौद्धधर्म का लक्ष्य है: "मरीजों की उनकी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार सेवा करो।" हम कृत्रिम रूप से एक पौधे की जड़ों को खींचने से उनको एक इंच भी बड़ा नहीं कर सकते हैं, हमें तब तक इंतजार करना पड़ता है जब तक यह विकास के लिए तैयार नहीं हो जाता है। जब तक एक बच्चा मनुष्य नहीं बन जाता है हमें उससे बचकानी चीजों को छोड़ने की आशा नहीं करनी चाहिए।

ऊपर कही गई बातों का निष्कर्ष स्पष्ट है। यदि हम अमृतत्त्व चाहते हैं, तो अच्छे कर्म को परिपक्व होने देना चाहिए और बुराइओं से दूषित हृदय की सफाई भी होनी चाहिए। सत् कर्म में हम शाश्वत रूप से जीवित रहते हैं, परन्तु बुराई में हम बर्बाद हो जाते हैं, न केवल हम परन्तु प्रत्येक वह व्यक्ति जो बुराई के रास्ते पर हमारे कदमों का अनुसरण करता है। कर्म हमेशा ही उत्पादक होता

है; अतः सत् कर्म एक असीम आशीर्वाद है, और बुरा कर्म एक शाश्वत अभिशाप है। यही कारण था की जम्बुद्वीप में बुद्ध के प्रकट होने पर पृथिवी एवं स्वर्ग के देवताओं एवं पुरुषों की आनन्दमय घोषणाओं से गुञ्जित होने लगा था। यह भलाई के लिए ही एक विजय का बिगुल था। शाक्यमुनि के व्यक्तित्त्व में नैतिक पूर्णता के आदर्श को एक ठोस उदाहरण मिल गया था। इसने यह प्रदर्शित किया कि पृथिवी पर चेतना के प्रारंभ से ही सत् कर्म का भण्डार कैसे एकत्रित होता एवं परिपक्व होता है और एकत्रित होकर यह व्यक्ति में प्रस्फुटित हो सकता है एवं शत्रुओं के संसार में भी यह एक वास्तविक घटना बन सकता हैं। अतः **बुद्धः** अपने आध्यात्मिक पूर्वजों द्वारा पूर्व में संग्रहीत सत् कर्मों का परिपाक थे। उसी समय वे नए कर्म के अंकुरित होने के लिए प्रारंभिक बिन्दु थे, क्योंकि उनकी नैतिक ''गतिविधि के बीज,'' जो उनके जीवनकाल में उत्पन्न हुए थे, प्रचुर मात्रा में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जहाँ कहीं भी उनके सद्गुण एवं शिक्षाएँ लागू की गई थीं। अर्थात् सभी चेतन प्राणियों की आत्माओं में उनके कर्म बीज बो दिए गए हैं। इन बीजों में से प्रत्येक, जो संख्या में असीम हैं, नैतिक गतिविधि का एक नया केन्द्र बन जाएगा। यह कितना मजबूत बनता है और फल देता है, यह इसी अनुपात में बुरे कर्म करने वालों के बीजों को नष्ट कर देता है। सत् कर्म एक मिश्रित ढाल एवं तलवार है, जब कि यह अपने आप को सुरक्षित करती है और अपने विरुद्ध हर चीज को नष्ट कर देती है। अतः सत् कर्म स्थिर रूप से न केवल अमर नहीं है, परन्तु यह इस प्रकार गतिशील है अर्थात्, इसका अमृतत्त्व जन्म एवं मृत्यु में केवल अनुपस्थिति नहीं है, परन्तु यह अपनी नैतिक कार्यकुशलता में एक सत सकारात्मक वृद्धि है।

धर्मपरायण बौद्ध लोग यह विश्वास करते हैं कि जब भी बुरे विचारों से मुक्त हृदय से **बुद्ध** का नाम लिया जाता है, वे आत्माओं में प्रवेश करते हैं और उनकी व्यक्तित्त्व का एक आन्तरिक अंश बन जाते हैं फिर भी, इसका यह अर्थ है कि **बुद्ध** का अहंकार-आधार, जो एक मानवतारोपी ईश्वर की उपस्थिति में अपने अमर आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग कर रहा हो, उसके नाम लिए जाने पर पृथिवी पर अवतरित होता है और उस स्थिति में याचक की जो भी आवश्यकता हो, उसे पूरा करता है। दूसरी ओर इसका अर्थ है कि एक बौद्ध अपने व्यक्तिगत कर्म में उसको जागृत करता है जो बुद्ध में बुद्धत्त्व का निर्माण करता है और इसके परिपक्व होने तक इसका पोषण करता है। वह, जो बुद्धत्त्व का निर्माण

करता है, बुद्ध का वैयक्तिक अहंकार नहीं है, परन्तु उसका कर्म है। प्रत्येक अवयवी तत्त्व, जब कभी भी इसको एक मिश्रण से पृथक् होने का अवसर मिलता है, उस उष्मा को उत्पन्न करने में विफल नहीं होता है, जो इसने दूसरे तत्त्वों के साथ मिलने के समय अपने में जज्ब की थी; वास्तव में घटित होता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है मिश्रण का समय कितनी दूर रहा होगा। बुद्ध के कर्म-बीज के साथ भी ऐसा ही है। यह (कर्म बीज) एक पापी हृदय की बंजर भूमि रहा हो, और अनेक वर्षों तक वहाँ पर गहराई से दबे होने के कारण, इसके परिस्थितियों में यह विकसित होने में कभी भी विफल नहीं होगा और वह आपको उत्पन्न करेगा जो इसने संसार के प्रारंभ में बुद्ध से प्राप्त किया था। यह पुनरूत्पत्ति केवल अवयवी नहीं होगी, परन्तु मुख्य रूप से जैविक होगी; क्योंकि यह एक नियम है जो कर्म के अमृत्त्व को अनुकूलित करता है।

अध्याय 9

व्यावहारिक बौद्ध धर्म

धर्मकाय

हमने ''मीमांसात्मक बौद्धधर्म'' के अतर्गत **भूततथता** के सिद्धान्त पर विचार किया है जहाँ यह इतना गूढ़ लगा कि यह हमारे पार्थिव जीवन के लिए किसी भी प्रकार के व्यावहारिक प्रयोग के काम का नहीं है। एक सिद्धान्त के रूप में इसका हमारी धार्मिक चेतना पर कोई तात्कालिक प्रभाव दिखलाई नहीं पड़ता है। तथ्य यह है कि इससे पहले यह हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्णरूप से संतुष्ट कर सके, इसको कुछ व्यावहारिक परिवर्तनों में से गुजरना चाहिए। क्योंकि इस संसार में कोई ऐसी ठोस आकृति नहीं है जो याथातथ्य के रूप में पूर्ण हो क्योंकि— यहाँ पर प्रत्येक वस्तु को कमोबेश हमारे विकृत शारीरिक अवयवों के माध्यम से देखा जाता है; शुद्ध तर्क के बारे में भी ऐसा ही है; फिर चाहे यह अपने आप में कितना भी पूर्ण हो; हमारे प्रभावी बौद्धिक लक्ष्यों में से गुजरते हुए इसे कमोबेश रूप में रूपान्तरित दिखलाई देना चाहिए। फिर शुद्ध तर्क का यह रूपान्तरण मानवीय दृष्टिकोण से आवश्यक है; क्योंकि कोरी गूढ़ता विषयहीन एवं निर्जीव होती है, और हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए इसका कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि हमारी धार्मिक लालसा खोखले, एवं प्राणवत्ता विहीन शून्य विचारों से संतुष्ट नहीं होती है।

हम कभी-कभी तर्क के दावों की उपेक्षा कर सकते हैं और यद्यपि सामान्यतया अनजाने में उन दावों से संतुष्ट हो जाते हैं जो आलोचनात्मक ढंग से परीक्षा किए जाने पर विरोधी होते हैं। परन्तु हम किसी भी तरीके से उन धार्मिक भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं जिनकों वस्तुओं की सचाई में ही संतुष्टि उपलब्ध होती है। यदि इसने (तर्क ने) श्रद्धा के नाम पर कुछ सुस्पष्ट

विरोधाभासों को शरण दी है, यह तर्क की कीमत पर ही सदैव बहुत जरूरी माँगों को पूरा करने के कारण ही था। सचाई यह है: धार्मिक चेतना सबसे पहले तथ्य की माँग करती है, और जब इसको तथ्य मिल जाता है, यह इसके किसी भी परिणाम का नहीं है। इसकी बौद्धिक व्याख्या तार्किक ढंग से युक्तियुक्त है या नहीं। यदि दूसरी ओर तर्क बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाए और सबसे पहले अपने लिए विचार की माँग करे और बिना बड़बड़ाए भावना अपनी पगडण्डी पर चले तो हमारा जीवन निश्चित रूप से अपने मजेदार पक्ष को खो देगा, नीरस हो जाएगा; हमारा अस्तित्त्व शून्य हो जाएगा। संसार एक अर्थहीन घटनाओं की मात्र श्रृंखला बन जाएगा और जो बच जाएगा वह विनाश, बंजरपन एवं सार्वभौमिक दु:ख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा। सचाई यह है: इस जीवन में संकल्प का प्रभुत्त्व होता है और बुद्धि उसमें सहायक बनती है : यह इस तथ्य की व्याख्या करता है कि जब एक ओर सभी वर्तमान धर्म कुछ तार्किक अयथार्थ को व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर संसार की मशीनी व्याख्या अधिकाधिक रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाती है, धर्म अभी भी हमारे व्यवहारिक जीवन में सर्वत्र एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बौद्धिक व्यायाम के लिए गूढ़ता अच्छी है, परन्तु जब जीवन एवं मृत्यु का प्रश्न आता है, तब हमारे पास सैद्धान्तीकरण के अतिरिक्त कुछ और ढोस एवं प्राणवत्ता की कोई चीज होनी चाहिए। यह गणितीय दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकती है और यह एक निश्चित स्थापना भी नहीं हो सकती है, परन्तु यह कार्यकारी जीवन्त एवं यथार्थपरक सिद्धान्त होना चाहिए, अर्थात्, यह हमारे अस्तित्त्व की सबसे आन्तरिक चेतना से उत्पन्न श्रद्धा होनी चाहिए।

धार्मिक माँगों की पूर्ति करने के लिए दु:ख के लिए तब तथता के सिद्धान्त के पास और क्या रूपान्तरण हैं?

ईश्वर

बौद्धधर्म ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं करता है। इसके अधिकांश अनुयायियों के लिए यह शब्द बल्कि घृणास्पद है, विशेष रूप से जब यह भद्दे दिमागों से एक उत्पादक के विचार के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है, जिसने असत् से संसार को पैदा किया, मानवता का पतन करवाया, पश्चाताप की टीस से प्रभावित होकर भ्रष्ट लोगों को बचाने के लिए अपने एकाकी पुत्र को भेजा। परन्तु इसके कारण बौद्धधर्म का एक अनीश्वरवादी धर्म के रूप में निर्णय नहीं किया जाना

चाहिए, जो ब्रह्माण्ड की एक अज्ञेयवादी एवं भौतिक व्याख्या का समर्थन करता है। यह इससे बहुत दूर है। वास्तविकता के संसार में बौद्धधर्म अपनी उपस्थिति को दर्ज करता है, जो संघटनात्मकता की सीमाओं को अतिक्रान्त करता है, परन्तु जो फिर भी सर्वत्र अंतर्यामी है, और अपने आपको पूरी शान में अभिव्यक्त करता है और जिसमें हम रहते हैं, चलते-फिरते हैं तथा अपने अस्तित्त्व को बनाए रखते हैं।

ईश्वर या बौद्धधर्म का धार्मिक लक्ष्य सामान्यता **धर्मकाय-बुद्ध** कहलाता है और कभी-कभी **वैरोचन-बुद्ध** या **वैरोचन-धर्मकाय-बुद्ध** कहलाता है; इसके लिए एक और दूसरा नाम **अमिताभ-बुद्ध** या **अमितायुष् बुद्ध** है— ये बाद के दोनों नाम जापान एवं चीन के **सुखावती** के अनुयायियों द्वारा अधिकांश रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। फिर, हमें प्राय: **शाक्यमुनि बुद्ध** एवं **तथागत** के नाम अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व से पृथक् रूप में भी उपलब्ध होते हैं और उनका तादात्म्य सर्वोच्च सत्य एवं यथार्थ के साथ भी पाया जाता है। फिर, नामों की यह सेना भी किसी प्रकार से समाप्त नहीं होती है जिसको बौद्धों की उपजाऊ कल्पना ने अपनी आदर की वस्तु के रूप में खोजा था, जो उनकी अपनी विभिन्न आध्यात्मिक आवश्यकताओं के लिए जरुरी था।

धर्मकाय

पश्चिमी विद्वान सामान्यतया **धर्मकाय** को ''धर्म का शरीर'' के रूप में अनूदित करते हैं, धर्म से उनका तात्पर्य **शाक्यमुनि बुद्ध** के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से है। यह कहा जाता है कि जब बुद्ध स्वयं अपने आपको शाश्वत निर्वाण में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे थे, उन्होंने अपने शिष्यों को उनके द्वारा बतलाए गए धर्म को उनका अपना रूप मानकर आदर करने का निर्देश दिया, क्योंकि एक व्यक्ति अपने कार्य, कर्म एवं अपने पीछे छोड़े गए शब्दों में लगातार जीवित रहता है। इसलिए, पश्चिमी विद्वान, **धर्मकाय** को अपने धर्म में अवतरित बुद्ध के व्यक्ति के रूप में समझने लगे। इस शब्द की यह व्याख्या बहुत सटीक नहीं है, फिर यह महायान के मूलभूत सिद्धान्तों से संबंधित कुछ गंभीर भ्रान्तियों को उत्पन्न करने वाली है। ऐतिहासिक दृष्टि से, बुद्ध-अवतार के रूप में **धर्मकाय** का अर्थ धर्म का शरीर रहा होगा, जैसा हम कुछ महायान ग्रंथों में इसके आकस्मिक प्रयोग से अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु जैसा यह पूर्वी बौद्धों द्वारा प्रयुक्त हुआ है, इसने

एक बिल्कुल ही नई भूमिका को ग्रहण कर लिया है, जिसका बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित धार्मिक शिक्षाओं के समूह के साथ कोई सरोकार नहीं है।

धर्मकाय के विचार में यह रूपान्तरण महायानियों की **धर्म** की विभिन्न व्याख्याओं के कारण हुआ है। **धर्म** एक बहुत ही अर्थपूर्ण शब्द है और अर्थ की एक व्यापक शृंखला को अपने आप में समाहित करता है। यह शब्द धृ (धातु) से बनता है, जिसका अर्थ है, ''धारण करना'', ''ले जाना'', ''सहन करना'', और **धर्म** शब्द का आदिम भाव था, ''जो ले जाता है, या धारण करता है या आश्रय प्रदान करता है,'' और फिर इसका अर्थ हो गया, ''जो नियम को बनाता है या चीजों के मार्ग का नियमन करता है'' अर्थात् ''नियम'', ''संस्था'', ''कानून'', ''सिद्धान्त'', ''कर्त्तव्य'', ''न्याय'', ''सद्‌गुण'', ''नैतिक पुण्य'', ''चरित्र'', ''लक्षण'', ''समता'', ''स्वभाव'', ''जो विद्यमान रहता है'', ''यथार्थ'', ''सत्'', आदि, आदि। प्राच्यविदों द्वारा धर्म के लिए अधिकांश रूप में प्रयुक्त होने वाला शब्द नियम या सिद्धान्त है। जहाँ तक पालि ग्रथों का संबंध है, यह बिल्कुल ठीक हो सकता है; परन्तु जब हम इस व्याख्या को **धर्मधातु, धर्मकाय, धर्मलक्ष्य, धर्मलोक** जैसे महायानी शब्दों पर लागू करना चाहते हैं, हम एक विचित्र स्थिति में पड़ जाते हैं कि हम उन शब्दों के अर्थ को समझने में असमर्थ हो जाते हैं। महायान साहित्य में ऐसे संदर्भ हैं जिनमें ग्रंथ का पूरा अर्थ इस बात पर निर्भर करता है कि हम **धर्म** शब्द को कैसे समझते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि उन कई कारणों में से एक यह है कि बौद्धधर्म के ईसाई विद्यार्थी क्यों प्रायः महायान के महत्त्व को पहचानने में विफल हो जाते हैं, ऐसा उनकी धर्म की गलत व्याख्या के कारण होता है। अतः **मैक्समूलर वज्रच्छेदिकासूत्र** के अपने अंग्रेजी अनुवाद में समुचित ढंग से यह टिप्पणी करते हैं, जब वे कहते हैं, ''यदि हम हमेशा ही **धर्म** का नियम के रूप में अनुवाद करते हैं, मुझे ऐसा लगता है कि हमारे ग्रंथ का पूरा आशय ही दुर्बोध्य हो जाएगा।'' न केवल महायान का वह विशिष्ट ग्रन्थ अपितु इसका पूरा साहित्य ही अबोधगम्य हो जाएगा।

अपने विशिष्ट एवं सामान्य अर्थ में महायान बौद्धधर्म के अनेक संदर्भों में धर्म का अर्थ, ''वस्तु'', ''पदार्थ'' या ''सत्'' या ''यथार्थ'' है, यद्यपि इसका प्रयोग प्रायः नियम या सिद्धात के अर्थ में किया जाता है। काय को ''शरीर'' के रूप में अनूदित किया जा सकता है, व्यक्तित्त्व के अर्थ में नहीं, परन्तु पद्धति,

एकता और संगठित रूप में अनूदित किया जा सकता है। धर्म एवं काय का संमिश्रण **धर्मकाय** का इस प्रकार की संगठित संपूर्णता या ब्रह्माण्डीय एकता का सिद्धान्त है, यद्यपि एक विशुद्ध दार्शनिक विचार के रूप में नहीं परन्तु धार्मिक चेतना के एक लक्ष्य के रूप में। फिर, इस संपूर्ण ग्रंथ में किसी अंग्रेजी समानान्तर शब्द की अपेक्षा मूल संस्कृत शब्दों को ग्रहण किया जाएगा, जो अंग्रेजी शब्द अब तक प्रयुक्त हुए हैं। क्योंकि **धर्मकाय** का शब्द पूर्वी बौद्ध लोगों को एक विशिष्ट धार्मिक आस्वाद संप्रेषित करता है जिसका अब ईश्वर या सर्वस्व या किसी गूढ़ दार्शनिक शब्दों में अनुवाद किया जाता है, तो यह अत्यधिक रूप से दूषित हो जाता है।

धार्मिक लक्ष्य के रूप में धर्मकाय

जैसा पहले बतलाया जा चुका है, **धर्मकाय** दार्शनिक चिन्तन का परिणाम नहीं है और **तथता** के बिल्कुल समानान्तर नहीं है; धार्मिक चेतना के लक्ष्य के रूप में इसका एक धार्मिक महत्त्व है। **धर्मकाय** एक आत्म है, एक संकल्प और ज्ञाता पुरुष, एक ऐसा जो इच्छा एवं बुद्धि है, विचार एवं कार्य है। जैसा महायानी इसे समझते हैं, **तथता** की भाँति यह एक गूढ़ तात्त्विक सिद्धान्त नहीं है, परन्तु यह एक जीवन्त भावना है, जो अपने आपको प्रकृति एवं विचार में अभिव्यक्त करती है। इस भावना की अभिव्यक्ति के रूप में ब्रह्माण्ड अन्धी शक्तियों का एक अर्थहीन प्रदर्शन नहीं है, न ही यह विरोधी मशीनी शक्तियों के लिए संघर्ष का क्षेत्र है। क्योंकि बौद्ध लोग **धर्मकाय** पर असंख्य पुण्य एवं सद्गुणों, और एक परम पूर्ण बुद्धि का आरोप करते हैं; और इसको प्रेम एवं **करुणा** का अक्षय मूल स्रोत बतलाते हैं; और यह इसी संदर्भ में है कि केवल उदासीन एवं निर्जीव तात्त्विक, सिद्धान्त की अपेक्षा **धर्मकाय** अन्तिम रूप में एक बिल्कुल भिन्न ही पक्ष को ग्रहण करता है। **अवतंसकसूत्र** धर्मकाय की प्रकृति से संबंधित कुछ व्यापक कथन निम्न प्रकार से देता है : ''त्रैलोक में अपने आपको अभिव्यक्त करता हुआ **धर्मकाय** अशुद्धियों एवं इच्छाओं से मुक्त है। कर्म की पुकार को स्वीकार करता हुआ यह अपने आपको यहाँ-वहाँ स्वयं सर्वत्र उद्घटित करता है। यह एक व्यक्तिगत यथार्थ नहीं है, यह मिथ्या अस्तित्त्व भी नहीं है, परन्तु यह सार्वभौमिक एवं विशुद्ध है। यह कहीं से नहीं आता है, यह कहीं भी नहीं जाता है, यह अपने बारे में कोई दावा नहीं करता है, न ही यह उच्छेद के

अधीन है। यह हमेशा ही शान्त एवं शाश्वत है। यह एकाकी है और सभी संकल्पों से शून्य है। धर्म के इस शरीर की कोई सीमा नहीं है, कोई दिशा नहीं है, परन्तु यह सभी शरीरों में स्थित है। इसका स्वातन्त्र्य या सहजता अबोधगम्य है, शरीरी वस्तुओं में इसकी आध्यात्मिक उपस्थिति अबोधगम्य है। शारीरिकता के सभी स्वरूप इसमें विद्यमान हैं, यह सभी पदार्थों की सृष्टि करने में समर्थ है। कर्म की प्रकृति एवं स्थिति की आवश्यकता के अनुसार कोई भी ठोस भौतिक शरीर धारण करते हुए यह सभी सृष्टियों को प्रकाशित करता है। यद्यपि यह बुद्धि का कोष है, यह वैशिष्ट्य शून्य है। ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह शरीर विद्यमान नहीं है। ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, परन्तु यह शरीर हमेशा ही विद्यमान रहता है। यह सभी विरोधों एवं विपरीतों से मुक्त है, फिर भी यह सभी पदार्थों में उनको निर्वाण की ओर अग्रसर करने के लिए कार्य कर रहा है।''

और अधिक विस्तृत चरित्र-चित्रण

ऊपर **धर्मकाय** का एक सामान्य एवं संक्षिप्त वर्णन दिया गया है, परन्तु मैं इसका और अधिक विस्तृत विवरण नीचे उद्धृत करता हूँ ताकि हम इस सर्वोच्च सत् के विशिष्ट बौद्ध स्वरूप को और स्पष्टता तथा निश्चत रूप से देख सकें।[1]

''हे बुद्धपुत्रों! **तथागत**[2] कोई विशिष्ट धर्म नहीं है, न ही यह एक विशिष्ट प्रकार की गतिविधि है, न ही इसका कोई विशिष्ट शरीर है, न ही यह किसी विशिष्ट स्थान में निवास करता है, न ही इसका मुक्ति प्रदान करने का कार्य किसी विशिष्ट लोगों तक ही सीमित है। इसके विपरीत यह अपने आप में असंख्य धर्मों, असंख्य गतिविधियों, असंख्य शरीरों, असंख्य आकारों को आवृत्त करता है, और सार्वभौमिक रूप से सभी पदार्थों की मुक्ति के लिए कार्य करता है।

हे बुद्धपुत्रों! यह आकाश के समान अनन्त है। आकाश[3] अपने आपमें सभी भौतिक अस्तित्त्व को समाए हुए है और उन अस्तित्त्व के बीच विद्यमान रहने वाले सभी शून्यों (स्थानों) को भी अपने आपमें समाए हुए है। फिर, यह आपको सभी संभव दिशाओं में स्थित करता है, और फिर भी हम इसके बारे में यह नहीं

1. **अवतंसकसूत्र, बुद्धभद्र द्वारा** चीनी अनुवाद, पुस्तिका XXXIV।
2. यह वैयक्तिकृत **धर्मकाय** है।
3. हिन्दू दर्शन में आकाश को हमेशा ही एक वस्तुनिष्ठ ईकाई के रूप में कल्पित किया गया है जिसमें सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं।

कह सकते हैं कि यह इस विशिष्ट स्थान पर है या नहीं है क्योंकि आकाश का कोई स्पृश्य रूप नहीं है। तथागत के **धर्मकाय** के बारे में भी ऐसा ही है। यह अपने आपको सभी स्थानों में प्रस्तुत करता है, सभी दिशाओं, सभी धर्मों में, और सभी व्यक्तियों में यह अपने आपको प्रस्तुत करता है; फिर भी **धर्मकाय** स्वयं उस प्रकार से विशिष्ट नहीं बन पाया है। क्योंकि तथागत के काय के पास कोई विशिष्ट शरीर नहीं है परन्तु यह अपने आपको वस्तुओं की प्रकृति एवं स्थिति के प्रत्युत्तर में सर्वत्र एवं कहीं भी अभिव्यक्त करता है।

"हे बुद्धपुत्रों! यह आकाश के समान अनन्त है। आकाश असीम है, अपने आपमें सारे अस्तित्व को समेटे हुए है, और फिर भी, यह मनोविकार (पक्षपात) का कोई चिह्न प्रदर्शित नहीं करता है। तथागत के **धर्मकाय** को विषय में भी ऐसा ही है। यह सांसारिक एवं धार्मिक सभी अच्छे कामों को प्रकाशित करता है, परन्तु यह कोई मनोविकार या पूर्वाग्रह को प्रकट नहीं करता है। क्यों? क्योंकि **धर्मकाय** पूर्णतया सभी मनोविकारों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त है।[1]

"हे बुद्धपुत्रों! यह सूर्य के समान अनन्त है। पृथिवी के सभी जीवन्त प्राणियों को सूर्य के प्रकाश द्वारा प्रदत्त लाभ गणनातीत हैं : उदाहरणार्थ, अंधकार का विनाश करने से यह सभी वृक्षों जड़ी बूटियों, धान्य, पौधों एवं घास को आहार प्रदान करता है; यह उमस को समाप्त करता है, यह आकाश को प्रकाशित करने से वायु के सभी जीवन्त सत्त्वों को लाभान्वित करता है; इसकी किरणें जल में प्रवेश करने से कमलों को पूर्णरूप से पुष्पित करवाती हैं; यह सभी आकृतियों एवं स्वरूपों पर बिना भेद-भाव के चमकता है और पृथिवी के सभी कार्यों को पूर्ण करवाता है। क्यों? क्योंकि सूर्य से जीवन प्रदान करने वाले प्रकाश की असंख्य किरणें निकलती हैं।

"हे बुद्धपुत्रों! तथागत की सूर्यकाय के बार में भी ऐसा ही है जो असंख्य तरीकों से सभी प्राणियों को लाभान्वित करता है। अर्थात्, यह बुराइयों का विनाश

1. इसको इस अर्थ में समझा जाना चाहिए कि, "ईश्वर बुराई एवं भलाई पर अपने सूर्य को उदित होने के लिए भेजता है, और उचित एवं अनुचित पर वर्षा करता है।" **धर्मकाय** अपने प्रेम में सार्वभौमिक है, जैसे आकाश अपनी बोधगभ्यता में है, क्योंकि यह उन मानव ईच्छाओं एवं मनोविकारों से पूर्णतया मुक्त है जो अहंकार के परिणाम हैं और अतः वे हमेशा ही विभेदात्मक एवं ऐकान्तिक होते हैं।

करके हमें लाभान्वित करता है, इस प्रकार सभी अच्छी चीजें शीघ्रता से विकसित हो जाती हैं: यह अपने सार्वभौमिक प्रकाश से हमें लाभान्वित करता है जो सभी प्राणियों के अज्ञान रूपी अन्धकार को परास्त करता है, यह अपने दयालु हृदय के माध्यम से हमें लाभान्वित करता है जो सभी प्राणियों को बचाता है और उनकी सुरक्षा करता है यह अपने महान प्रेमी हृदय के माध्यम से हमें लाभान्वित करता है जो सभी प्राणियों को जन्म एवं मृत्यु के दुःख से मुक्ति प्रदान करता है। यह एक सद्धर्म की स्थापना से हमें लाभान्वित करता है जिसके द्वारा हम सब अपनी नैतिक गतिविधियों में शक्तिशाली बनते हैं। यह सत्य में दृढ़ विश्वास प्रदान करने से हमें लाभान्वित करता है जो हमारी आध्यात्मिक अशुद्धियों को शुद्ध करता है। यह उस सिद्धान्त को समझने में सहायता प्रदान करने से हमें लाभान्वित करता है जिसके कारण हम कारणता के सिद्धान्त से मुकरते नहीं है। यह एक दिव्य दृष्टि प्रदान करने से हमें लाभान्वित करता है जो हमें सभी चीजों के पुनर्जन्म को देखने में समर्थ बनाता है। यह हमें हिंसात्मक कार्यों को त्यागने से लाभान्वित करता है जो सभी प्राणियों द्वारा संग्रहीत पुण्यसंभार को नष्ट कर सकता है। यह हमें बौद्धिक प्रकाश प्रदान करने से लाभान्वित करता है जो सभी प्राणियों के मन-पुष्पों को उद्घाटित करता है। यह हमें एक प्रेरणा से लाभान्वित करता है जो हमें बुद्धत्व का व्यवहार करने में जीवन्त बनाता है। क्यों? क्योंकि तथागत की काय सार्वभौमिक रूप से बौद्धिक प्रकाश की किरणें संप्रेषित करती है।

''हे बुद्धपुत्रो! जब प्रातः काल होता है, उदीयमान सूर्य पहले सभी ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर चमकता है, फिर ऊँचे पहाड़ों पर चमकता है, और अन्तिम रूप से मैदानों एवं खेतों में चमकता है; परन्तु सूर्य प्रकाश स्वयं यह विचार नहीं करता है कि मैं सभी सबसे ऊँचे पहाड़ों पर पहले चमकूँगा और धीरे-धीरे ऊँचे से नीचे उतरता हुआ मैदानों एवं खेतों में चमकूँगा। दूसरे की अपेक्षा एक व्यक्ति पहले सूर्य प्रकाश को क्यों प्राप्त करता है— इसका कारण केवल यह है कि पृथिवी की तह पर ऊचाई का अनुक्रम है।

''हे बुद्धपुत्रो! तथागत के बारे में भी ऐसा ही है जिसके पास सार्वभौमिक बुद्धि के असंख्य एवं अतुलनीय सूर्य विद्यमान हैं। तथागत के आध्यात्मिक कार्य से अनन्त रूप में निकलने वाली बौद्धिक प्रकाश की असंख्य किरणें पहले बोधिसत्त्वों एवं महासत्त्वों पर गिरेंगी, जो मानवता के सबसे ऊँचे शिखर हैं, फिर

निदानबुद्धों पर, फिर, श्रावकों पर और फिर उन लोगों पर जो निश्चित रूप से सत्‌चरित्र से युक्त हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक अपने सामर्थ्य के अनुसार बिना हिचकिचाहट के मुक्ति के सिद्धान्त का आलिंगन करेंगें, और अन्तिम रूप से उन साधारण मर्त्यों पर गिरेंगी जिनका चरित्र या तो अनिश्चित रूप या निश्चित रूप से बुरा हो सकता है। यह उनको वे परिस्थितियाँ प्रदान करेगा जो उनके भविष्य के जन्मों में लाभप्रद सिद्ध होंगी। परन्तु तथागत से निकलने वाला बौद्धिक प्रकाश यह विचार नहीं करता है : मैं पहले बोधिसत्त्वों पर पहले चमकूँगा और फिर धीरे-धीरे सामान्य लोगों के पास जाऊँगा, आदि। यह प्रकाश सार्वभौमिक है और बिना किसी पूर्वाग्रह के सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, फिर भी उसके वैविध्य के कारण, जो उनके चरित्र एवं आकांक्षाओं की वजह से चेतन प्राणियों में विद्यमान है, बौद्धिक प्रकाश उनके द्वारा विभिन्न ढंग से देखा जाता है।

''हे बुद्धपुत्रो! जब सूर्य क्षितिज के ऊपर उदित होता है, अपनी खराब दृष्टि के कारण जन्म से अन्धे लोग प्रकाश को बिल्कुल भी नहीं देख सकते हैं, परन्तु फिर भी वे सूर्य के प्रकाश से लाभान्वित होते हैं, क्योंकि यह जैसे दूसरे प्राणियों को देता है, यह उनको भी उतना ही देता है, जो सब जीवनयापन के लिए आवश्यक है : यह सीलन (नमी) और ठंडक को दूर करता है और उनको आनन्दमय बनाता है, यह सभी घातक कीटाणुओं को नष्ट करता है जो सूर्य की रोशनी की अनुपस्थिति में पैदा होते हैं और इस प्रकार वह नेत्रहीन एवं नेत्रवाले लोगों को सुखी एवं स्वस्थ रखता है।

''हे बुद्धपुत्रो! तथागत की बुद्धि के सूर्य के साथ भी ऐसा ही है। वे सभी लोग, जिनकी आध्यात्मिक दृष्टि मिथ्या सिद्धान्त से अन्धी है या बुद्ध के नियमों का उलंघन करने के कारण, या अविद्या से, या बुरे प्रभावों के कारण बुद्धि के प्रकाश को कभी भी नहीं देख पाते हैं; क्योंकि वे श्रद्धा से शून्य हैं। परन्तु फिर भी वे प्रकाश से लाभान्वित होते हैं; क्योंकि यह चार तत्त्वों से उत्पन्न होने वाले सभी प्राणियों के दु:खों को बिना भेद-भाव के समाप्त करता है, क्योंकि यह सभी विश्वास करने वाले और न विश्वास करने वाले लोगों के आवेगों, पूर्वाग्रहों एवं दु:खों की जड़ का विनाश करता है— बुद्धि के सर्वव्यापी प्रकाश के कारण बोधिसत्त्व पूर्ण विशुद्धि एवं सभी चीजों का ज्ञान प्राप्त करेंगे, निदानबुद्ध श्रावक

आवेगों एवं इच्छाओं को नष्ट करेंगे, गरीब मर्त्य एवं जन्मान्ध लोग अशुद्धियों से मुक्ति प्राप्त करेगें, अपनी इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त करेगें और चार दृष्टियों में विश्वास करेंगे।[1] नरक, प्रेतलोक एवं पशुलोक जैसे अस्तित्त्व के बुरे मार्गों में रहने वाले प्राणी अपनी बुराइयों एवं कष्टों से मुक्त हो जाएँगे और अपनी मृत्यु के बाद वे मानवलोक या स्वर्गिक लोक में पैदा होंगे।

''हे बुद्धपुत्रों! **धर्मकाय** का प्रकाश पूर्ण चन्द्र के समान अनन्त है जिसके चार आश्चर्यमय लक्षण हैं: (1) यह अपनी आभा में सभी तारों एवं नक्षत्रों को परास्त करता है; (2) यह अपने आकार में वृद्धि एवं क्षय को प्रदर्शित करता है जैसे जम्बुद्वीप में दृष्टिगोचर होता है; (3) इसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक बूँद या स्वच्छ जल के आकार में दिखलाई पड़ता है; और (4) जो कोई भी पूर्ण दृष्टि से युक्त है, इसे देख सकता है।

हे बुद्धपुत्रों! **तथागत** के **धर्मकाय** के बारे में भी ऐसा ही है, जिसके चार आश्चर्यमय लक्षण हैं : (1) यह निदानबुद्धों, श्रावकों आदि के तारों को भी ग्रस लेता है; (2) यह अपने पार्थिव जीवन में एक निश्चित वैभिन्य प्रकट करता है जो प्राणियों की विभिन्न प्रकृति के कारण है, जिनको यह अपने आपको[2] अभिव्यक्त करता है, जबकि **धर्मकाय** स्वयं शाश्वत है और किसी भी प्रकार से कोई वृद्धि या क्षय प्रकट नहीं करता है; (3) प्रत्येक शुद्धहृदय वाले चेतन प्राणी की बोधि में इसका प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है; और (4) वे सभी लोग जो धर्म को समझते हैं और प्रत्येक अपनी अपनी मानसिक योग्यता के अनुसार मुक्ति

1. चार दृष्टियाँ है : भौतिक शरीर अशुद्धियों का परिणाम है, कामुकता दुःख देती है, वैयक्तिक आत्मा नित्य नहीं है, और सभी पदार्थ आत्मा से रहित हैं।

2. अर्थात् **धर्मकाय**, प्राणियों की एक कोटि के लोगों के लिए उनकी आवश्यकता अनुसार अपने आपको अभिव्यक्त करने वाला **धर्मकाय** अस्तित्त्व के सभी स्वरूपों को ग्रहण करता है, विश्वास करने वाले लोगों द्वारा कभी वह एक अल्पायु वाले देवता के रूप में कल्पित किया जाता है, कभी एक अमर जीव के रूप में, कभी एक सौ कल्पों वाला स्वर्गिक प्राणी, और कभी-कभी एक क्षण के अस्तित्त्व के रूप में कल्पित किया जाता है। क्योंकि इतने विभिन्न स्वभाव, चरित्र, कर्म, बौद्धिक उपलब्धियाँ, नैतिक वातावरण आदि हैं, अतः चेतन प्राणियों के चित्तों में जितने व्यक्तिपरक ढंग से **धर्मकाय** व्यक्त है, उतने ही **धर्मकाय** हैं, यद्यपि वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करने पर एक ही परम **धर्मकाय** है।

प्राप्त करते हैं-यह सोचते हैं कि उन्होंने अपने ढंग से साक्षात् वास्तव में **तथागत** को पहचान लिया है, जबकि **धर्मकाय** स्वयं समझने की कोई एक विशिष्ट पदार्थ नहीं है; परन्तु सार्वभौमिक रूप से सभी बुद्ध-कार्यों को पूर्ण करता है।

"हे बुद्धपुत्रो! **धर्मकाय** महान ब्रह्मराज के समान अनन्त है जो तीन हजार लोकों पर शासन करता है। एक रहस्यात्मक जादू से ब्रह्मराज सार्वभौमिक रूप से अपने क्षेत्र में अपने आपको सभी जीवन्त प्राणियों को दिखलाता है और उनको यह अनुभव करवाता है कि उनमें से प्रत्येक ने उसका साक्षात्कार कर लिया है; परन्तु ब्रह्मराज ने कभी भी अपने शरीर को विभाजित नहीं किया है, न ही उसके पास नानाविध लक्षण हैं।

"हे बुद्धपुत्रो! **तथागत** के बारे में भी ऐसा ही है; उसमें अपने आपको अनेकों में विभाजित नहीं किया है, न ही उसने कभी भी नानाविध लक्षण ग्रहण किए हैं। परन्तु सभी प्राणी, प्रत्येक अपनी समझ एवं श्रद्धाबल के अनुसार **तथागत** के शरीर को पहचानता है, परन्तु उसने कभी भी यह विचार नहीं किया कि वह ऐसे-ऐसे किसी खास व्यक्ति को अपने को प्रकट करेगा और दूसरों को नहीं प्रकट करेगा।

"हे बुद्धपुत्रो! **धर्मकाय** जल में मणिरत्न के समान अनन्त है, जिसका, आश्चर्यमय प्रकाश अपने संपर्क में आने वाले हर पदार्थ को अपने रंग में रूपान्तरित कर देता है। उसको देखने वाले नेत्र विशुद्ध हो जाते हैं। जहाँ पर भी इसका प्रकाश पहुँचता है, वहाँ पर सब प्रकार की मणियों का आश्चर्यजनक प्रदर्शन होता है, जो सभी प्राणियों को देखने में आनन्द देता है।

"हे बुद्धपुत्रो! **तथागत** के धर्मकाय के बारे में भी ऐसा ही है, जिसको समुचित प्रकार से कोषों का कोष कहा जा सकता है, जो सभी पुण्यों का विश्वकोष एवं बुद्धि की खान कहा जा सकता है। जो कोई भी इस प्रकाश के संपर्क में आता है, वह बुद्ध के रंग में रूपान्तरित हो जाता है। जो कोई भी इस प्रकाश को देखता है, सभी धर्म के सबसे विशुद्ध नेत्र को प्राप्त कर लेते हैं। जो कोई भी इस प्रकाश के संपर्क में आता है, गरीबी एवं दु:ख से मुक्त हो जाता है, धन एवं प्रसिद्धि को प्राप्त करता है, अतुलनीय बोधि के आनन्द का उपभोग करता है ···।"

धर्मकाय और व्यक्तिगत प्राणी

इन कथनों से यह स्पष्ट है कि **धर्मकाय** या बौद्धिक शरीर, इसे जो भी नाम दें, मात्र कोई दार्शनिक कल्पना नहीं है, जो जन्म एवं मृत्यु, सुख एवं दुःख के संसार से पृथक् स्थित है, यह मानवता की मूर्खता पर शान्त भाव से चिन्तन करता है; परन्तु यह एक आध्यात्मिक जीवन है जो नितान्त अकेला, वास्तविक एवं सत्य है और सभी प्राणियों का उद्देश्य है, उपाय के सभी प्रकारों को अतिक्रान्त करता है, इच्छाओं एवं संघर्षों से मुक्त है और हमारी सीमित समझ के क्षेत्र से बाहर है''[1] यह भी स्पष्ट है कि **धर्मकाय** यद्यपि स्वयं अविद्या, क्लेश एवं तृष्णा से मुक्त है, मानव प्राणियों की सीमित एवं खण्डित चेतना में प्रकट होता है, ताकि हम एक अर्थ में यह कह सकते हैं कि "मेरा यह शरीर **धर्मकाय** है"— यद्यपि पूर्ण रूप से नहीं; और सामान्य रूप में भी कि "सभी प्राणियों का शरीर **धर्मकाय** है, और **धर्मकाय** सभी प्राणियों का शरीर है",— यद्यपि यह सभी प्राणियों में केवल अपूर्ण एव आंशिक रूप से ही अनुभूत होता है। क्योंकि हम इस प्रकार अपने में स्वयं **धर्मकाय** का कुछ (अंश) ग्रहण कर लेते हैं, अन्तिम रूप से हमारी सबकी नियति बुद्धत्त्व को प्राप्त करने की है, जब मानव बुद्धि **बोधि धर्मकाय** से पूर्ण रूप से तादात्म्य स्थापित करती है या उसमें विलीन हो जाती है, और जब हमारा पार्थिव जीवन **धर्मकाय** की इच्छा की अनुभूति बन जाता है।

प्रेम के रूप में धर्मकाय

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विचार हमको बाध्य करता है, जो यह है कि **धर्मकाय** न केवल एक बुद्धिमान मन है परन्तु यह एक प्रेमी हृदय भी है, कि यह न केवल संकीर्णता का देवता है, जो कर्म के नियम से बालभर के व्यतिक्रम की अनुज्ञा नहीं प्रदान करता है, परन्तु वह दया का एक अवतार भी है, जो एक महत्त्वहीन पुण्य को भी एक बढ़िया परिणाम देने वाले क्षेत्र में विकसित करने के लिए लगातार श्रम कर रहा है। **धर्मकय** गलती करने वाले को कठोर रूप से दण्डित करता है और बिना पर्याप्त कारण उनके कर्म की समाप्ति की आज्ञा प्रदान नहीं करता है; और फिर भी **धर्मकाय** के हाथ सर्वोच्च भलाई को वास्तविक रूप देने के लिए हमारे जीवन को हमेशा ही निर्देशित करते हैं। "प्रकृति की

---

1. असंग का महायानसंपरिग्रह।

टीसें, इच्छा के पाप, संदेश के दोष, और खून के छीटें"— बुराई करने वालों के कर्म वास्तव में निराशाजनक एवं अन्धकार पूर्ण होते हैं। परन्तु असीम प्रेम एवं भलाई वाला **धर्मकाय** इस सांसारिक-कार्य संपादान को एक आनन्दमय अन्त तक लाने की लगातार व्यवस्था कर रहा है। प्रत्येक भलाई जो हम करते हैं पुण्यों के सार्वभौमिक भण्डार में विलीन हो जाती है जो किसी भी प्रकार से **धर्मकाय** से कम या ज्यादा नहीं है। प्रेम एवं दयालुता का प्रत्येक कार्य जो हम करते हैं, **तथागत** के गर्भाशय में गर्भ धारण करता है, और वहाँ पर यह पोषित एवं परिपक्व होता है, कर्म के इस संसार में फल देने के लिए लाया जाता है। अत: कोई भी जीवन इस पृथिवी पर उद्देश्यहीन नहीं है; कोई भी भूसी अशमनीय अग्नि में नहीं फेंकी जाती है। महान या महत्त्वहीन प्रत्येक अस्तित्त्व **धर्मकाय** की आभा का प्रतिबिम्ब है, और इस प्रकार से यह सबको आलिंगन करने वाले प्रेम के योग्य है।

इस दृटिकोण को और अधिक सर्मर्थित करने के लिए हम आकस्मिक ढंग से महायानसूत्र[1] से यह उद्धृत करते हैं:

"एक महान प्रेमी हृदय से
सभी प्राणियों की प्यासी इच्छओं को वह
शान्त एवं तरोताजा ढंग से पूरा करता है,
वह सबके बारे में करुणा से सोचता है,
आकाश के समान उसकी कोई सीमाएँ नहीं हैं,
संसार की पूरी सृष्टि को
बिना किसी वैशिष्ट्य वह ग्रहण करता है।
"एक महान, करुणामय एवं प्रेमी हृदय से,
सभी चेतन प्राणी उसके द्वारा आलिंगित किए जाते हैं
सभी बढ़िया विशुद्ध बेदाग उपायों से
असंख्य प्राणियों को वह सुरक्षित रखता है और मुक्ति देता है
"अतुलनीय प्रेम एवं करुणा से
सार्वभौमिक रूप से सभी प्राणियों की वह परवाह करता है

1. **अवतंसकसूत्र** अध्याय, 13, "पुण्य" (वाले अध्याय में)।

फिर भी हृदय उसका आसक्तिहीन है।
''क्योंकि उसकी करुणा महान एवं असीम है,
स्वर्गिक आनन्द वह सब पर न्योछावर करता है,
वह अपने आपको सारे ब्रह्माण्ड में प्रदर्शित करता है
जब तक सच्चा बुद्धत्व प्राप्त नहीं आता वह आराम नहीं करेगा।''

धर्मकाय के बारे में परवर्ती महायानियों का दृष्टिकोण

उपर्युक्त बातें महायान, बौद्धधर्म के तथाकथित सूत्र साहित्य से एकान्तिक रूप में उद्धत की गई हैं, जो इस संप्रदाय के अन्य धार्मिक-दार्शनिक ग्रंथों से भिन्न हैं, क्योंकि सूत्रों को स्वयं बुद्ध के कथन के रूप में समझा गया है, जैसा उनके तात्कालिक शिष्यों द्वारा उल्लिखित किया गया था।[1] इसकी आगे की व्याख्या के रूप में हमें यह देखना चाहिए कि **असंग**, **वसुबन्धु** जैसे लेखक **धर्मकाय** के विषय में क्या दृष्टिकोण रखते थे।

असंग एवं **वसुबन्धु** के महायानसंपरिग्रह नामक ग्रंथ में हम निम्नलिखित कथन पढ़ते है :

''जब **बोधिसत्त्व धर्मकाय** पर विचार करते हैं, वे इसके विषय में अपने संबंध में क्या सोचते हैं?

''यदि संक्षेप में कहें तो, वे अपने को बीच में रखकर **धर्मकाय** के सात लक्षणों पर विचार करेंगे, जो **धर्मकाय** के निर्दोष गुण एवं आवश्यक कार्य हैं। (1) **धर्मकाय** की अद्धितीय अबाधित एवं स्वतन्त्र गतिविधि के बारे में सोचो, जो सभी प्राणियों में अभिव्यक्त है, (2) **धर्मकाय** के सभी पूर्ण सद्‌गुणों की शाश्वतता के बारे में सोचो, (3) बौद्धिक एवं प्रभावी पूर्वाग्रहों से इसके पूर्ण स्वातन्त्र्य के बारे में सोचो; (4) उन सहज गतिविधियों के बारे में सोचो जो **धर्मकाय** के संकल्प ये अबाधित रूप से निकलती हैं; (5) **धर्मकाय** में संग्रहीत आध्यात्मिक एवं शारीरिक संपत्ति के बारे में सोचो; (6) इसकी आध्यात्मिक

1. किसी भी प्रकार से यह ऐसा नहीं है, क्योंकि महायान सूत्रों में से कुछ बुद्ध के निकटतम अनुयायियों की अपेक्षा निश्चित रूप से बाद के हैं, यद्यपि निःसन्देह यह ज्यादा संभव है कि महायान के त्रिपिटक संबंधी अधिकांश महत्त्वपूर्ण ग्रंथ बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के कुछ वर्षों में ही संग्रहीत किए गए थे।

विशुद्धि के बारे में सोचो जिसमें एकपक्षता का कोई भी दाग नहीं है; (7) **तथागतों** द्वारा सभी प्राणियों की मुक्ति के लिए किए गए पार्थिव कार्यों के बारे में सोचो, जो **धर्मकाय** के प्रतिबिम्ब ही हैं।''

जहाँ तक **धर्मकाय** की गतिविधि का प्रश्न है, जो बुद्ध के प्रत्येक मुक्ति कार्य में प्रदर्शित होती है, **असंग** कार्यों के पाँच स्वरूपों का वर्णन करते हैं: (1) यह उनकी बुराइयों को समाप्त करने की शक्ति में प्रदर्शित होती है जो जीवन के दौरान हमारे ऊपर आ पड़ती हैं, यद्यपि बुद्ध किसी भी शारीरिक दोष का इलाज करने में असमर्थ हैं, अन्धापन, बहरापन एवं मानसिक विकार जैसे दोष हम में हो सकते हैं। (2) यह उनके सभी बुराई करने वालों के ऊपर अदम्य प्रभुत्त्व में प्रदर्शित होता है, यदि वे कभी भी बुद्ध की उपस्थिति में आ जाते हैं तो कोई अच्छा काम किए बिना नहीं रह सकते हैं। (3) मुक्ति के विभिन्न अप्राकृतिक एवं अतार्किक तरीकों को विनाश करने की उनकी शक्ति में यह प्रदर्शित किया गया है, जो तरीके संन्यास, सुखवाद या ईश्वरवाद के अनुयायियों द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं। (4) उन बीमार चित्तों का इलाज करने की उनकी शक्ति में यह प्रदर्शित किया गया है, जो यथार्थ, नित्यता, और अहंकार–आत्म अर्थात् पुद्गलवाद की अविभाज्यता में विश्वास करते हैं। (5) उन **बोधिसत्त्वों** पर उनके प्रेरणादायक प्रभाव में यह प्रदर्शित किया गया है जिन्होंने अभी भी अचलता की स्थिति को प्राप्त नहीं किया है और उन **श्रावकों** पर उसके प्रेरणा दायक प्रभाव में भी यह प्रदर्शित किया गया है जिनका विश्वास एवं चरित्र अभी भी अनिश्चय की स्थिति में है।

धर्मकाय का स्वातन्त्र्य

बुद्ध के एक प्रबुद्ध चित्त के माध्यम से सभी प्राणियों पर पड़ने वाले **धर्मकाय** के वे आध्यात्मिक प्रभाव **असंग** के द्वारा बतलाए गए हैं और हम उनको पढ़ चुके हैं, वे धार्मिक महत्त्व से युक्त हैं। बौद्ध दृष्टिकोण के अनुसार **धर्मकाय** से अनन्त रूप में निसृत होने वाली उन धार्मिक शक्तियों में मानव उत्पादन या कृत्रिम प्रयास का कोई चिह्न नहीं होता है, परन्तु वे इसकी अन्तर्भूत आवश्यकता का सहज प्रवाह है या जैसा मैं समझता हूँ, इसकी स्वतन्त्र इच्छा से। **धर्मकाय** सभी चेतन प्राणियों पर असंख्य पुण्य, लाभ और आशीर्वाद प्रदान करने के लिए

कोई चेतन एवं संघर्षमय प्रयत्न नहीं करता है। यदि इसमें कोई भी मानव उत्पादन का चिह्न होता, तो इसका अर्थ उसमें स्वयं में विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष होगा, जिसमें वे एक दूसरे पर प्रभुत्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगी। यह स्पष्ट है कि कोई संघर्ष एवं इसका आवश्यक सहायक, या मजबूरी सर्वोच्च धार्मिक यथार्थ के हमारे विचार के साथ असंगत है। पूर्ण सहजता एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य उन आवश्यक प्रवृत्तियों में से एक है जो हमारी धार्मिक चेतना इसको आदर की वस्तु माने बिना नहीं रह सकती हैं। अतः बौद्ध लोग बार-बार दृढ़ता से यह कहते हैं कि **धर्मकाय** की गतिविधि सभी बाह्य एवं आन्तरिक प्रयत्न एवं जबरदस्ती से मुक्त है। सृष्टि या मुक्ति या प्रेम का इसका प्रत्येक कार्य इसकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से निसृत होता है, यह किसी भी प्रकार के संघर्षमय प्रयास से बाधित नहीं होता है जो मानवता के कार्यों के लक्षण हैं। यह स्वतन्त्र, द्विव्य इच्छा (शक्ति) हमारी अपनी ''स्वतन्त्र इच्छा शक्ति'' एक ऐसे संघर्षमय विरोध में स्थित है, जो मानव है और सबसे बढ़िया ढंग से अत्यधिक सीमित भी है, बौद्धों के द्वारा इसको **धर्मकाय** का ''**पूर्वप्रणिधानबल**'' कहा जाता है।[1]

1. ''**पूर्वप्रणिधान बल**'' प्रायः ''मूल (या आदिम) प्रार्थना की शक्ति'' के रूप में अनूदित किया जाता है। शाब्दिक रूप से पूर्व का अर्थ ''पहला'' या ''मूल'' या ''आदिम'' है; और प्रणिधान का अर्थ ''इच्छा'' या ''प्रतिज्ञा'' या ''प्रार्थना'' है; और बल का अर्थ ''शक्ति'' है। जहाँ तक साहित्यिक अनुवाद का संबंध है; ''मूल प्रार्थना की शक्ति'' ही मूल संस्कृत का भाव प्रतीत होता है। परन्तु जब हम **धर्मकाय** या **तथागत** की आदिम प्रार्थनाओं की बात करते हैं, हम इसे कैसे समझेंगे? क्या इस संदर्भ में प्रार्थना का कोई भाव है? **धर्मकाय** अपनी स्वतन्त्र इच्छा (शक्ति) के माध्यम से अस्तित्त्व के किसी भी रूप में अपने आपको अभिव्यक्त कर सकता है और अपने काम को किसी भी तरीके से समाप्त कर सकता है, जो तरीका इसको सर्वोत्तम लगता है। अपनी उपलब्धि के संघर्ष की पीड़ा में इसके लिए कोई प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जो इसके विरुद्ध इतने शक्तिशाली ढंग से कार्य कर रही है कि इसे सहायता के लिए चिल्लाना पड़े। **धर्मकाय** की गतिविधि में कोई संघर्ष या पीड़ा नहीं हो सकती है। अतः प्रार्थना शब्द बिल्कुल ही भ्रामक और गलत है और हमें एक बहुत गंभीर गलती में फँसा देता है, जो **धर्मकाय** की सामान्य बौद्ध अवधारणा का विरोध करता है। बौद्धधर्म के मूलभूत सिद्धान्त से पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए हमें इस शब्द को बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिए। इस विषय पर हम आगे और अधिक विचार करेंगे।

क्योंकि **धर्मकाय** अपने ही ढंग से कार्य करता है, यह अपने काम के लिए किसी भी प्रकार का पुरस्कार नहीं माँगता है। यह स्पष्ट है कि **धर्मकाय** का प्रत्येक कार्य हमेशा अपने प्राणियों की सर्वोत्तम भलाई के लिए ही होता है, क्योंकि वे इसकी अभिव्यक्तियाँ है, और उनको क्या चाहिए, इसे जानना चाहिए। हमें अपनी ''रोजमर्रा की रोटी'' को माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, न ही इसकी विशेष अनुकम्पा पाने के लिए हमें इस की प्रशंसा या गुणगान करने की आवश्यकता है, न ही हमारे लिए **धर्मकाय** को प्रार्थना या विनयपत्रिका देने की कोई आवश्यकता है। खेत की उन तितलियों के बारे में सोचिए जो न तो कोई श्रम करती हैं और न ही चक्कर लगाती हैं, मैं यह और कह दूँ—और वे ऊपर से किसी भी प्रकार के पक्षपात की कामना नहीं करती हैं; क्या फिर भी वे सुलेमान की अपेक्षा उसकी पूरी शान में तैयार नहीं रहती हैं? **धर्मकाय** सर्वत्र ही, जहाँ जीवन है, अपनी भव्य शान में चमकता है, नहीं, वह वहाँ भी चमकता है जहाँ मृत्यु है। हम सभी इसके मध्य में जी रहे हैं और फिर भी यह कहना अजीब लगता है कि ''मछली अपने स्वयं के आसपास जल की उपस्थिति को नहीं जानती है'' और वैसे ही जैसे, ''पहाड़ों पर चढ़ने वालों को पर्वतों की अनुभूति नहीं होती है जिसमें वे घूमते हैं'', उसी प्रकार हम भी यह नहीं जानते हैं कि यह शक्ति कहाँ से आती है, किसका कार्य हम में अभिव्यक्त होता है और अन्तिम रूप से यह हमें कहाँ अग्रसर करता है। इस गंभीर अज्ञान के बाद भी हम वास्तव में यह अनुभव करते हैं कि हम यहाँ हैं और उससे हम पूर्णरूपेण संतुष्ट हैं। क्योंकि हमारा विश्वास है कि यह सब **धर्मकाय** की रहस्यात्मक एवं आश्चर्यमय इच्छा (शक्ति) के कारण घटित होता है, जो सब बढ़िया कामों को करता है और किसी भी प्रकार के पुरस्कार की कामना नहीं करता है।

धर्मकाय की इच्छा (शक्ति)

संक्षेप में कहें तो, जैसा हमारी धार्मिक चेतना में प्रतिबिम्बित है, **धर्मकाय** तीन आवश्यक आयामों को ग्रहण करता है: पहला, यह **प्रज्ञा** है, दूसरा, यह **करुणा** है; और तीसरा, यह **इच्छा** (शक्ति) है (**प्रणिधानबल**)। हम जानते हैं कि **धर्मकाय** ब्रह्माण्ड के मार्ग को निर्देशित करता है, अन्धे रूप में नहीं अपितु तार्किक ढंग से; फिर हम जानते हैं कि यह **करुणा** है क्योंकि यह सभी प्राणियों

को पितृ–कोमलता के साथ आलिंगित करता है;[1] और अन्तिम रूप में हमें यह मानना चाहिए कि यह एक इच्छा (शक्ति) है, क्योंकि **धर्मकाय** ने अपनी गतिविधि का यह लक्ष्य निर्धारित कर लिया है कि ब्रह्माण्ड में सभी बुराइयों का अन्तिम लक्ष्य भलाई ही होगा। इच्छा (शक्ति) के बिना करुणा एवं प्रज्ञा का अनुभव नहीं होगा; बिना करुणा के, इच्छा (शक्ति) एवं प्रज्ञा अपना प्रभाव खो देगी; बिना प्रज्ञा के करुणा एवं इच्छा (शक्ति) अतार्किक हो जाएंगे। वास्तव में ये तीन समकक्ष हैं और **धर्मकाय** की एकता का निर्माण करते हैं; और एकता से मेरा अभिप्राय संपूर्ण से है, तथा **धर्मकाय** के स्वरूप में इन तीन चीजों की थोथी एकता से मेरा अभिप्राय नहीं, है क्योंकि **प्रज्ञा**, **करुणा** एवं इच्छा (शक्ति) में इस प्रकार केवल हमारी मानवीय सीमित चेतना में भेद किया जाता है।

यहाँ बतलाए गए दृष्टिकोण से कुछ बौद्ध लोग बिल्कुल ही सहमत नहीं होंगे। वे घोषणा कर सकते हैं; "हम आपके दृष्टिकोण से सहमत हैं जब आप यह कहते हैं कि **धर्मकाय प्रज्ञा** एवं **करुणा** है, क्योंकि यह सूत्रों एवं शास्त्रों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है; परन्तु हम यह नहीं देख पाते कि इसको एक इच्छा (शक्ति) कैसे बनाया गया। वास्तव में शास्त्र कहते हैं कि **धर्मकाय** के पास **प्रणिधानबल** है, परन्तु यह बल आवश्यक रूप से इच्छा (शक्ति) नहीं है, यह प्रार्थनाओं या दृढ़ संकल्पों की शक्ति है। **धर्मकाय** ने वास्तव में गंभीर संकल्प करवाए हैं और वैशिष्ट्य के संसार में स्थित आध्यात्मिक ऊर्जा अपनी मूल योजना का सँचालन करती है और सभी प्राणियों की सार्वभौमिक मुक्ति को संभव बनाती है।

यह बिल्कुल सच है कि प्रणिधानबल नामक शब्द का अक्षरशः अभिप्राय "मूल प्रार्थनाओं की शक्ति है।" परन्तु यह साहित्यिक अनुवाद इसके आन्तरिक महत्त्व की पूरी तरह उपेक्षा करता है जिसके बिना **धर्मकाय** की प्रकृति अबोधगम्य हो जाएगी। हम मानते हैं की **धर्मकाय** का कोई उच्च्च अस्तित्त्व नहीं है जिससे यह प्रतिबन्धित होता है, न ही मानव प्राणियों के समान इसके पास कोई आंशिक, सीमित चेतना है, न ही इसके पास कोई आन्तरिक कमी है जिसके कारण इसको अपने से अतिरिक्त किसी को अपील करने की आवश्यकता पड़ती है। अतः इसकी प्रार्थना को "मौलिक" या उधार ली गई कहना बिल्कुल ही

1. "मैं सभी प्राणियों का पिता हूँ, और वे मेरे बच्चे हैं।" (**अवतंसक**, **पुण्डरीक** आदि)।

बेवकूफी है, जैसा कुछ बौद्ध लोग सोचते हैं। दूसरी ओर हम यह कह सकते हैं कि **धर्मकाय** के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वह सभी संकल्पों से मुक्त रूप से उसकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा (शक्ति) द्वारा किया जाता है, जो संकल्प इसे बाहर से प्रभावित करते हैं।

परन्तु मैं उस कारण का पूर्वानुमान लगा सकता हूँ कि वे उसकी इच्छा (शक्ति) की अपेक्षा **धर्मकाय** की प्रार्थनाओं की बात क्यों करते हैं। इस सघन धार्मिक संवेदना का उत्साह हमेशा ही हमें **प्रज्ञा** की सीमाओं से परे नहीं ले जाता है, और यह हमें रहस्यों एवं विरोधों से पूर्ण क्षेत्र में फेंक देता है। बुद्धि के समुचित अंश से परे यह हर चीज पर मानवता का आरोप कर देता है और सभी मानव भावनाओं एवं आवेगों को एक पदार्थ को समर्पित कर देता है जिसे पूरी तरह संतुलित मन सभी मानव कमजोरियों के स्वरूपों से ऊपर रहने की मांग करता है। बौद्ध लोग, विशेष रूप से सुखावती संप्रदाय[1] के बौद्ध लोग **धर्मकाय** में एक सर्वशक्तिमान इच्छा (शक्ति), सभी को आलिंगित करने वाली **करुणा** एवं सर्वज्ञ **प्रज्ञा** के अस्तित्त्व को पहचानते हैं, परन्तु वे इसे और ज्यादा ठोस रूप से अभिव्यक्त करना चाहते हैं और कम बुद्धिमान अनुयायियों की मानसिक दृष्टि के सामने और अधिक मानव ढंग से इसे अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इस प्रकार इसका परिणाम यह है कि **धर्मकाय** ने अपनी संपूर्णता के बावजूद भी सभी मानव प्राणियों से जन्म एवं मृत्यु के दुःख से मुक्ति दिलवाने के लिए अपने लिए प्रार्थनाएँ करवाई। परन्तु क्या अपनी अत्यधिक आन्तरिक प्रकृति से उत्पन्न **धर्मकाय** की ये स्व-संबोधित प्रार्थनाएँ बिल्कुल इसकी इच्छा (शक्ति) नहीं हैं?

---

1. **सुखावती** सिद्धान्त के महत्त्व से पूरी तरह परिचित होने के लिए पाठक को सेक्रिड बुक्स् ऑफ दि ईस्ट वा. XLIX में सुखावती सूत्रों को देखने की सलाह दी जाती है।

अध्याय 10

त्रिकाय का सिद्धान्त

(त्रयी का बौद्ध सिद्धान्त)

मानव एवं अति-मानव बुद्ध

पालि एवं संस्कृत के बीच के अत्यधिक उल्लेखनीय भेदों में से अर्थात् हीनयान एवं महायान बौद्ध साहित्य के बीच एक भेद है उन पात्रों या व्यक्तियों को परिचित कराने का तरीका, जो कथा में मुख्य भूमिका निभाते हैं। हीनयान में बुद्ध के द्वारा उपदेश एक नियम के रूप में एक ऐसी प्राकृतिक एवं सहज भाषा में दिए जाते हैं कि पाठक एक पितृ-हृदय वाले अध्यापक एवं दार्शनिक शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करता है; जबकि महायान में सामान्यतया हमारे पास एक रहस्यात्मक, श्रेष्ठ एवं मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वर्गिक व्यक्ति है, जो सभी प्रकार के लोगों के मानव एवं स्वर्गिक लोगों से घिरा हुआ है, और उनके द्वारा पूजित भी है। यह मुख्य रहस्यात्मक पात्र कुछ अतिप्राकृतिक कामों को करता है जिनको एक अत्यधिक काव्यात्मक मन द्वारा ही भली भाँति वर्णित किया जा सकता है।

पालि शास्त्रों में एक नियम के रूप में ग्रंथ एक "एवं मया श्रुतम्" फार्मूले के साथ प्रारंभ होते हैं, फिर ग्रंथ घटनाओं का वर्णन करते हैं, यदि कोई है तो जिसने उनको बतलाने के लिए बुद्ध को प्रेरित किया था, और अन्तिम रूप से पाठक को मुख्य विषयों तक ले जाया जाता है, जो सामान्यतया एक प्रांजल शैली में लिखे गए होते हैं। उनका प्रारंभिक या परिचयात्मक विषय बहुत ही सादा होता है, और इनके आगे के विकास में हमें कोई असाधारण चीज दिखलाई नहीं पड़ती है। परन्तु महायान ग्रंथो में यह बिल्कुल भिन्न ही है। यहाँ पर घिसे-पिटे

फामूले "**एवं मया श्रुतम्**" के साथ जैसे ही पर्दा उठता है, एक शानदार भूमिका नाटकीय ठंग से या बल्कि भौडें रूप में प्रस्तुत की जाती है, जो आगे आने दृश्यों के लिए श्रोताओं के मनों को तैयार करती है, जिसमें कुछ जोरदार धार्मिक-दार्शनिक घोषणाएँ की जाती हैं। इस परिचायत्मक अंश का यह पठन ही अपनी डरावनी शान के द्वारा पाठक को जड़ बना देता है, और वह बिना किसी परेशानी के घोषणा कर सकता है कि आगे आने वाली घटना असाधारण और मूर्खतापूर्ण भी हो सकती है।

निम्नलिखित एक उदाहरण है जो महायान ग्रंथो में पात्रों को परिचित कराने वाले विचित्र तरीके को प्रदर्शित करता है।[1]

"मैंने इस प्रकार सुना है, बुद्ध एक बार गृद्धकूट पर्वत पर राजगृह में ठहरे हुए थे। वे चन्दन के दो मंजिले रत्न चन्द्र कक्ष में थे। उनके बुद्धत्त्व प्राप्त करने के बाद दस वर्ष बीत गए थे। वे लाखों भिक्षुओं, बोधिसत्त्वों एवं महासत्त्वों से घिरे हुए थे जो गंगा के बालू कणों से साठ बार अधिक थे। सभी के पास बहुत अधिक आध्यात्मिक ऊर्जा थी; वे लाखों बुद्धों को अपनी श्रद्धा अर्पित कर चुके थे; वे कभी भी पीछे की ओर न जाने वाले **धर्मचक्र** को प्रवर्तित करने में समर्थ थे; और जिन्होंने भी उनके नाम सुने थे वे अपने आपको सर्वोच्च पूर्ण ज्ञान में दृढ़ता पूर्वक स्थापित कर सकते थे। उनके नाम थे ··· (यहाँ लगभग पचास बोधिसत्त्व वर्णित हैं)।

"असंख्य बौद्ध-देशों से आने वाले, गंगा के बालूकणों से साठ गुणा अधिक ये सभी बोधिसत्त्व असंख्य देवों, नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किन्नरों एवं महोरगों[2] से घिरे हुए थे। इस महान सभा ने पूरे विश्व में समादृत भगवान की पूजा की एवं आदर किया तथा उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

---

1. यह महावैपुल्य **तथागतगर्भसूत्र** नामक एक छोटे से सूत्र से लिया गया है। यह ईस्टर्न सिन डाइनेस्टि (ए.ड. 371-420) के बुद्धभद्र ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था। नाञ्जो नं. 384।
2. ये सभी अस्तित्त्व के अमानव रूप हैं जिसमें राक्षस, नागराज एवं पंख वाले जन्तु सम्मिलित हैं।

"इस समय भगवान चन्दन के दो मंजिले भवन में अपने निर्धारित स्थान पर बैठे, समाधि में स्थित हो गए, और एक विस्मयकारी घटना का प्रदर्शन किया। वहाँ पर हजारों पंखुड़ियों वाले असंख्य पद्म-पुष्प प्रकट हुए और प्रत्येक पुष्प एक गाड़ी के पहिए जितना विशाल था। उनमें पूर्ण सुन्दर रंग एवं खुशुबूदार सुगंध थी, परन्तु स्वर्गिक प्राणियों को सँजोए हुए उनकी पंखुड़ियाँ अभी तक खुली नहीं थी। वे अपने आप इस समय ऊपर स्वर्ग में उभर रही थीं एवं मोतियों के वितान के समान पृथिवी पर लटक रहीं थीं। इनमें से प्रत्येक पद्मपुष्प प्रकाश की असंख्य किरणें बिखेरे रहा था और इसके साथ-साथ वह आश्चर्यमय प्राणवत्ता के साथ आकार में वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। परन्तु बुद्ध की दिव्य शक्ति के माध्यम से उन्होंने अचानक अपना रंग बदल लिया एवं मुरझा गए। पुष्पों में पद्मासन लगाकर बैठे सभी स्वर्गिक प्राणी अब पूरी तरह दृष्टिगोचर हो गए और प्रकाश की लाखों किरणों के साथ देदीप्यमान होने लगे। इस क्षण उस स्थल की श्रेष्ठ आभा वर्णनातीत थी।"

जैसे यहाँ स्पष्ट दिखलाया गया है, महायान शास्त्रों में बुद्ध ऐन्द्रिय जगत में विचरण करने वाला एक साधारण मानव नहीं है; वह शुद्धोदन के पुत्र से बिल्कुल ही भिन्न है, जिसने राजकीय जीवन का त्याग किया, जंगलों में भटके और छः साल की गंभीर समाधि एवं तपश्चरण के बाद चार आर्य सत्य एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की द्वादश-निदान शृंखला को खोजा; और हम यह सोचे बिना नहीं रह सकते कि महायान के बुद्ध एक अत्यधिक कवित्त्वमय मन की एक काल्पनिक सृष्टि है। तथास्तु। परन्तु जो प्रश्न इस समय हमें घेरे हुए है वह यह है : "बौद्धों ने मानव बुद्ध को कैसे भुला दिया, जैसे मानो उसको एक रहयात्मक प्राणी बनाकर उसको सभी संभव या कभी-कभी असंभव शान एवं अतिप्राकृतिक चीजों से युक्त कर दिया?" यह प्रश्न, जहाँ से महायान बौद्धधर्म का उदय होता है, हमें **त्रिकाय** के सिद्धान्त के पास ले आता है, —जो एक प्रकार से ईसाईयों **के त्रयी** के सिद्धान्त के समानान्तर है।

इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्ध **तथागत** के त्रिपक्षीय अस्तित्त्व को मानते हैं, अर्थात् उनके द्वारा **तथागत** की कल्पना स्वयं को अस्तित्त्व के तीन 'स्वरूपों में अभिव्यक्त करने वाले के रूप में की गई है : **निर्माणकाय**, **संभोगकाय**, एवं **धर्मकाय**। यद्यपि उनकी कल्पना तीन के रूप में की गई है, वास्तव में वे सभी एक ही **धर्मकाय** की अभिव्यक्तियाँ है, — **धर्मकाय** जिसने अपने आपको **निर्माणकाय**

के रूप में ऐतिहासिक शाक्य मुनि, एवं महायान बौद्धधर्म में **संभोगकाय** के रूप में उद्‌घाटित किया। मानवीय दृष्टिकोण से वे कितने भी भिन्न प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वे एक शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, जिसमें चीजें अपने उद्देश्य को प्राप्त होती हैं।

एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण

इस समय हमारे पास ऐसा कोई ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है जो इस प्रश्न पर प्रकाश डाल सके कि उत्तरी बौद्ध लोगों में **त्रिकाय** या बौद्ध **त्रयी** के विचार का सिद्धान्त कितने पहले दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था और इस प्रकार महायान शास्त्रों के पहले से ही पूर्व-निर्धारित स्वरूप में इसने कैसे अपना मार्ग बनाया। जहाँ तक हम जानते हैं, ये पहले महायान दार्शनिक **अश्वघोष** थे जिन्होंने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में **त्रिकाय** के इस विचार को अपने "**श्रद्धोत्पादशास्त्र**" में सम्मिलित किया। जैसा लेखक घोषणा करता है, यह ग्रंथ महायान शिक्षाओं की एक प्रकार की रूपरेखा है, जो बुद्ध के द्वारा अपने विभिन्न सूत्रों में प्रतिपादित मुख्य लक्षणों की व्याख्या करता है। यह कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है जो बौद्धधर्म के संबंध में **अश्वघोष** के व्यक्तिगत विचारों को बतलाता है। उसने यह ग्रंथ संक्षिप्त एवं व्यापक रूप में लिखा था, ताकि बुद्ध से दूर होने के कारण परवर्ती पीढियाँ जो उनकी श्रेष्ठ उपस्थिति से प्रेरित होने का लाभ नहीं पा सकी थीं, और मन की एकाग्रता से इस ग्रंथ का अध्ययन कर सके और उनके लम्बे एवं भारी भरकम सूत्रों के संपूर्ण महत्त्व को संयोगात्मक ढंग से ग्रहण कर सकें। अतः "**श्रद्धोत्पादशास्त्र**" में हमें कोई महायान सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता है जिनका पहले ही बुद्ध ने उपदेश नहीं दिया था और सूत्रों में सम्मिलित किया था। प्रत्येक चीज को जिसका **अश्वघोष** अपने ग्रंथ में वर्णन करते हैं, उन सिद्धान्तों का मात्र सारकथन ही समझा जाना चाहिए जो न केवल सूत्रबद्ध किए गए थे अपितु **अश्वघोष** से बहुत पहले ही महायान श्रद्धा के रूप में दृढ़ रूप से स्थापित हो चुके थे। उनका काम केवल दर्ज करने का है। उन्होंने सभी महायान शास्त्रों की सावधानी से जाँच की जो उनके काल से पहले विद्यमान थे और महायान बौद्ध धर्म की शास्त्रों में इधर उधर बिखरी पड़ी हुई सभी प्रमुख शिक्षाओं को निष्ठापूर्वक एकत्रित किया। उनका श्रेय उनको संकलित करने एवं क्रमबद्ध करने में है।

ऐसी स्थिति में हमें यह मानना चाहिए कि वे सभी सिद्धान्त, जो **अश्वघोष**

में उपलब्ध हैं और सामान्यतया हीनयानी माने जाने वाले सिद्धान्तो से भिन्न हैं, बुद्ध की मृत्यु से लेकर अश्वघोष के समय तक बौद्धों द्वारा की गई विस्तृत शिक्षाएँ हैं। परन्तु क्योंकि अश्वघोष यह विश्वास करते हैं कि ये सभी सिद्धान्त बुद्ध के अपने सिद्धान्त हैं और उनकी परवर्ती उत्पत्ति के विषय में कोई भी संदेह नहीं करते हैं, यदि ऐसा रहा भी हो तो फिर, हमे यह मानना चाहिए कि अश्वघोष के समय से बहुत पहले से ही ये सिद्धान्त संकलित होने की स्थिति में थे। यदि हमारी गणना ठीक है कि वे ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए थे, तो महायानी विश्वास कम से कम उनके समय से दो सौ वर्ष पूर्व सूत्रबद्ध हो चुका होगा, इस समय को इस रूप में मानकर कि एक सिद्धान्त को सूत्रबद्ध करने एवं दृढ़ता से स्थापित करने में इतना समय लग जाता है। यह गणना महायानी विश्वास के विकास को बुद्ध के पश्चात् प्रथम शताब्दी में स्थित करती है, और हम यह जानते हैं कि यही समय था जब इतने संप्रदाय एवं विभाजन, जिनमें हमें तथाकथित श्रीलंका के ''आदिम'' बौद्धधर्म को ढूँढना चाहिए, जो बौद्धों में प्रादुर्भूत हुआ, जिनमें से प्रत्येक बुद्ध की शिक्षा को केवल आधिकारिक संप्रेषण मानने का दावा करता था। क्या महायान बौद्धधर्म विवाद की इस घबराहट से निकला है? क्या इसने अपने आपको इस अव्यवस्था से बहादुरी से ऊपर उठाया और उन सभी प्रश्नों एवं संदेहों को सुलझाने का दावा किया जो निर्वाण के बाद बौद्धों के मनों को विचलित कर रहे थे? निश्चित रूप से हम बौद्धदर्शन के विकास के कालक्रम एवं अन्धविश्वासों के बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं, कम से कम अश्वघोष से पहले; परन्तु जहाँ तक हमारे चीनी बौद्ध साहित्य ने इसको दर्ज किया है, हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि संभवतः ऐसी ही स्थिति थी।

अपने पाठकों को उन परिस्थितियों की एक झलक देने के लिए, जो भारत में बौद्धधर्म के प्रारंभिक दिनों में चल रही थीं, मैं वसुमित्र के ''डिस्कोर्स्ज ऑन् दि पोइटंस ऑफ कण्टोवर्सि दि बाइ डिफरण्ट स्कूल्ज ऑफ बुद्धिज्म'' नामक ग्रंथ से कुछ संदर्भ उद्धृत करूँगा, इस ग्रंथ का इस पुस्तक के प्रारंभ में संदर्भ दिया जा चुका है। जो दो संप्रदाय बुद्ध के निर्वाण के बाद उदित हुए, जैसा सुविदित है, स्थविरों एवं महासांघिकों के थे, और यद्यपि वे छोटे-छोटे विभागों में आगे विभक्त हो गए थे और उनके विचार इतने जटिल हो गए थे एवं आपस में घुल-मिल गए थे कि स्थविर लोगों के विचार भी महासांघिकों के समान ही

बन गए थे और दूसरी ओर इसके उलट भी थे। फिर भी, हम इन संप्रदायों को भली भाँति एक दूसरे से अलग कर सकते हैं और प्रत्येक संप्रदाय की आवश्यक विशेषताओं का वर्णन कर सकते हैं। सामान्यतया वैभिन्य के मुद्दे निम्न प्रकार से हैं। हम यहाँ अपने आपको उन संप्रदायों के बुद्ध के स्वरूप तक ही सीमित रहेगे।

(1) **महासांघिक** संप्रदाय के अनुसार बुद्ध का व्यक्तित्त्व लोकोत्तर है और सभी तथागत क्लेशों से मुक्त है, जो भावास्रव[1] से पैदा होते हैं। क्योंकि बुद्ध में सभी बुरे आवेग आनुवंशिक और संचित शाश्वत रूप से नष्ट कर दिए थे, और पृथिवी पर उनकी उपस्थिति पूर्ण रूप से दोषरहित थी (विभाषा, सी. एल. XXII)। इस दृष्टिकोण पर विवाद करते हुए स्थविरों का विचार था कि बुद्ध का व्यक्तित्त्व भावास्रव से मुक्त नहीं था, यद्यपि उनका चित्त पूरी तरह प्रबुद्ध था। उनका शारीरिक अस्तित्त्व अविद्या से युक्त अन्धे प्रेम का परिणाम था और आसक्ति में उलझा हुआ था। यदि ऐसा नहीं होता तो बुद्ध के लक्षण एक दासी के हृदय में एक अशुद्ध प्रेम को नहीं जगाते, एक राहगीर के हृदय में दुर्भावना पैदा नहीं करता, एक संन्यासी के मन में मूर्खता पैदा नहीं करता, एक हठी ब्राह्मण में दम्भ पैदा नहीं करता। ये घटनाएँ, जो बुद्ध के जीवन में घटी, यह प्रदर्शित करती हैं कि उनकी शारीरिक उपस्थिति दूसरों के हृदयों को झकझोरने में प्रवण थी, और उस सीमा तक यह भावास्रव से दूषित थी।

---

1. **आस्रव** का शाब्दिक अर्थ ''रिसना'' या ''बहना'' है, और चीनी अनुवादकों ने इसका लू के रूप में अनुवाद किया है, टपकना या नीचे की ओर बहना। मोटे रूप में कहें तो यह मुख्यतया भौतिक एवं ऐन्द्रिय बुराइयों का ही नाम है। एक भारतीय विद्वान के अनुसार आस्रव का तिहरा भाव है : (1) ''रखना'' क्योंकि यह सभी चेतन प्राणियों को जन्म एवं मृत्यु के चक्र में बनाए रखता है, (2) ''बहना,'' क्योंकि यह सभी चेतन प्राणियों को जन्म एवं मृत्यु के प्रवाह में बहाए रखती है; (3) ''नीचे की ओर बहना'' या ''रिसना,'' क्योंकि यह कंजूसी, क्रोध, लालच जैसी बुराइयों को फोड़े के समान छः इन्द्रियों से बहने देता है, जो खून एवं गन्दे पदार्थ को बाहर निकालता है। आस्रव का कारण अन्धी इच्छा (शक्ति या संकल्प) है, और इसका परिणाम जन्म एवं मृत्यु हैं। विशेष रूप से भावास्रव तीन आस्रव में से एक है, जो ये हैं, (1) कामास्रव, (2) अविद्यास्रव और (3) भावास्रव। पहला अहंकार युक्त इच्छाएँ हैं, दूसरा अविद्या है और तीसरा भौतिक अस्तित्व, जिसे हम अपने पहले जन्म के कारण भोगते हैं।

(2) **महासांघिक** संप्रदाय इस बात पर बल देता है कि **तथागत** के द्वारा उच्चारित किए गए प्रत्येक शब्द का एक धार्मिक आध्यात्मिक अर्थ है और यह उनके अनुयायियों के लिए एक सद् उदाहरण का आभास देता है, उनके एक कथन का उनके श्रावकों द्वारा विभिन्न प्रकार से अर्थ किया जाता है और प्रत्येक अपने स्वभाव/रूझान के अनुसार इसका अर्थ करते है परन्तु यह सब उसकी आध्यात्मिक भलाई के लिए ही होता है। बुद्ध के द्वारा दी गई प्रत्येक शिक्षा तार्किक एवं पूर्ण है। इसके विरुद्ध स्थविरों का सोचना है कि बुद्ध के द्वारा आकस्मिक रूप से कहीं गई बातों का दूसरों की प्रज्ञा से कोई लेना देना नहीं है; बुद्ध के लिए भी कुछ चीजें उनकी उपलब्धि से बाहर थी; उदाहरण के लिए, वे अपने श्रोताओं में से प्रत्येक को अपने उपदेशों को पूर्णतया समझा नहीं सकते थे; यद्यपि बुद्ध ने कभी भी कोई बात अतार्किक एवं अप्रामाणिक नहीं कही थीं; फिर भी उनके सभी सभी उपदेश पूर्ण नहीं थे, उन्होंने कुछ ऐसी बात कही थी जिसका तार्किकता या अन्धविश्वास से कोई संबंध नहीं था।

(3) बुद्ध के **रूपकाय** की कोई कोटियाँ नहीं होती हैं; उनकी दिव्य शक्ति की कोई सीमा नहीं होती है; प्रत्येक बुद्ध का जीवन निःसीम है, एक बुद्ध में कोई थकान नहीं होती है, उनको यह नहीं पता होता कि उन्हें कब विश्राम करना चाहिए, और वे स्वयं हमेशा ही सभी चेतन प्राणियों की प्रज्ञा में लगे रहते हैं तथा वे उनके हृदयों में शुद्ध श्रद्धा को जाग्रत करने के कार्य में लगे रहते हैं। **महासांघिकों** की ऐतिहासिक बुद्ध को देवत्त्व प्रदान करने की इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध, स्थविर सामान्यता बुद्धत्त्व के मानवत्त्व पर बल देते हैं। यद्यपि **स्थविर महासांघिकों** से इस बात में सहमत हैं कि उनके अनेक कल्पों के सतत अस्तित्त्वों के माध्यम से अच्छे कर्म के उनके अथक संचय के परिणाम स्वरूप ग्रहण किए गए बुद्ध के शरीर में एक आश्चर्यजनक ऊर्जा है, जो आध्यात्मिक एवं भौतिक है, वे इस ऊर्जा की सभी सीमाओं से परे के रूप में कल्पना नहीं करते हैं।

(4) **महासांघिक** संप्रदाय कहता है कि बुद्ध की निद्रा में यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें स्वप्न नहीं आते हैं। **स्थविर** यह मानते हैं कि बुद्ध को कभी भी स्वप्न नहीं आते हैं परन्तु इस बात से वे इन्कार करते हैं कि उनको किसी भी प्रकार की निद्रा की आवश्यकता नहीं है।

(5) क्योंकि बुद्ध हमेशा ही एक गंभीर, उन्नत आध्यात्मिक समाधि में रहते हैं, जब कुछ प्रश्नों के उत्तर देने के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है तो उस समय क्या कहना है, इसके लिए उन्हें कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यद्यपि उनके सामने समाधान के लिए प्रस्तुत की गई समस्याओं पर वे प्रश्नकर्ताओं को पूर्णतया चिन्तन करते हुए प्रतीत होते हों, परन्तु वास्तव में बुद्ध का उत्तर तत्काल एवं बिना किसी प्रयास का होता है, दूसरी ओर **स्थविर** बुद्ध की मानसिक आकलन के बारे में यह मानते हैं कि वे अपने श्रोताओं की समझ के लिए सर्वोत्तम रूप से उपयुक्त विचार कैसे व्यक्त करते हैं। वास्तव में वे स्वयं समस्या पर चिन्तत नहीं करते हैं, क्योंकि उनके लिए प्रत्येक चीज पारदर्शी है, परन्तु वे अपने शिष्यों के सामने अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए सर्वोत्तम तरीके पर विचार करते हैं।[1]

अब हम **धर्मकाय** एवं **त्रिकाय** के सिद्धान्त पर वापिस आते हैं। जब हम इन उपर्युक्त विवादों पर विचार करते हैं, यह स्पष्ट है कि बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त बाद उठने वाले अनेक प्रश्नों में एक प्रश्न यह था कि जिसने संभवतः उनके शिष्यों के मनों का सबसे अधिक झकझोरा था। इससे मेरा अभिप्राय बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रश्न से है। क्या वे हमारे समान केवल एक मानव थे? तब वे नैतिक पूर्णता की ऐसी ऊचाई पर कैसे पहुँच सके? या क्या वे एक द्विव्य पुरुष थे? परन्तु बुद्ध ने देवत्त्व के बारे अपने शिष्यों को कभी कोई चीज नहीं बतलाई, और न ही उन्होंने अपने द्विव्य व्यक्तित्त्व के कारण उसको धर्म को स्वीकार करने को कहा, परन्तु केवल सत्य के कारण उन्होंने ऐसा किया। परन्तु उस सब के लिए उनके शिष्य अपने आचार्य के प्रति आदर-भावना को कैसे अपने हृदय से कभी भी मिटा सकते थे, जो वहाँ स्थायी रूप से अंकित थी? जब कभी भी वे अपने स्वामी के उपदेश, किस्से या गाथाओं को याद करते होंगे, उनमें कथा लेखक में मन में विद्यमान सत्य एवं भावना, उनसे इतनी घनिष्ठ रूप से जुड़ जाती होगी कि वे स्वयं अपने आप से यह प्रश्न पूछे बिना रह सकते होंगे:

---

1. हमारे विचारशील पाठकों ने यहाँ एक बात देखी होगी कि **महासांघिकों** का बुद्ध का स्वरूप महायान **बौद्धधर्म** से काफी मिलता-जुलता है। यद्यपि हम भारत में महायान के विकास को क्रमशः खोजने में अभी असमर्थ हैं, जापानी विद्वानों द्वारा इस विषय में की गई कल्पना यह है कि **महासांघिक** अपने प्रवृत्ति में महायानी थे।

"बुद्ध में ऐसी कौन सी चीज थी जिसने उनको ये भव्य एवं गंभीर सत्य दिखलाए और उनसे इनकी घोषणा करवाई? ऐसा क्या था जिसने उनमें एक ऐसे श्रेष्ठ एवं भव्य चरित्र का निर्माण किया? बुद्ध के मन में क्या था जिसने उन्हें बौद्धिक एवं धार्मिक जीवन की ऐसी पूर्णता पर पहुँचा दिया? यह कैसे संभव था कि ऐसे उन्नत नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से युक्त बुद्ध को भी जन्म एवं मृत्यु के चक्कर में पड़ना पड़ा, जो सामान्य मर्त्यों का भाग्य होता है। कुछ ऐसे ही प्रश्न बार-बार पूछे जाते रहें होंगे, इससे पहले कि वे इन प्रश्नों का उत्तर **धर्मकाय** एवं त्रिकाय के माध्यम से दे सकते हैं।

बुद्ध कौन थे?

यह प्रमाण कि ये प्रश्न तथागत के परिनिर्वाण में प्रवेश करने के बाद लगातार उनके शिष्यों के मनों को परेशान कर रहे थे, दक्षिणी एवं उत्तरी के दोनों प्रकार के ग्रंथों में विकीर्ण रूप में उद्घाटित हैं। बुद्ध के तुरन्त बाद के उनके अनुयायियों को यह पश्चाताप था कि उन्होंने बुद्ध से अपने पार्थिव जीवन को लम्बा करने के लिए नहीं कहा, जब कि बुद्ध ने उनसे कहा था कि यदि वे चाहते हैं तो वे ऐसा कर सकते थे, और तथागत के अवशेषों के ऊपर उनका विलाप है, "संसार का प्रकाश कितनी जल्दी बुझ गया है!"[1] इन कथनों को संदेह की बौछार की पूर्वानुमान करने वाली पहली बूँदे समझा जा सकता है और उनके व्यक्तित्त्व के अनुमान के रूप में समझा जा सकता है।

सुवर्णप्रभासूत्र[2] के अनुसार **रूचिरकेतु** नामक बोधिसत्त्व इस संदेह से बहुत अधिक परेशान था कि शाक्यमुनि तथागत का जीवन अस्सी वर्ष पर समाप्त होने वाला इतना छोटा क्यों था। उन्होंने यह शिक्षा दी थी कि जिन्होंने अपने पूर्व जीवनों

---

1. **महापरिनिर्वाण सूत्त।**
2. इस सूत्र के तीन चीनी अनुवाद हैं : पाचवीं शताब्दी के प्रथम दो दशाब्दों में **धर्मरक्ष** द्वारा पहला; दूसरा, **लियांग वंश के परमार्थ,** द्वारा, जो 546 ए. डी. में चीन आए, और 569 ए. डी. में मृत्यु को प्राप्त हो गए; और तीसरा **तांग वंश के इत्सिंग** द्वारा, जो 695 में भारत की तीर्थ यात्रा से वापिस आए और इस सूत्र का 703 ए. डी. में अनुवाद किया। यह अन्तिम **सुवर्णप्रभा** का केवल पूर्णचीनी अनुवाद है। नेपाल से प्राप्त मूल संस्कृत एक भाग 1898 में **बुद्धिस्ट टैक्स्ट सोसाइटि ऑफ् इण्डिया** द्वारा प्रकाशित किया गया था, नाञ्जो, सं. 126, 127. 130।

में किसी जीवित प्राणी की हिंसा नहीं की, और जो उदारमन से दान दिया करते थे, वे पृथिवी पर काफी लम्बा जीवन जी सकते थे; तब स्वयं तथागत का जीवन इतना छोटा क्यों था, जिन्होंने अनादि काल से ही उन सद्‌गुणों का अभ्यास किया था? सूत्र यह दर्ज करता है कि यह सन्देह उन चार तथागतों द्वारा इस घोषणा के द्वारा दूर किया गया था जो रहस्यात्मक ढंग से उन संदेह कर्ता के सामने प्रकट हुए और उनको बतलाया कि "समुद्र की प्रत्येक जल की बूँद को गिना जा सकता है, परन्तु शाक्यमुनि की आयु को कोई भी नाप नहीं सकता है। सुमेरू पर्वत के सरसों के बीजों के समान टुकड़े-टुकड़े कर दो और हम उनको गिन सकते हैं, परन्तु शाक्यमुनि की आयु को कोई भी नहीं नाप सकता है, बुद्ध ने कभी भी परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं किया; सद्धर्म कभी भी समाप्त नहीं होगा। उन्होंने चेतन प्राणियों के लाभ के लिए ही केवल अपनी पार्थिव मृत्यु को प्रदर्शित किया था।

यहाँ हमारे पास शाक्यमुनि[1] की शारीरिक मृत्यु से उत्पन्न होने वाले आध्यात्मिक

1. यह विचार कि महान व्यक्ति कभी भी नहीं मरते हैं; सार्वभौमिक प्रतीत होता है। आध्यात्मिक रूप से वे कभी भी नष्ट नहीं होगे क्योंकि जिन विचारों ने उनको हिला दिया और मानवता के इतिहास में उनको प्रसिद्ध बना दिया, वे सत्य से उत्पन्न होते हैं। इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति, जिसके पास श्रेष्ठ विचार है, अमर है, जब कि आत्माएँ, जो टीम-टाम से निर्मित हैं, निश्चित रूप से विनष्ट होने के लिए नियत हैं। परन्तु जनता इस प्रकार के अमृतत्त्व से संतुष्ट नहीं होती है। उनके पास कुछ अधिक मूर्त, अधिक ऐन्द्रिय एवं अधिक वैयक्तिक होना चाहिए। ईसा का शरीरिक रूप से उत्थान इस सत्य का एक बढ़िया उदाहरण है। जब ईसा के अनुयायियों ने अपने स्वामी की कब्र को खोदा, तो वहाँ उसका शरीर नहीं मिला, कथानक ऐसा बतलाता है, और उन्होंने तत्काल ही उत्थान के विचार की बात सोची क्योंकि उन्होंने तर्क दिया कि जीसिस जैसे महान व्यक्ति का वही हाल नहीं हो सकता है जो केवल साधारण मर्त्यों का होता है। अब उसके शारीरिक उत्थान की कहानी के पंख उग आए और यह जंगल की आग की तरह फैल गई, कुछ लोगों ने उनसे बात-चीत करते हुए सुना, कुछ लोगों ने उनको रोटी को तोड़ते हुए देखा, और अन्य कुछ लोगों ने उनके घावों को भी छूआ। प्राचीन ईसाई लोगों ने कैसा घटिया भौतिक विचार उत्थान एवं अमृतत्त्व के बारे में सँजोया था (और अफसोस, बीसवीं सदी के कुछ लोग भी ऐसा ही विचार रखते हैं)। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं है कि आदिम बौद्ध लोगों ने भी बुद्ध के व्यक्तित्त्व के बारे में एक गंभीर प्रश्न उठाया था, जिसकी परिणति महायानियों के संभोगकाय के रूप में हुई।

धर्मकाय का स्वरूप विद्यमान है। यहाँ हमारे पास वह कड़ी विद्यमान है जो मानव शाक्यमुनि बुद्ध एवं **धर्मकाय** के आध्यात्मिक अस्तित्त्व के बीच के लम्बे अन्तराल को पाटती है। चुण्ड के द्वारा दिए गए भोजन को ग्रहण करने के बाद बुद्ध की मृत्यु नहीं हुई थी। उनकी आयु अस्सी वर्ष की नहीं थी। उनका जीवन एक वायवीय शून्यता में नहीं पहुँचा था, जब उनके अस्सी कलश राजाओं एवं ब्राह्मणों में विभाजित किए गए थे। उनके सद्‌गुण एवं पुण्य, जो असंख्य कल्पों में अर्जित किए गए थे, इस अचानक ढंग से समाप्त नहीं हो सकते थे। उनके जीवन का जो सार था–और हमारा जीवन भी शारीरिक अस्तित्त्व के सुख–दुःख के साथ ही विनष्ट नहीं हो सकता था। एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप में बुद्ध निश्चित ही रूपान्तरण के अधीन थे इसी प्रकार प्रत्येक मर्त्य भी है, परन्तु उनका सत्य हमेशा के लिए बना रहना चाहिए। उनका **धर्मकाय** जन्म एवं मृत्यु से भी ऊपर है और **निर्वाण** से भी ऊपर है; परन्तु कर्म की नियति के अनुसार उनका **निर्माणकाय** **तथागत** के गर्भ से उत्पन्न होता है और जब कर्म अपनी ऊर्जा समाप्त कर देता है तो यह विनष्ट हो जाता है। बुद्ध जो आज भी गृद्धकूट पवर्त के शिखर पर स्थित हैं, और सभी को आनन्द एवं सुख का संदेश दे रहे हैं और जिन्होंने हमें दूसरी अन्य बहुमूल्य शिक्षाओं के बीच **अवतंसकसूत्र** एवं **सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र** जैसे ग्रंथ वसीयत में प्रदान किए कमोबेश रूप में एक शाश्वत भावना की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। महायानियों द्वारा सूत्रबद्ध किया गया **धर्मकाय** का सिद्धान्त इस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ और इसी अन्तराल से **त्रिकाय** का सिद्धान्त भी एक ऐसा ही प्राकृतिक सिलसिला था। क्योंकि उपर्युक्त बतलाई गई समस्याओं का समुचित समाधान एक दूसरे के बिना प्रस्तुत नहीं कर सकता था।

त्रिकाय सुवर्णप्रभा में व्याख्यायित रूप में

तब तथागत का **त्रिकाय** क्या है? यह है : (1) **निर्माणकाय**; (2) **संभोग काय**; और (3) **धर्मकाय**। यदि हम बौद्ध एवं ईसाई त्रयी में साम्यता खोजें, **निर्माण काय** को शरीरधारी ईसा के समानान्तर समझा जा सकता है, **संभोगकाय** को भव्य ईसा के समानान्तर समझा जा सकता है या पवित्र प्रेत के समानान्तर समझा जा सकता है और **धर्मकाय** को ईश्वरत्व के समानान्तर समझा जा सकता है।

हम **सुवर्णप्रभा** से फिर कुछ उद्धरण देते हैं जिसमें (**ईत्सिंग** का अनुवाद,

अध्याय III) हमें त्रिकाय के सिद्धान्त के संबंध में निम्नलिखित कथन उपलब्ध होते हैं।

''तथागत, जब वे अनुशासित होने की स्थिति में ही थे, उन्होंने चेतन प्राणियों के लिए नैतिकता के भिन्न-भिन्न कार्य करने का अभ्यास किया। इस अभ्यास ने अन्तिम रूप से पूर्णता प्राप्त की, परिपक्वता पर पहुँचे और इसके पुण्य के कारण उन्होंने एक आश्चर्यजनक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त की। इस शक्ति ने उनको चेतन प्राणियों के विचारों, कार्यों एवं रहन-सहन के संदर्भ में प्रतिक्रिया करने के लिए समर्थ बनाया। उन्होंने उनको पूर्णतया ठीक प्रकार से समझा और समुचित अवसर को कभी भी नहीं गँवाया (उनकी आवश्यकताओं के लिए प्रतिक्रिया करने में)। उन्होंने समुचित स्थान पर और समुचित क्षण में अपने आपको उद्घाटित किया; अनेक शारीरिक स्वरूपों को धारण करते हुए उन्होंने समुचित प्रकार से काम किए (मर्त्य लोगों की आवश्यकताओं के लिए प्रतिक्रिया करने में)। ये शारीरिक स्वरूप ही तथागत की निर्माणकाय है।

''बोधिसत्त्वों को धर्म से परिचित कराने के लिए, उनको सर्वोच्च यथार्थ में उपदेश देने के लिए, उनको संसार एवं निर्वाण को समझाने के लिए, तथागत एक रूचि के होते हैं। अहंकार, वैयक्तिकता एवं पुनर्जन्म के विचारों को नष्ट करने के लिए, प्रसन्नता को प्रोत्साहित करने के लिए, असंख्य बुद्ध-धर्मों की आधारशिला रखने के लिए, तथता, तथता के ज्ञान, और सहज इच्छा के पूर्णतया अनुकूल बनने के लिए तथागत अपने आपको एक ऐसे स्वरूप में अभिव्यक्त करते हैं जो बत्तीस बड़े एवं अस्सी छोटे श्रेष्ठता के लक्षणों के पूर्णतया अनुकूल हैं। अपने सिर एवं गर्दन के आस-पास एक देदीप्यमान प्रभामण्डल से युक्त तथागतों को संभोगकाय धारण किए गए बतलाया गया है।[1]

''जब पापों (भौतिक, बौद्धिक, एवं भावनात्मक) से उत्पन्न होने वाली सभी संभव बाधाएँ पूर्णतया दूर हो जाती हैं, और जब सभी संभव सद्धर्म सुरक्षित हो जाते हैं, तब कुछ भी शेष नहीं रहेगा; केवल तथता एवं तथता का ज्ञान, यह धर्मकाय है।

''तथागत के पहले दो रूप अस्थायी (अनित्य) अस्तित्व हैं, परन्तु अन्तिम

1. इसकी तुलना रूपान्तरित ईसा से कीजिए।

एक यथार्थ है; जहाँ पर पहले दो को अपने अस्तित्त्व का कारण उपलब्ध होता है। क्यों? क्योंकि तथता के धर्म एवं अविशिष्टता के ज्ञान से वियुक्त होकर कोई भी बुद्धधर्म कभी भी विद्यमान नहीं रह सकता है; क्योंकि यह तथता एवं इसका ज्ञान ही है जो बुद्ध-धर्म के सभी संभव रूपों को अपने आप में समाहित करती है और सभी आवेगों एवं पापों के पूर्ण विनाश को संभव बनाती है (विशिष्टता से उत्पन्न होने वाले आवेग एवं पाप)।''

उपर्युक्त के अनुसार **धर्मकाय**, जो तथता या तथता के ज्ञान के बराबर है, पूर्ण है; परन्तु चन्द्रमा के समान जिसका प्रतिबिम्ब पानी की एक बूँद में दिखलाई पड़ता है और लहरों के अनन्त विस्तार में भी दिखलाई पड़ता है, **धर्मकाय** सबसे स्थूल भौतिक स्वरूप से लेकर सूक्ष्मतम आध्यात्मिक अस्तित्त्व तक के सभी संभव आयामों को अपने आप पर धारण कर लेता है। जब यह उन बोधिसत्त्वों की आवश्यकताओं के लिए प्रतिक्रिया व्यक्त करता है जिनका आध्यात्मिक जीवन साधारण मर्त्यों की अपेक्षा एक अधिक ऊँचे धरातल पर विद्यमान रहता है, यह अपने ऊपर **संभोगकाय** का रूप ग्रहण कर लेता है। यह काय एक अति प्राकृतिक अस्तित्त्व की होती है, और महायान शास्त्रों के लगभग सभी बुद्ध प्राणियों की इस कोटि से ही संबंधित होते हैं। **अश्वघोष** (पृ. 101) पर कहते हैं:

''इस शरीर के निःसीम रूप होते हैं। रूप के निःसीम लक्षण होते हैं। लक्षण में निःसीम श्रेष्ठताएं होती हैं। इसके साथ रहने वाली सिद्धि अर्थात्, वह क्षेत्र जहाँ पर उत्पन्न होना उनकी नियति है (अपने पूर्व कर्म द्वारा), उसके पास भी असंख्य पुण्य एवं अलंकरण होते हैं। अपने आपको सर्वत्र अभिव्यक्त करता हुआ **धर्मकाय**, असंख्य, अनन्त, निःसीम एवं अविरामी है (अपनी गतिविधि में) जो सीधे मन (**धर्मकाय**) से निकलता है।''

परन्तु सामान्य मर्त्यों की आँखों को उद्घाटित होने वाले बुद्ध इस प्रकार के नहीं होते हैं। वे स्वयं सामान्य मर्त्य होते हैं, और पार्थिव शाक्यमुनि, जो मायादेवी के गर्भ से पैदा हुए और अस्सी साल की आयु में साल वृक्ष के नीचे मृत्यु को प्राप्त हो गए, उनमें से ही एक थे। वे आवश्यक रूप से **धर्मकाय** की अभिव्यक्ति ही थे, और इस प्रकार सामान्य हम लोग उनसे कुछ ग्रहण करते हैं। परन्तु सामान्य लोग, जब तक अपने भूतकाल में किए गए सत् कर्म से लाभान्वित न हों, सामान्यतया अविद्या की माया के अन्तर्गत रहते हैं। वे धर्मकाय की पूर्ण विशुद्धि वाली आभा

को नहीं देखते हैं जो खेतों में चमकती हुई तितलियों एवं वायु में मुर्गे की (ध्वनि) के समान है। वे अन्धों के समान जंगली अन्धकार में विचरण कर रहे हैं, वे निरर्थक रूप में कुछ खोज रहे हैं, वे अन्धाधुँध (लोगों के दरवाजों पर) घण्टी बजा रहे हैं। इन लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए **धर्मकाय** एक मानव बुद्ध का एक पार्थिव स्वरूप धारण करता है।

संस्कृति की सभी स्थितियों में रहस्योद्घाटन

प्रसंगवश हम यह टिप्पणी कर दें कि यह इस अर्थ में ही है कि बौद्धों द्वारा ईसा की एक मानव रूप में **धर्मकाय** की अभिव्यक्ति के रूप में कल्पना की जाती हैं। वे एक बुद्ध हैं और इस प्रकार से वे आवश्यक तौर पर शाक्यमुनि से भिन्न नहीं है। **धर्मकाय** ने अपने आपको एक भारतीय मन के लिए शाक्यमुनि के रूप में उद्घाटित किया था, क्योंकि यह उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल था। सामी धरातल पर **धर्मकाय** ईसा के व्यक्ति के रूप में प्रकट हुए, क्योंकि यह उनके स्वभाव के सर्वथा अनुकूल था। फिर **त्रिकाय** का सिद्धान्त इससे भी आगे जाता है और यह घोषणा करता है कि राक्षस, पशु, देवता, पितृ-पूजा, प्रकृति-पूजा, और क्या नहीं ये सब **धर्मकाय** की गतिविधि एवं उनके उद्घाटन के कारण हैं, **धर्मकाय** जंगली एवं अर्ध-विकसित लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर में ऐसा करते हैं। बौद्ध लोग यह सोचते हैं कि **धर्मकाय** प्राणियों के आध्यात्मिक भलाई के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करता है, और जो भी इसके द्वारा किया जाता है, उद्घाटन के समय यह उनकी सर्वोत्तम भलाई के लिए ही किया जाता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि **धर्मकाय** की प्रकृति को वे कैसे समझते हैं। धर्म के महान स्वामी एक पशु के सामने कभी भी मोती का दाना नहीं फेंकते है क्योंकि वे जानते हैं कि पशुओं की आवश्यकता कुछ ठोस चीजों के लिए होती है। वे उन लोगों के सामने अपने आपको एक उन्नत आध्यात्मिक स्वरूप में उद्घाटित नहीं करते हैं जिनके हृदय स्थूल भौतिक चीजों के अतिरिक्त किसी भी चीज को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते हैं। क्योंकि वे एक तात्त्विक या अत्यधिक सूक्ष्म व्यक्ति की अपेक्षा पशुदेवताओं को ज्यादा अच्छे ढंग से समझते हैं, उनको उन्हें ग्रहण करना चाहिए और उनकी पूजा के माध्यम से सभी संभव आशीर्वाद एवं लाभ प्राप्त करने चाहिए। परन्तु ज्यों ही वे पशुओं या मानव-आकृतियों वाले देवताओं से संतुष्ट हो जाते

हैं, जो उनकी प्रज्ञावान बुद्धि समझ सकती है, तो बिल्कुल वैसी ही चीज को लेने में एक क्षण की भी हिचक नहीं होनी चाहिए।[1] इस प्रकार सभी प्राणी अनजाने ढंग से रहस्य के ऊँचे से ऊँचे क्षेत्रों की ओर अग्रसर हो जाते हैं, जब तक वे **धर्मकाय** के सही अर्थ को इसकी पूर्ण विशुद्धि में पूरी तरह नहीं ग्रहण कर लें या ईसाई शब्दावली का प्रयोग करें तो, जब तक "हम उस ईश्वर की आभा को आमने-सामने एक शीशे में नहीं देख लेते हैं और उस ईश्वर की भावना द्वारा उस आभा के माध्यम से उसी आकृति में परिवर्तित न हो जाएँ (2 कोर III, 18)

अब महायानी यह तर्क देते हैं कि वह कारण, जिसकी वजह से शाक्यमुनि ने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, जब उनके विचार से उनका पार्थिव जीवन समाप्त हो गया था, यह है कि उनके जन्म एवं मृत्यु के नियम के सामने उनके इस आत्म-समर्पण के माध्यम से उन्होंने अपने में पार्थिव जीवन की अनित्यता एवं इसको अन्तिम यथार्थ मानकर इससे चिपके रहने की मूर्खता को उदाहृत करने की इच्छा से उन्होंने ऐसा किया। जहाँ तक उनके **धर्मकाय** का प्रश्न है, इसका एक शाश्वत जीवन है, यह कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ था, और यह कभी भी

---

1. तुलना करें I कोर, XII. II. "अब मैं बच्चा था तो बच्चे की तरह बोलता था, मैं एक बच्चे की भाँति समझता था, मैं एक बच्चे के समान सोचता था, परन्तु जब मैं एक व्यक्ति बन गया, मैंने बचकानी चीजों को छोड़ दिया।" हमारी हमेशा ही ऊर्ध्वगामी आध्यात्मिक प्रगति का यह बिन्दु सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में भली भाँति उदाहृत किया गया है। देखिए, अध्याय II. III. IV. V और XI। अध्याय II पृ. 49 (कर्न का अनुवाद) से उद्धृत निम्नलिखित संदर्भ उपायों एवं उद्देश्य की एकता के वैभिन्य से संबंधित एक ठीक-ठाक एवं समुचित दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगा, जैसा यहाँ समझाया गया है, "सभी सर्वोच्च मनुष्यों ने अत्यधिक पवित्र नियमों को उदाहरणों, तर्कों एवं विवादों एवं उपायकोशल्य के हजारों प्रमाणों के साथ उद्घाटित किया था। परन्तु सभी ने केवल एक ही ज्ञान को इस पृथिवी पर अभिव्यक्त किया और उसे लोगों से परिचित करवाया; उन्होंने केवल एक ही ज्ञान से कल्पनातीत ढंग से हजारों कोटियों के लोगों को पूर्ण परिपक्वता पर पहुँचा दिया था।" जैसा अन्यत्र देखा गया है यह सिद्धान्त कभी-कभी उपाय के सिद्धान्त के रूप में विदित है। उपाय शब्द की अंग्रेजी में अनूदित करना कठिन है; शाब्दिक रूप से इसका अर्थ है "रास्ता," 'तरीका" या "चतुराई।" पूरी व्याख्या के लिए देखें पृ. 298 फुटनोट।

नष्ट नहीं होगा; बोधिसत्त्वों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के कहने पर यह पूर्णता का चोला उतार देगा और संभोगकाय के रूप में उपदेश देगा, ''कभी भी समाप्त न होने वाले उपदेश हमेशा ही एक बहाव के समान चलते रहते हैं''। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि बौद्ध लोग मानवता के सभी धार्मिक या नैतिक नायकों पर विचार करने के लिए तैयार रहते हैं, धर्मकाय के निर्माणकाय के रूप में, उनकी राष्ट्रीयता कुछ भी क्यों न हो। यदि ईसाई विचारों के कहने पर ईश्वर अपने आपको उस प्रत्येक प्राणी में उद्घाटित करता है जो उसके योग्य हैं। वह इतिहास के एक निश्चित समय में ही नहीं, परन्तु सर्वत्र एवं हर समय में अपने आपको उद्घाटित करता है। मानव संस्कृति की सभी स्थितियों में उसकी आभा दृष्टिगोचर होती है। ईश्वर की अपनी प्रकृति से ही यह अभिव्यक्ति विरामी एवं विरल नहीं हो सकती है, जैसा कि कुछ ''कट्टरपन्थी ईसाइयों'' द्वारा कल्पना की जाती है। सेण्ट पाल का दक्षिणी यूनान के कोरिन्थ के निवासियों को निम्नलिखित धर्मपत्र, जब इसको इस संदर्भ में पढ़ा जाए तो यह एक बौद्ध दार्शनिक के कथन जैसा लगता है : ''उपहारों की विविधता वही पवित्र आत्मा है। प्रशासनों में विविधता है, परन्तु वही एक ही स्वामी है। कार्यो में भी विविधता है परन्तु वही एक ईश्वर है जो सर्वेसर्वा के रूप में कार्य करता है। परन्तु उससे लाभान्वित होने के लिए पवित्र आत्मा की अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति को प्रदत्त है। क्योंकि एक व्यक्ति को पवित्र आत्मा द्वारा प्रज्ञा का शब्द दिया जाता है; उसी पवित्र आत्मा द्वारा दूसरे व्यक्ति का ज्ञान का एक शब्द दिया जाता है; उसी पवित्र आत्मा द्वारा एक दूसरे व्यक्ति को श्रद्धा दी जाती है; उसी पवित्र आत्मा द्वारा एक दूसरे व्यक्ति को स्वस्थ रहने का उपहार दिया जाता है; उसी पवित्र आत्मा द्वारा दूसरे व्यक्ति को चमत्कारों की कार्यशैली दी जाती है; उसी पवित्र आत्मा द्वारा एक दूसरे व्यक्ति को भविष्यवाणी करने की शक्ति प्रदान की जाती है; किसी दूसरे व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की बोलियाँ दी जाती हैं, किसी दूसरे व्यक्ति को बोलियों की व्याख्या करने की कला दी जाती है; परन्तु इन सभी कार्यों में वही एक पवित्र आत्मा कार्य करती है, अपनी इच्छानुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार से वह अपने आपको विभाजित कर लेती है। क्योंकि शरीर एक ही है और इसके अनेक भाग हैं और वे सभी भाग एक ही शरीर के हैं, अनेक होते हुए भी वे सब एक ही शरीर हैं: ईसा भी इसी प्रकार के हैं। क्योंकि एक ही पवित्र आत्मा द्वारा हम सब एक ही शरीर में दीक्षित है, चाहें हम यहूदी हों या

गैर-यहूदी, चाहे हम बन्धन में हो या स्वतन्त्र; और हम सबको एक ही पवित्र आत्मा का पान करने के लिए निर्मित किया गया है।

संभोगकाय

त्रिकाय का एक विशिष्ट बिन्दु, जिसको आधुनिक मन समझना कठिन पाता है, **संभोगकाय** की भावना है। हम **धर्मकाय** एवं **निर्माणकाय** के बीच के संबंध को समझ सकते हैं, **निर्माणकाय** ईश्वर के अवतार के विचार जैसा ही है। क्योंकि **धर्मकाय** त्रिलोकी संसार के बाहर विद्यमान नहीं है परन्तु इसमें यह अपने अस्तित्त्व के उद्देश्य के रूप में विद्यमान रहता है, सभी प्राणियों को इसकी आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में समझा जाना चाहिए; और इसी अर्थ में बोद्ध लोग कभी-कभी अपने आपको बोधिसत्त्व कहने लगते हैं, अर्थात् बुद्धिमान प्राणी, क्योंकि **बोधि** चेतन प्राणियों में पाया जाने वाला **धर्मकाय** का मानसिक पक्ष है। परन्तु **संभोगकाय** का विचार बहुत ही रहस्यात्मक है जो एक सीमित चेतना से मापा नहीं जा सकता है। यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हमें यह बतलाया जाता है कि **संभोगकाय** एक शारीरिक अस्तित्त्व है और साथ-साथ सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और **संभोगकाय** के दो रूप हैं, एक आत्म-आनन्द के लिए है और दूसरा बोधिसत्त्वों के लिए एक धार्मिक पदार्थ जैसा है।

संभोगकाय शारीरिक है और यह निःसीम है। यह **सुवर्णप्रभा** एवं **अश्वघोष** के उद्धरणों से पिछले पृष्ठों में पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है। और अधिक पुष्टि के लिए **असंग** एवं **वसुबन्धु** जैसे आधिकारिक लेखक को यहाँ उद्धत किया जाएगा।

''ए कंप्रिहेन्सिव ट्रीटाइज् ऑन् दि महायान'' नामक ग्रंथ में लेखक **असंग** एवं इसके टीकाकार **वसुबन्धु** यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि **संभोगकाय धर्मकाय** का उद्देश्य क्यों नहीं हो सकता है, इसके उलट होने की अपेक्षा; और इस संदर्भ में तर्क देते हैं कि (1) **संभोगकाय** का निर्माण पाँच **स्कन्धों** से होता है, अर्थात् **रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार** और **विज्ञान**; (2) यह विशिष्टता के अधीन है; (3) बोधिसत्त्वों की इच्छाओं के अनुसार यह विभिन्न सद्गुणों एवं चरित्रों को उद्घाटित करता है; (4) उसी व्यक्ति को भी यह अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न ढंग से प्रतीत होता है; (5) यह विविध चरित्रों एवं विशेषताओं वाले बोधिसत्त्वों की सभा के सामने उनके निःसीम विविध प्रवृत्तियों को संतुष्ट

करने के लिए जब यह अपने आपको एक साथ अभिव्यक्त करता है; यह तुरन्त ही विविध रूपों को धारण कर लेता है और (6) यह आलय विज्ञान की एक रचना है।

असंग एवं **वसुबन्धु** द्वारा बतलाई गई **संभोगकाय** की ये छः विशेषताएँ इसको पूरी तरह **धर्मकाय** पर निर्भर बना देती हैं, परन्तु इसकी गंभीर एवं रहस्यात्मक प्रकृति में गहरे प्रवेश के लिए वे हमको किसी अच्छी स्थिति में नहीं पहुँचाते हैं। इसकी अतिप्राकृतिक अबोधगम्यता हमेशा के लिए वैसी ही बनी रहती है। एक निश्चित अर्थ में, फिर, **संभोगकाय** को एक फरिश्ते के ईसाई विचार के समानान्तर समझा जा सकता है। अतिप्राकृतिकता एवं दीप्ति ऐसे दो लक्षण हैं जो दोनों में पाए जाते हैं, परन्तु फरिश्ते ईश्वर की इच्छा को मानव लोगों तक पहुँचाने वाले केवल ईश्वर के संदेशवाहक हैं। जब वे अपने आपको किसी एक खास व्यक्ति के रूप में उद्घाटित करते हैं, यह उनके अपने कारण नहीं होता है। जब वे उससे बात करते हैं; यह उस व्यक्ति के नाम से होता है जिसने उनको भेजा है। वे उसका प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं,वे स्वेच्छा से स्वयं कोई कार्य नहीं करते हैं। इसके विपरीत **संभोगकाय** अपना खुद का स्वामी है। यह **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है। यह उन सभी प्राणियों को आदेश देता है और उनको लाभान्वित करता है जो इसके पास आते हैं। यह अपनी स्वयं की इच्छा एवं निर्णय के अनुसार कार्य करता है। इन पक्षों में **संभोगकाय** फरिश्तों के ईसाई विचार से बिल्कुल ही भिन्न है। परन्तु क्या इसकी अधिक उचित ढंग से आभा के मामले में ईसा से तुलना की जा सकती है?

हमें **असंग** एवं **वसुबन्धु** की अपेक्षा कुछ परवर्ती प्रमाणों के उद्धरण लेने चाहिए और हमें अधिक युक्तियुक्त ढंग से यह देखना चाहिए कि **संभोगकाय** के विचार में कौन से उलझे हुए भाव सम्मिलित हैं। **वसुबन्धु** के **विज्ञानमात्रशास्त्र** (योग दर्शन पर एक ग्रंथ)[1] के टीकाकारों के अनुसार **संभोगकाय** के दो विशिष्ट

1. **योगाचार** संप्रदाय में यह सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथों में से एक है। **वसुबन्धु** ने ग्रंथ को लिखा था, जिसमें केवल तीस ही कारिकाएँ हैं, परन्तु लेखक की मृत्यु के बाद बहुत से टीकाकर हुए, जिन्होंने इस विषय पर स्वाभाविक रूप से अपने आप में अनेक दृष्टिकोणों से व्यापक विचार किया, जैसा कि इस ग्रंथ में अत्यधिक सारगर्भित रूप में चर्चित किया गया है। **हुएन सांग** ने 659 ए. डी. ने दस प्रसिद्ध भारतीय भाष्याकारों ने दस संग्रह बनाए और उनका चीनी भाषा में अनुवाद कर दिया। यह

पक्ष है: (1) कल्पों के अपने धार्मिक अनुशासन के माध्यम से **तथागत** द्वारा आत्म-आनन्द के लिए प्राप्त किया गया शरीर; (2) वह शरीर जो **तथागत सुखावती** में बोधिसत्त्वों में अभिव्यक्त करते हैं। इस अन्तिम शरीर के पास विस्मयकारी आध्यात्मिक शक्तियाँ है, यह **धर्मचक्र** को उद्घाटित करता है, बोधिसत्त्वों द्वारा किए गए सभी सन्देहों का समाधान करता है, और महायान धर्म के आनन्द का उनको उपभोग करने देता है।

केवल एक व्यक्तिनिष्ठ अस्तित्त्व

इन सभी लक्षण-वर्णनों को देखते हुए सबसे अधिक संभव निष्कर्ष जो आधुनिक संदेह मन में आता है, यह है **संभोगकाय** एक बुद्धिमान, सीमित मन की केवल एक सृष्टि है जो सर्वोच्च यथार्थ पर पहुँचने के लिए तुली हुई है, परन्तु अपनी सीमाओं के कारण अपनी पूर्णता के उद्देश्य को प्राप्त करने में समर्थ न होकर सीमित मन अपने ढंग से अपने सभी आदर्शों का एक आध्यात्मिक भौतिक पदार्थ का ताना-बाना बुनता है। यह तार्किक रूप से एक विरोध है, परन्तु धार्मिक दृष्टि से यह आदर एवं पूजा के योग्य पदार्थ है, यह चीज **संभोगकाय**[1] के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह **धर्मकाय** के विशुद्ध रूप एवं निर्माण के पार्थिव रूप के बीच आधे में विद्यामान रहता है। इसका किसी एक से भी संबंध नहीं है, परन्तु यह दोनों से कुछ-कुछ ग्रहण करता है। एक अर्थ में यह **धर्मकाय** के समान आध्यात्मिक है, और फिर भी यह भौतिक सीमाओं से परे नहीं जा सकता है, क्योंकि इसका एक निश्चित एवं सुस्पष्ट स्वरूप है। जब

संग्रह दस पुस्तिकाओं में है और '**डिसकोर्स ऑन दि आइडेन्टिटि ऑफ दि यूनिवर्स**'' नाम से विदित है (चांग वाई शिलुन, नाञ्जो सं. 1197 नामक चीनी शीर्षक का स्वतन्त्र अनुवाद।)

1. मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि अधिकांश ईसाइयों द्वारा समझा गया ईश्वर का स्वरूप स्वयं **धर्मकाय** की अपेक्षा **संभोगकाय** है? कुछ दृष्टियों से उनका ईश्वर बिल्कुल आध्यात्मिक है, परन्तु दूसरी दृष्टि से उसको हमारी तरह एक ठोस भौतिक प्राणी के रूप में समझा जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानव आत्मा हमेशा से ही अपने आपको इस विरोधाभास से मुक्त करने के लिए संघर्ष करती रही है, यद्यपि बिना किसी स्पष्ट सफलता के, जब कि आम जनता इतनी बुद्धिमान एवं विचारवान नहीं है कि वह इस शाश्वत विरोध के बारे में सावधान हो सके, यह उनके मनों से बहुत गहरे रूप में घुसा हुआ है।

एक मानव आत्मा विशुद्ध पदार्थ या एक पूर्ण पदार्थ के लिए प्यासी होती है जिसको स्पर्शग्राह्य स्वरूप में समझा नहीं जा सकता है, तब यह एक संकर, एक नकल या एक प्रतिबिम्ब का निर्माण करती है, और उससे संतुष्ट होने का प्रयास करती है, जैसे एक छोटी सी लड़की के पास अपना एक सहज और पूरी तरह अविकसित मातृत्त्व होता है, जो एक कोमल गुड़िया को आलिंगन करने एवं उसको पालने से संतुष्ट हो जाती है, वह गुड़िया एक वास्तविक जीवन्त बच्चे की प्राणहीन नकल होती है। महायानियों ने अधिकांश रूप में एक ऐसी ही बालसुलभ मानवता को पैदा किया था, ऐसा प्रतीत होता है। उनकी जितनी भी आध्यात्मिक आकांक्षाएँ थी, उन्होंने बिना ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखे उतने ही सूत्र बना लिए, और इन ग्रंथों के कर्त्ता **तथागत** को **संभोगकाय** बना दिया। क्योंकि, यदि **तथागत** के **धर्मकाय** ने कभी भी परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं किया, तब जब भी वे **बोधिसत्त्वों** को उनके उपदेशों एवं गाथाओं की आवश्यकता होती, तो उपदेशों को क्यों नहीं दे सकते थे और गाथाओं को उद्धृत क्यों नहीं कर सकते थे? **सुवर्णप्रभा** (पुस्तिका 2, अध्याय 3) फिर इसी भावना को निम्नलिखित रूप में प्रतिध्वनित करता है :

"एक सादृश्य के द्वारा इसका उदाहरण देते हैं, सूर्य या चन्द्रमा जानबूझ कर कोई भेद नहीं करता है, न ही जल का दर्पण भेद करता है, न ही प्रकाश (जिसको उस शरीर से भिन्न समझा जाता है, जिससे यह निकलता है।) परन्तु जब ये सब तीनों एकत्रित हो जाते हैं, एक बिम्ब पैदा होता है (जल में सूर्य या चन्द्रमा का)। **तथता** एवं **तथता** के ज्ञान के साथ भी ऐसा ही होता है: इसमें कोई विशिष्ट चेतना नहीं होती है, परन्तु अपनी सहज इच्छा के कारण (**तथता** की प्रकृति में अन्त:प्रविष्ट या **धर्मकाय** में भी वही चीज है) **निर्माणकाय** या **संभोगकाय** (**धर्मकाय** के एक प्रतिबिन्ब/छाया के रूप में) चेतन प्राणियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर में अपने आपको उद्घाटित करती है।

"फिर जैसे जल-दर्पण अनन्त रूप में फैलते हुए आकाश के बिम्बों को सभी भिन्न ढंग से प्रकाश के माध्यम द्वारा प्रतिबिम्बित करता है, जब कि आकाश स्वयं इन सभी विशिष्ट चिह्नों से शून्य है, इसी प्रकार से **धर्मकाय** भी विश्वास करने वालों के ग्रहणशील मनों में अपने बिम्बों को भिन्न-भिन्न ढंग से प्रतिबिम्बित करता है, और यह वह अपनी सहज इच्छा के कारण करता है। सभी संभव

पक्षों में इच्छा **निर्माणकाय** एवं **संभोगकाय** को उत्पन्न करती है, जब कि मूल **धर्मकाय** इस कारण रत्तीभर की दुःखी नहीं होता है।''

इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि जब कभी भी हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ पर्याप्त रूप से सघन बन जाती हैं, जब **धर्मकाय** से एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और यह प्रतिक्रिया हमेशा ही एक जैसी नहीं होती है क्योंकि ग्रहण करने वाले मन बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूप से विकास की विभिन्न अवस्थाओं को प्रदर्शित करते हैं। यदि हम चेतन आत्माओं (प्राणी) एवं **धर्मकाय** के बीच इस मेल-मिलाप को एक प्रेरणा का नाम दें, सभी संघटनाएँ को जो हृदय की पूर्णता से पैदा होती हैं और आत्मा की विशुद्धि को प्रतिबिम्बित करती हैं, ''प्रेरणा के कार्य'' कहा जाना चाहिए; और इसी अर्थ में महायानी लोग अपने शास्त्रों को **धर्मकाय** के मूल स्रोत सीधे निसृत रूप में मानते हैं।

आधुनिक महायानियों की प्रवृत्ति

आधुनिक महायानी **त्रिकाय** के सिद्धान्त की इस व्याख्या के पूर्ण रूप से अनुकूल होकर **संभोगकाय** के वस्तुनिष्ठ पक्षों को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। वे उनको एक कल्पनाशील मन की सर्वोत्तम कृत्रिम उत्पत्ति के रूप में समझते हैं; वे एक क्षण के लिए भी सोचने में कभी भी देर नहीं करते हैं कि ये सभी रहस्यात्मक **तथागत** या **बोधिसत्त्व**, जिनको महायान ग्रंथों में कभी-कभी अत्यधिक निरंकुश ढंग से और सामान्यतया इतने अधिक नीरस ढंग से वर्णित किया जाता है ये वस्तुनिष्ठ वास्तविकताएँ हैं, सुखावतियाँ[1], सांसारिक सामग्री— जैसे

---

1. पाठक को यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल एक ही **सुखावती** है जो पश्चिम दिशा में असंख्य मीलों दूर **तथागत** एवं **अमिताभ** के निवास के रूप में **सुखावती व्यूह** में विस्तृत प्रकार से वर्णित है। इसके विपरीत महायानी ग्रंथ यह बात स्वीकार करते हैं कि जितने भी **तथागत** एवं **बोधिसत्त्व** हैं, उतने ही असंख्य **सुखावतियों** का अस्तित्त्व विद्यमान है। इन पवित्र क्षेत्रों में से प्रत्येक की कोई सीमा नहीं है और उसका ब्रह्माण्ड के साथ सह अस्तित्त्व विद्यमान है, और अतः उनका क्षेत्र आवश्यक रूप से एक दूसरे के क्षेत्र को पार करता है एवं उनके कुछ अंश को ढक लेता है। प्रत्येक बुद्धिमान चित्त को यह लगेगा कि एक ऐसे रहस्यात्मक एवं अबोधगम्य तरीके से विद्यमान रहने वाले वे असंख्य बुद्ध-देश हमारी अपनी व्यक्तिनिष्ठ सृष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते हैं।

सोने-चाँदी, पन्ने, बिल्कोरा, मोती एवं दूसरे बहुमूल्य रत्नों से सुसज्जित हैं, अपनी मृत्यु के बाद पवित्र बौद्ध लोग इन अत्यधिक आलंकारिक ढंग से सुसज्जित स्वर्गों में पहुँच जाएँगें, असंख्य बौधिसत्त्वों एवं बुद्धों से घिरे होकर पद्म-पुष्पों की पीठों पर विराजमान होंगे, और वे सभी आध्यात्मिक उपभोगों का आनन्द लेंगे जिनकी एक मानव मन कल्पना कर सकता है। इसके विपरीत आधुनिक बौद्ध लोग धार्मिक जीवन के इन अहंकारपूर्ण भौतिक विचारों को घृणा से देखते हैं। क्योंकि एक पूर्ण रूप से संबुद्ध आत्मा के लिए ये सांसारिक खजाने किस काम के होंगे? **धर्मकाय** की इच्छा को अपना मानकर उसके आलिंगन के आनन्द के बाहर कौन से पार्थिक या स्वर्गिक आनन्द का ऐसी आत्मा स्वप्न देख सकती है?

संक्षेप में सारकथन

सारांश : पालि शास्त्रों में बुद्ध एक मानव प्राणी थे, यद्यपि आकस्मिक ढंग से उनको अतिप्राकृतिक एवं अतिमानव चीजों को ग्रहण करने वाले पुरुष के रूप में वर्णित किया गया है। राजसी जीवन के परित्याग से उनका ऐतिहासिक जीवन प्रारंभ हुआ, फिर वे जंगलों में घूमने लगे, जीवन एवं मृत्यु की बड़ी-बड़ी समस्याओं के समाधान की खोज के लिए एक लम्बी एवं गंभीर साधना, और बोधि वृक्ष के नीचे उनकी अन्तिम प्रज्ञा तब गंगा की उपत्यकाओं में उनका पचास वर्ष का धार्मिक भ्रमण, बौद्धधर्म नामक एक धार्मिक व्यवस्था की स्थापना और अन्तिम रूप से "**अनुपधिशेषनिर्वाण**" में प्रवेश करना। जहाँ तक सीधे-सादे ऐतिहासिक तथ्यों का संबंध है, वे पृंथिवी पर शाक्यमुनि के जीवन को समाप्त करते हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु अत्यधिक आदर, जो उनके शिष्यों द्वारा अनुभव किया जाता था, उनके स्वामी की इस नीरस मानवता से संतुष्ट नहीं हो सकता था और उन्होंने उनको एक मर्त्य आत्मा से कहीं ज्यादा बना दिया था। इसलिए पालि परम्परा भी पार्थिव जीवन के अतिरिक्त उनको एक अतिलौकिक जीवन प्रदान करती है। मायादेवी के गर्भ में प्रवेश करने से पहले वे तुषित नामक स्वर्ग में एक बोधिसत्त्व रह चुके थे। उनके आत्म-त्याग के कार्यों के कारण उनको बोधिसत्त्व का सम्मान प्रदान किया गया था, वे आत्म-त्याग के कार्य उनके (भूतकाल के) असंख्य अवतारों में प्रशंसित हो चुके थे। जब वे जीवन धारण करके हमारे बीच चल-फिर रहे थे, एक महान व्यक्ति के बत्तीस महान एवं अस्सी छोटे

सर्वोत्तम लक्षणों से उनको अलंकृत किया गया था।[1] परन्तु धर्म की शिक्षा देने वाले वे पहले बुद्ध नहीं थे, जो पृथिवी पर आए थे, क्योंकि उनसे पहले भी सात बुद्ध हो चुके थे, न ही हममें प्रकट होने वाले वे अन्तिम बुद्ध थे, क्योंकि मैत्रेय नाम का एक बोधिसत्त्व अब इस समय स्वर्ग में है, और आने वाले समय में बुद्धत्व को प्राप्त करने की तैयारी में लगा हुआ है। परन्तु पालि लेखक यहाँ ही रुक गए, उन्होंने बुद्धत्व की प्रकृति के विषय में कोई आगे अटकल बाजी करने का साहस नहीं किया। उनकी धार्मिक आकांक्षाओं ने उनको कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की प्रेरणा नहीं दी। उन्होंने सीधे-सादे सूत्रों या गाथाओं का

1. इन लक्षणों के लिए देखिए **धर्मसंग्रह** पृ. 53 फुटनोट। बुद्ध के व्यक्तित्त्व को रहस्यात्मक बनाने या देवत्व प्रदान करने की प्रकिया स्वामी की मृत्यु के बाद तुरन्त बाद चलती हुई प्रतीत होती है; **निर्माणकाय** एवं **संभोगकाय** का यह महायानी विचार इस प्रक्रिया की केवल निष्पत्ति है। दक्षिणी बौद्ध लोग, जिनको कभी कभी बौद्धधर्म के और अधिक "आदिम" स्वरूप का प्रतिनिधत्त्व करने वालों के रूप में समझा जाता है, महायान के एक महान् व्यक्ति के उतने ही बत्तीस बड़े एवं अस्सी छोटे सर्वोत्तम लक्षणों का वर्णन करते हैं, जैसे **शाक्यमुनि** के पास रहे होंगे (उदाहरण के लिए देखिए, **मिलिन्दपञ्ञ, सेक्रिड बुक्स् ऑफ दि ईस्ट** वा. XXXI पृ. 116)। परन्तु एक सामान्य बुद्धि का आदमी भी किसी मानव प्राणी के उन शारीरिक विशेषताओं वाले लक्षणों की मूर्खता को तुरन्त जान लेगा। ऐसा लगता है कि इसी ने ज्यादा तार्किक महायानियों को मानव बुद्ध को उन रहस्यात्मक चिह्नों से युक्त रूप में चित्रित करने के परम्परागत तरीके को छोड़ने के लिए प्रेरित किया होगा। उन्होंने **त्रिकाय** के सिद्धान्त से उनकी **संभोगकाय** के लक्षणों में परिवर्तित कर दिया, अर्थात् बुद्ध को अपने सद्‌गुणी पार्थिव जीवन के फल को एक स्वर्गिक निवास में उपभोग करते हुए (चित्रित कर दिया) बुद्ध, जो राजा **शुद्धोदन** के पुत्र के रूप में जीवन्त होकर रहते थे, भी हमारे समान एक साधारण मानव के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे, क्योंकि वे **निर्माणकाय** के रूप में हमारे सामने प्रकट हुए, अर्थात्, बत्तीय या अस्सी जैसे शारीरिक लक्षणों के बिना **निर्माणकाय** के रूप में प्रकट हुए। तथाकथित दक्षिणी बौद्ध लोगों ने मानव बुद्ध को इन अनोखे चिह्नों से युक्त करने की मूर्खता की उपेक्षा की; और यह तथ्य इसकी व्याख्या करता है कि ज्यों ही उनके परवर्ती अनुयायियों में बुद्ध के उनके अपने व्यक्तिगत शिष्यों में इस व्यक्ति की स्मृति विलुप्त हुई, और जब तक विविध संप्रदायों ने इस प्रश्न का समाधान अपने-अपने ठंग से नहीं खोज निकाला, सघन अटकलबाजी एवं चतुर कल्पना का लगातार प्रयोग होने लगा।

गान किया, जितने कठिन एवं शाब्दिक ढंग से जितना वे कर सकते थे, उन्होंने शीलव्रतों का पालन किया, और उन्होंने सोचा कि उनके स्वामी (शास्ता) की पवित्र आत्मा इन देशनाओं में अभी भी जीवित है, – केवल **तथागत** का व्यक्तित्व ही।

परन्तु उसी समय बुद्ध के शिष्यों का एक दूसरा समूह भी था, जिसका धार्मिक एवं बौद्धिक झुकाव अपने सह-विश्वासकर्ताओं के समान नहीं था; और उसी कारण ही बुद्ध में उनकी शिक्षाओं में विद्यमान होने के रूप में एक सादे विश्वास ने उनको बिल्कुल संतुष्ट नहीं किया। उन्होंने शायद इस ढंग से तर्क दिए: ''**शाक्यमुनि** के आने से पहले सात बुद्ध थे, और अभी एक और आने वाला है, हमें यह पूछना चाहिए, क्या उन्होंने देशना देने के लिए अपना अधिकार एवं ज्ञान प्राप्त किया? ऐसे कैसे हो सकता है और अधिक बुद्ध नहीं हो सकते हैं, और ज्यादा रूप में हमारे पास नहीं आते हैं? यदि वे हमारे समान मानव प्राणी थे, तो हम स्वयं ही बुद्ध क्यों नहीं बन जाएँ?'' ये प्रश्न, जब तार्किक ढंग से किए गए, स्वाभाविक रूप से ये उनको **धर्मकाय** के सिद्धान्त की ओर ले गए, सभी भूतकाल के बुद्ध और आने वाले, और हमारे जैसे मिट्टी के बने साधारण मर्त्य लोग, शीघ्र ही मृत्यु होना जिनकी नियति है, उनके अस्तित्त्व के उद्देश्य **धर्मकाय** को मानते हैं, केवल वही हमारे में और बुद्धों में भी अमर है। अतः पहला धार्मिक प्रयास, जो हमें करना है, सभी बुद्धों एवं सभी प्राणियों के इस आदिरूप को पहचानना है। परन्तु सामान्य मन के लिए इस प्रकार का **धर्मकाय** इतना सूक्ष्म है कि यह उसकी धार्मिक चेतना का विषय बन ही नहीं सकता है, इसलिए उन्होंने उनका वैयक्तिकरण कर दिया था बल्कि उसको भौतिक रूप प्रदान कर दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने **शाक्यमुनि** को एक आदर्श बना दिया, पालि शास्त्रों में वर्णित महानता के शारीरिक लक्षणों से युक्त कर दिया, और उसको स्वर्गिक रूपान्तरण के माध्यम से **तथागत** को संभोगकाय का नाम दे दिया; जबकि ऐतिहासिक बुद्ध को **निर्माणकाय** का नाम दे दिया, और सभी चेतन बोधिसत्त्वों का अर्थात् बुद्ध बनने वाले प्रज्ञावान प्राणियों को भी **निर्माणकाय** बना दिया।

यह आदर्श बुद्ध, या जो वही चीज है, एक वैयक्तिकृत **धर्मकाय** ने महायान बौद्धों के अनुसार कुछ हजार वर्ष पहले मध्य एशिया में सिद्धार्थ गौतम के एक

विशिष्ट व्यक्ति के रूप में न केवल अपने आपको उद्घाटित किया, परन्तु वह अपने आपको हर समय एवं सर्वत्र उद्घाटित कर रहा है। पृथिवी पर ऐसा कोई विशिष्ट उल्लेखनीय स्थान नहीं है जहाँ पर केवल बुद्ध ही अपना प्रकटीकरण करते हैं; अकनिष्ठ स्वर्ग की ऊँचाई से लेकर नरक के धरातल तक वे अपने आपको अबाधित एवं अविरामी रूप से अभिव्यक्त कर रहे हैं और अपने विचारों को फैला रहे हैं, जिनका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी सीमित बुद्धि असमर्थ है। **अवतंसकसूत्र** (**बुद्ध**भद्र का अनुवाद, पुस्तिका 45, अध्याय 34) यह वर्णन करता है कि कैसे बुद्ध सभी संभव तरीकों से अपनी निर्वाण की योजना बनाते हैं। (**सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र**, कर्न का अनुवाद, अध्याय 2. पृ. 30 पृ. 411–13 भी)।

''इस तरीके से बुद्ध शिक्षा देते हैं और अपनी धार्मिक शिक्षाओं के माध्यम से सभी चेतन प्राणियों को मुक्ति प्रदान करते हैं, अणुओं के समान जिनकी संख्या असंख्य है। वे कभी देवताओं के लोक में अपने आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं, कभी नागों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों, गरुड़ों, किन्नरों महोरगों आदि में, कभी ब्राह्मणों के लोक में, कभी मानव प्राणियों के लोक में, कभी यमराज के महल में, कभी घृणित, भूतों, प्रेतों एवं जंगली जानवरों के पाताक लोक में अपने आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं। मुक्ति के सभी संभव उपायों के माध्यम से जब तक सभी प्राणी उनकी शरण में नहीं आ जाएँगे उनकी सर्वव्यापी करुणा, प्रज्ञा एवं इच्छा विश्राम नहीं करेगी। मुक्ति का यह कार्य वे कभी अपने नाम से, कभी अपनी स्मृति के माध्यम से, कभी अपनी वाणी से, कभी पूर्ण प्रकाश से और कभी प्रकाश के एक पुञ्ज के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं। जब कभी भी और जहाँ भी उनके प्रकट होने के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व हो जाती हैं, वे चेतन प्राणियों के सामने अपने आपको प्रस्तुत करने में विफल नहीं होगे, और शान एवं शोभा को अभिव्यक्त करने में वे विफल नहीं होंगे।

''बुद्ध अपने क्षेत्र से प्रस्थान नहीं करते हैं, वे अपने शीर्ष स्थान से प्रस्थान नहीं करते हैं; फिर भी वे ब्रह्माण्ड की दस दिशाओं में अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं। वे कभी अपने शरीर से निर्माण कार्यों के बादलों को प्रकट करेगें या कभी वे अपने आपको एक अविभाजित व्यक्तित्व में अभिव्यक्त करेंगे, और सभी दिशाओं में यात्रा करते हुए शिक्षा देंगे और सभी चेतन प्राणियों को मुक्ति

प्रदान करेंगे। वे कभी एक श्रावक का रूप धारण कर सकते हैं, कभी ब्रह्मदेव, कभी एक संन्यासी का, कभी एक अच्छे वैद्य का, कभी एक व्यापारी का, कभी एक भिक्षु का या एक ईमानदार कार्य करने वाले का कभी एक कलाकार का, कभी एक देव का रूप धारण कर सकते हैं। फिर वे कभी कला, एवं उद्योग के सभी स्वरूपों में अपने आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं, कभी कस्बों, शहरों, गाँवों आदि जैसे सामूहिक स्थलों में अपने आपको अभिव्यक्त कर सकते हैं। मुक्ति के लिए उनके सामने कोई भी लोग हों, उनका कुछ भी वातावरण हो, वे उन सब संभव परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढाल लेंगे और अपने प्रज्ञा एवं मुक्ति के काम को कर लेंगे।''

त्रिकाय के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक सिलसिला स्पष्ट है : इसने हमेशा ही बौद्धों में सहनशीलता की भावना को विस्तृत किया है। क्योंकि **धर्मकाय** सार्वभौमिक रूप से सभी समय में एवं सर्वत्र सभी चेतन प्राणियों की, उनके आध्यात्मिक विकास की किसी भी स्थिति में आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, बौद्ध लोग सभी आध्यात्मिक नायकों को, उनकी राष्ट्रीयता एवं व्यक्तित्त्व चाहे कुछ भी हो, सर्वव्यापी **धर्मकाय** की अभिव्यक्तियों के रूप में समझते हैं। क्योंकि **धर्मकाय** हमेशा ही चेतन प्राणियों की सर्वोत्तम भलाई के लिए अपने आपको अभिव्यक्त करता है, उन सिद्धान्तों एवं उनके संस्थापकों की जो आपाततः बौद्धधर्म की शिक्षाओं के विरुद्ध है, इस विश्वास के माध्यम से सहन किया जाता है कि वे सभी उस सहज इच्छा के अनुकूल कार्य कर रहे हैं, जो सर्वत्र व्याप्त है और हर समय कार्य कर रही है। यद्यपि, वे कृत्रिम रूप से बुराइयों के रूप में दिखलाई पड़ सकते हैं, उनका मुख्य एवं अन्तिम उद्देश्य भलाई एवं सामञ्जस्य है, मुसीबतों एवं विरोधाभासों के इस संसार को जीतना ही **धर्मकाय** की इच्छा की नियति है। बौद्धधर्म की इस सामान्य बौद्धिक प्रवृत्ति ने अपने विश्वास-कर्त्ताओं में एक सहनशीलता की भावना को उत्पन्न करने के लिए काफी काम किया है, और हमें यह कहना चाहिए कि त्रयी के सिद्धान्त ने, जो कभी -कभी अपनी सर्वेश्वरवादी भावना में अत्यधिक उग्र दिखलाई पड़ती है, इस विषय में बहुत ही योगदान दिया है।

अध्याय 11

बोधिसत्त्व

बुद्ध की अवधारणा के बाद, महायान बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है और जो इसका निर्माण करता है, बोधिचित्त जैसा ऊपर बतलाया गया है, महायान के अनुयायी अपने आपको **श्रावक**, या **प्रत्येकबुद्ध** या **अर्हत** नहीं कहते हैं जैसा कि हीनयान के अनुयायी कहते हैं; परन्तु वे बोधिसत्त्व के शीर्षक से अपना भेद करते हैं। इसका क्या तात्पर्य है, यह इस अध्याय की विषय वस्तु होगा।

हमें **सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र** के एक उद्धरण से प्रारंभ करना चाहिए, जिसमें **श्रावक**, **प्रत्येकबुद्ध** एवं **बोधिसत्त्व** के बीच के भेद को भली-भाँति परिभाषित किया गया है।[1]

तीन यान

"अब **शारिपुत्र**, जो लोग बुद्धिमान बन गए हैं, संसार के पिता तथागत में वे श्रद्धा रखते हैं, और परिणामस्वरूप वे अपने ऊपर उसके आदेशों को लागू करते हैं।

"उनमें से कुछ ऐसे लोग हैं, जो एक प्रामाणिक वाणी के आदेशों का अनुसरण करने के इच्छुक होते हुए, अपने लिए पूर्ण निर्वाण के लिए चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथागत के आदेश अपने ऊपर लागू करते हैं। कोई यह कह सकता है कि ये वे लोग हैं, जो श्रावकयान को प्राप्त करने के इच्छुक होने पर त्रैलोक्य संसार से भागते हैं · · · ।

---

1. कर्न का अंग्रजी अनुवाद (**सेक्रिड बुक्स् ऑफ दि ईस्ट**, वा. XXI) अध्याय III पृ. 80।

''दूसरे प्राणी, आत्म-संयम एवं शक्ति का अप्रतिबन्धित ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक, अपने लिए पूर्व निर्वाण के लिए, बारह निदान वाले **प्रतीत्यसमुत्पाद** के नियम को समझने के लिए अपने ऊपर **तथागत** के आदेशों को लागू करते हैं। कोई यह कह सकता है कि ये वे लोग हैं, जो **प्रत्येकबुद्धयान** को प्राप्त करने के इच्छुक होने पर त्रैलोक्य संसार से भागते हैं।

''फिर दूसरे प्राणी, सर्वज्ञता, बुद्ध-ज्ञान, परम ज्ञान अप्रतिबन्धित ज्ञान, **तथागत** का ज्ञान, शक्तियाँ एवं उनकी दृढ़ धारणा को समझने के लिए अपने ऊपर **तथागत** के आदेशों को लागू करते हैं। वे सभी सामान्य जनों के कल्याण, एवं प्रसन्नता, संसार के लिए **करुणा**, भलाई एवं सारे संसार के कल्याण एवं प्रसन्नता के लिए, देवताओं एवं मनुष्यों के लिए, एवं सभी प्राणियों के लिए निर्वाण प्रापत करने के लिए अपने ऊपर **तथागत** के आदेशों को लागू करते हैं। कोई यह कह सकता है कि ये वे लोग हैं, जो महायान को प्राप्त करने के इच्छुक होने पर त्रैलोक्य संसार से भागते हैं। अतः वे बोधिसत्त्व महासत्त्व कहलाते हैं · · · ।''

श्रावकों एवं **प्रत्येकबुद्धों** से भिन्न रूप में **बोधिसत्त्वों** का यह चरित्र-चित्रण महायान बौद्धधर्म के सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षणों में से एक है। यहाँ पर **बोधिसत्त्व** धार्मिक अनुशासन में अपने कल्याण के लिए स्वयं प्रयास नहीं करता है, परन्तु अपने सभी साथियों की आध्यात्मिक भलाई के लिए वह ऐसा करता है। यदि वह चाहता तो **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** की भाँति शाश्वत **निर्वाण** (अर्थात् **अनुपधिशेषनिर्वाण**) में प्रवेश कर सकता था; वह अबाधित शान्ति का स्वर्गिक आनन्द ले सकता था जिसमें हमारी सांसारिक मुसीबतें हमेशा के लिए शान्त हो जाती हैं; वह संसार के कोलाहल से अपने आपको दूर रख सकता था, और एक गुफा में पद्मासन में बैठकर वह शान्त भाव से मानव हितों की क्षणभंगुरता एवं सांसारिक मामलों की निरर्थकता पर चिन्तन कर सकता था। फिर वह उस सर्वसंपूर्ण परम में संतुष्ट रूप से अन्तिम विलय के क्षण की प्रतीक्षा कर सकता था, जैसे नाले एवं नदियाँ अन्तिम रूप से समुद्र में मिलकर एक रूप हो जाते हैं। परन्तु अपने आप में पूर्ण इन आशीर्वादों के बावजूद एक **बोधिसत्त्व** अपने चैन की कामना नहीं करता है, परन्तु वह संसार के शोरगुल में अपने आपको सम्मिलित करता है और जनता की मुक्ति के लिए अपनी ऊर्जा को लगाता है, जो अपने अज्ञान एवं मोह के कारण त्रैलोक्य संसार में हमेशा ही पुनर्जन्म लेते

रहते हैं और मानवता के अन्तिम उद्देश्य के लिए कोई विकास नहीं करते हैं।

फिर इस **बोधिसत्त्वीय** भक्ति के साथ बुद्ध के अनुयायियों में धार्मिक विचार एवं साधना की एक दूसरी धारा भी थी। इससे मेरा तात्पर्य **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** की प्रवृत्ति से है। दोनों ही संन्यास एवं दार्शनिक ऊहापोहों में मन की शांति खोजते थे। दोनों ही सघन रूप से **निर्वाण** की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त थे, जिसकी तुलना एक बुझी हुई आग से की जा सकती है। सभी प्राणियों के सामान्य हित की बात सोचना उनका काम नहीं था, और अतः जब उनको सांसारिक पापों एवं आवेगों से अपनी मुक्ति मिल गई, उनका धार्मिक अनुशासन पूर्ण हो जाता था, और अपनी व्यक्तिगत **प्रज्ञा** के आनन्द को अपने साथियों तक विस्तृत करने के लिए कोई आगे प्रयास नहीं किया जाता था।[1] कहीं उनका पवित्र जीवन दूषित

1. यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि हीनयान के अनुयायियों में सार्वभौमिक मुक्ति की भावना का नितान्त अभाव था। परन्तु इसको जिसने महायान से इतने स्पष्ट रूप से विभेदित किया वह यह है कि हीनयान ने इसी विचार को और अधिक विस्तृत नहीं किया, परन्तु इसको केवल बुद्धत्व तक ही सीमित रखा। बुद्ध ने सर्वज्ञता प्राप्त की ताकि वे संसार को मुक्ति दिलवा सकें, परन्तु हम, साधारण मर्त्य इतने अज्ञानी एवं असहाय हैं कि हम **बुद्धत्व** की आकांक्षा ही नहीं करते हैं; बुद्ध को श्रद्धांजलि देकर एवं हमारी आध्यात्मिक उन्नति के लिए बनाए गए नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करके हमें संतुष्ट हो जाना चाहिए। मानवता की सार्वभौमिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए इतने महान कार्य करने के लिए हमारा ज्ञान एवं ऊर्जा बहुत ही सीमित है, एक बुद्ध या बोधिसत्त्व को इस काम को करना चाहिए जब कि हम उनके गंभीर विश्वास एवं काम के साथ हम आराम से रहें। हीनयानियों के मनों में भी ऐसे ही विचार आते रहे होंगे, जब उनके महायानी भाई स्वयं अपने बुद्धत्व के लिए गहरा संघर्ष कर रहे थे। बौद्धधर्म के इन दो संप्रदायों के भेद को जब बहुत ही संक्षिप्त ढंग से कहा जाए तो वह यह है: जब कि एक संप्रदाय में बुद्ध के लिए बहुत ही विनम्र विश्वास है, दूसरा संप्रदाय अपने आपको उनके स्थान पर स्थापित करके उनके उदाहरण का अनुकरण करने का प्रयास कर रहा है। निम्नलिखित उद्धरण (**सुमेध** की कहानी'' **वारेन** के बौद्धधर्म से एक जातक कथा) जिसमें, बुद्ध के पूर्व अवतारों में से एक **सुमेध** बुद्ध बनने के अपने निश्चय की अभिव्यक्ति करता है, इसकी मानो स्वयं एक महायानी के जैसा समझा जा सकता है, जब कि हीनयानी इसको कभी भी अपनी इच्छा बनाने का साहस नहीं करेंगे :

''या मैं एक बहादुर आदमी क्यों,

न हो जाए, वे भद्दे लोगों से मिलने-जुलने से स्वयं पीछे हटने लगे। अविद्या एवं दुःख के लोहे के जुए को तोड़ने के लिए जनता की सहायता करने के लिए उनमें अपनी स्वयं की शक्ति में पर्याप्त विश्वास नहीं था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह स्वयं अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करे, फिर उनका दुःख कितना भी असह्य क्यों न हो, क्योंकि दूसरे लोग उसको कम करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकते थे। सहानुभूति का कोई लाभ नहीं था; क्योंकि उनके अच्छे या बुरे कर्मों का फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता था, न ही इसकी स्वयं कर्ता द्वारा उपेक्षा की जा सकती थी। एक बार की गई चीजें हमेशा के लिए की जाती थी, और उनका कर्म उनके भाग्य के पृष्ठों पर अमिट छाप छोड़ देता था। बुद्ध भी, जिन्होंने अपने सभी पूर्व जन्मों में असंख्य पवित्र कार्य करके एक उन्नत स्थिति को प्राप्त किया था, बुरे कर्म के फल से बच नहीं सके थे, जो उनके द्वारा बिना जानबूझकर किए गए थे। कर्म की यह फौलादी बाँह हर व्यक्ति को शरीर से पकड़ती है और किसी भी स्थानापन्न को यह अनुमति प्रदान नहीं करती है। जो, कर्म की कार्यशैली में एक विराम देना चाहते हैं, वे केवल जवाबी शक्ति का प्रयोग करके ही ऐसा कर सकते थे, वे केवल अपने ही हाथ से ऐसा कर सकते थे न कि किसी दूसरे के हाथ से। **बोधिसत्त्व** की इस महायानी अवधारणा को कर्म के नियम की इस मशीनी निष्ठुर जड़ता को कुछ कम करने का एक प्रयास समझा जाना चाहिए।

अकेला ही समुद्र को पार करने की कामना करूँ?
सर्वज्ञता मैं पहले प्राप्त करूँगा,
और उस पार के मनुष्य एवं देवता यह जान लें।
''क्योंकि मैं अब एक सच्ची इच्छा करता हूँ।
सर्वोत्तम मनुष्य की उपस्थिति में,
सर्वज्ञता मैं कभी प्राप्त करूँगा।
और भीड़ उस पार जान ले।
''मैं जन्म एवं मृत्यु के भँवर को रोक दूँगा,
अस्तित्व के तीन प्रकारों को नष्ट करूँगा;
मैं सिद्धान्त के यान के पक्षों पर चलूँगा,
और उस पार के मनुष्य एवं देवता यह जान लें।

कठोर व्यक्तिवाद

श्रावकों एवं प्रत्येकबुद्धों का बौद्धधर्म संबंधी कर्म के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के हमारे नैतिक-धार्मिक जीवन के लिए एक अत्यधिक अनैतिक प्रयोग है। सभी की गई चीजें स्वयं के द्वारा ही की जाती हैं; सभी बिना की गई चीजें स्वयं के द्वारा बिना की गई ही छोड़ दी जाती हैं। वे कहेंगे, "आपकी मुक्ति आपका अपना ऐकान्तिक निजी मामला है, और मेरी जो भी सहानुभूति है, वह किसी भी काम की नहीं है। मैं केवल आपको बौद्धिक रूप से मुक्ति के मार्ग को देखने में सहायता कर सकता हूँ। यदि आप कहना नहीं मानते हैं, तो आपको अपनी मूर्खता का फल भोगना ही पड़ेगा। मैं अपनी पूरी प्रज्ञा एवं निर्वाण के बावजूद भी आपको सतत् पुनर्जन्म के दु:ख से मुक्त करवाने में असहाय हूँ।" परन्तु महायानी बोधिसत्त्वों के बौद्धधर्म के संदर्भ में मामला बिल्कुल ही भिन्न है। यहाँ सब के लिए सहानुभूति है, सबके लिए करुणा है, सब के लिए प्रेम है। एक बोधिसत्त्व निर्वाण की पूर्ण शक्ति से अपने आपको पृथक् नहीं करेगा, केवल इसी कारण क्योंकि वह अविद्या एवं मोह के बन्धन से अपने साथियों को मुक्त करना चाहता है। अपने सद्गुणी कामों के कर्ता के रूप में अपने आपको लगाने में उसे कुछ भी पुरस्कार मिले, वह दु:खी जनता का उद्धार करने के लिए उसे (पुरस्कार को) उनको दे देगा। यह आत्म-त्याग, अपने साथियों की भलाई के लिए नि:स्वार्थ भक्ति ही बोधिसत्त्वत्व का सार है। अत: एक आदर्श बोधिसत्त्व प्रज्ञा एवं करुणा के अवतार के अतिरिक्त इसे और कुछ भी नहीं समझा जा सकता है।

बौद्धिक एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से कर्म की यह अकाट्यता संतोषजनक प्रतीत होती है, क्योंकि बुद्धि तर्क के पूर्ण प्रयोग की मांग करती है, एवं व्यक्तिवाद जिम्मेदारी को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सौपने की अनुमति प्रदान नहीं करती है। अत: इस दृष्टिकोण से, जैसा कि हीनयान की आवश्यकता है, स्व-मुक्ति के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करने में कोई तार्किक दोष नहीं है, दैवी कृपा को स्थगित कर देना चाहिए क्योंकि अविद्या के कारण किए गए कर्म का शाप हमारी आत्मा से दृढ़ता से चिपका रहता है। परन्तु जब इस प्रश्न के धार्मिक पक्ष की ओर से विचार किया जाए तो कर्म की कठोरता सामान्य मर्त्य की शक्ति से कहीं ज्यादा है। वे कुछ और अधिक लचीली एवं नमनशील चीज चाहते हैं जो

उनकी भावना की माँग की पूर्ति करती हो। जब व्यक्तियों को और कुछ नहीं बल्कि अलग-थलग पड़े हुए एवं असंबंधित अणुओं के रूप में समझा जाता है, जिसके बीच जोड़ने वाला कोई बन्धन नहीं है, जोड़ने वाला बन्धन भावना है, वे इतने कमजोर हैं कि वे बुराई की धमकी-भरी ऊर्जा को रोक कर उसे पार नहीं कर सकते हैं, जितने समय तक वैशिष्ट्य का संसार विद्यमान है, उसके यथार्थ का विरोध नहीं किया जा सकता है। हमारी अत्यधिक आन्तरिक चेतना में अनुभूत यह धार्मिक आवश्यकता उस कारण की व्याख्या कर सकती है कि महायान बौद्धधर्म ने **धर्मकाय** की एकता पर आधारित परिवर्त के सिद्धान्त को क्यों प्रतिपादित किया।

परिवर्त का सिद्धान्त

अपने पुण्यों को दूसरों को देने (परिवर्त) का सिद्धान्त ''आदिम बौद्धधर्म'' से एक बहुत बड़ा अलगाव (विचलन) है। वास्तव गें, यह अलगाव (विचलन) कहीं ज्यादा है, कुछ अंश में यह ''आदिम बौद्धधर्म के विरुद्ध है। क्योंकि **श्रावक** एवं **प्रत्येकबुद्ध** की धार्मिक साधना में व्यक्तिवाद एक प्रमुख लक्षण है, सार्वभौमिकता या अति-व्यक्तिवाद, यदि मुझे इन शब्दों के प्रयोग करने की अनुमति है, **बोधिसत्त्वों** द्वारा समर्थित सिद्धान्त है। **बोधिसत्त्व** यह विश्वास करते हैं कि सभी प्राणी **धर्मकाय** की अभिव्यक्ति के रूप में अपने सार में एक ही प्रकृति के हैं; जहाँ तक व्यक्तिनिष्ठ अविद्या का संबंध है, वैयक्तिक अस्तित्व यथार्थ हैं। **प्रज्ञा** एवं **करुणा** रूपी **धर्मकाय** से उत्पन्न होने वाले सद्‌गुण एवं पुण्य सार्वभौमिक भलाई एवं सभी प्राणियों को अन्तिम मुक्ति प्रदान करने में विफल नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार **बोधिसत्त्वों** का धर्म उस चीज को प्राप्त करने का प्रतिपादन करता है, जो **श्रावकों** एवं **बोधिसत्त्वों** द्वारा असंभव समझा जाता था, अर्थात् अपने पुण्यों को दूसरों की सेवा के लिए दे देना (परिवर्त)।

यह इसी भावना में ही है कि **बोधिसत्त्व** जीवन के महत्त्व के गांभीर्य की कल्पना करते हैं। यही वह भावना है कि पृथिवी पर अपने अस्तित्त्व के कारण पर चिन्तन करते समय वे जीवन के निम्नलिखित दृष्टिकोण पर पहुँचते हैं :

''सभी अज्ञानी प्राणी दिनों-रात असंख्य तरीकों से बुरे काम कर रहे हैं: और इसी कारण से उनका दुःख वर्णनातीत हो जाता है। वे **तथागत** को नहीं पहचानते हैं, उनकी शिक्षाओं को नहीं सुनते हैं, पवित्र लोगों के समागन के प्रति

वे श्रद्धा व्यक्त नहीं करते हैं। यह बुरा कर्म निश्चित रूप से उनके लिए दु:खों का पहाड़ लाएगा। यह विचार एक **बोधिसत्त्व** के हृदय को उदास भावनाओं से भर देता है, इसके बदले में एक अटल निश्चय पैदा होता है कि वह स्वयं अज्ञानी लोगों के बोझ को ढोएगा और निर्वाण के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में उनकी सहायता करेगा। क्योंकि इन बोझों का भार अपरिमेय ढंग से भारी है, वह बोधिसत्त्व हटेगा नहीं, न ही उनके बोझ से नीचे टूटेगा। जब तक सभी अज्ञानी लोग तृष्णा एवं पाप के उलझाने वाले छिद्रों से मुक्त नहीं हो जाते हैं, जब तक वे अज्ञान एवं मोह के अन्धकारमय पर्दे से ऊपर नहीं उठ जाते हैं, वह (बोधिसत्त्व) शान्त नहीं बैठेगा; इस प्रकार उसकी यह विस्मयकारी आध्यात्मिक ऊर्जा काल एवं दिक् की संकरी सीमाओं की अवज्ञा करती है, और यह अनन्तकाल तक भी विस्तृत रहेगी जब लोकों की सारी व्यवस्था निष्पत्ति को प्राप्त हो जाएगी। अत: **बोधिसत्त्वों** द्वारा किए असंख्य पुण्यात्मक कार्य अज्ञानी लोगों की मुक्ति के लिए समर्पित किए जाते हैं।

''फिर, **बोधिसत्त्व** यह नहीं समझते हैं कि उनको जनता की उत्पति एवं उनको ऊपर उठाने के लिए कोई बाह्य शक्ति उन्हें अपना जीवन समर्पित करने के लिए बाध्य कर रही है। वे किसी भी बाह्य सत्ता को नहीं मानते हैं, जिसका उल्लंघन उनके ऊपर एक प्रकार के दण्ड के रूप में प्रतिफलित हो सकता है। वे पहले ही लोक-अवधारणा की इस स्थिति से ऊपर उठ चुके होते हैं, इसके विपरीत वे विचार के और अधिक विस्तृत एवं ऊँचे क्षेत्र में विचरण कर रहे होते हैं। उनके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, उनकी सहज इच्छा से उत्पन्न होता है। बोधिचित्त की स्वतन्त्र गतिविधि से पैदा होता है, जो उनके अस्तित्त्व का भी कारण है; और इस प्रकार उनके विचारों एवं गतिविधियों में कुछ भी अनिवार्य नहीं है। (यदि हम लोएत्सीयन शब्दावली का प्रयोग करें तो वे अक्रिया का अभ्यास कर रहे हैं, और अज्ञानी एवं प्रज्ञाविहीन व्यक्ति को जो एक कठोर एवं बेचैन जीवन के रूप में प्रतीत होता है, वह केवल **बोधिचित्त** नामक ऊर्जा के अक्षय स्रोत से बहने वाला एक निष्यन्द है)''[1]

---

1. **अवतंसकसूत्र** (पुस्तिका 21-22) में परिवर्त के रूप में व्याख्यायित सिद्धान्त का यह सारांश है जहाँ **परिवर्त** के दस स्वरूप बतलाए गए हैं और उनकी विस्तार से व्याख्या की गई है।

''आदिम'' बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व

''आदिम'' **बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व** का विचार बिल्कुल ही अनुपस्थित नहीं था, केवल इसका इतना व्यापक महत्त्व नहीं था। सभी बुद्ध अपने पूर्व जीवनों में **बोधिसत्त्व** ही थे। जातक कहानियाँ बहुत ही बारीक ढंग से उनके द्वारा किए आत्म-त्याग वाले कार्यों का वर्णन करती हैं और इन पुण्यात्मक कार्यों के परिणाम स्वरूप उन्होंने कैसे बुद्धत्व प्राप्त किया था। **शाक्यमुनि** ही बुद्ध नहीं थे, उनसे पहले भी सात या चौबीस बुद्ध हो चुके थे; और आनेवाला **मैत्रेय** नामक बुद्ध के बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे **तुषित** नामक स्वर्ग में अपने आपको अनुशासित कर रहे हैं, और **बोधिसत्त्व** की स्थितियों में विचरण कर रहे हैं। एक व्यक्ति का जिसका भविष्य में बुद्ध बनना नियत है, आध्यात्मिक ऊर्जा में अत्यधिक असाधारण रूप में प्रतिभाशाली होना चाहिए। उनको अनेक युगों के आत्म-अनुशासन में से गुजरना चाहिए, असंख्य अस्तित्त्वों के माध्यम से उसे अटल साहस एवं धैर्य के साथ अनात्म (संबंधी) कार्यों का अभ्यास करना चाहिए।

जातक कहानियों से निम्नलिखित संदर्भ यह देखने के लिए पर्याप्त होगा कि तथाकथित हीनयानियों ने कितनी भारी-भरकम एवं कठोर परिस्थितियों की कल्पना की थी, जो एक व्यक्ति के लिए पूर्ण रूप से बुद्ध बनने के लिए आवश्यक थीं।[1]

''मनुष्यों में वह है, केवल वही, जो उसी जन्म में अर्हतत्त्व प्राप्ति के कारण एक सही स्थिति में है, जो सफलतापूर्वक बुद्ध बनने का संकल्प कर सकता है। उचित परिस्थितियों में से यह केवल वही है जो एक जीवित बुद्ध की उपस्थिति में एक संकल्प लेता है; एक बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त एक अवशेष स्थित मन्दिर में किया गया संकल्प या एक बोधि-वृक्ष के नीचे किया गया संकल्प सफल नहीं होगा। उन लोगों में से जो एक बुद्ध की उपस्थिति में एक संकल्प करते हैं, यह वही है केवल वही जो संसार से निवृत्त हो चुका है, सफलतापूर्वक एक संकल्प कर सकता है, और जो सामान्य जन है, वह नहीं कर सकता है। उन लोगों में से जो संसार से निवृत्त हो चुके हैं, यह केवल वही है, जिसके पास पाँच महान शक्तियाँ है और आठ उपलब्धियों का स्वामी है, वही सफलतापूर्वक

---

1. वारेन का ''**बुद्धिज़्म इन टाँस्लेशन्स**'' नामक ग्रंथ ''**सुमेध की कहानी** पृ. 14-15.

एक संकल्प कर सकता है, और कोई भी नहीं कर सकता है जिसमें इन श्रेष्ठताओं की कमी है। उन लोगों में भी, जिनके पास ये उपलब्धियाँ हैं, यह वह है, केवल वह ही है, जिनके पास एक ऐसा पक्का संकल्प है कि वह बुद्धों के लिए अपने जीवन का त्याग करने के लिए तैयार है, वह सफलतापूर्वक एक संकल्प कर सकता है, और कोई नहीं कर सकता है। जिन लोगों के पास यह संकल्प है, यह वह है, केवल वही है, जिसके पास महान उत्साह, निश्चय, अध्यवसाय है और जिसके पास बुद्ध का निर्माण करने वाले गुणों के लिए संघर्ष करने का प्रयास है, वह ही सफल है। निम्नलिखित तुलनात्मक अध्ययन उत्साह की सघनता को प्रदर्शित करेगा; ''वह व्यक्ति यदि पृथिवी के घेरे में सर्वत्र पानी हो जाए, क्या अपनी भुजाओं के द्वारा पार जाने के लिए तैरने के लिए तैयार हो जाएगा और दूर के किनारे पर पहुँच जाएगा— वह ही बुद्धत्त्व को प्राप्त करने वाला है; या पृथिवी के घेरे में यदि सर्वत्र बाँसों का जंगल बन जाए, क्या वह मुड़ कर इसमें से रास्ता बनाने के लिए तैयार हो जाएगा और दूसरी ओर पहुँच जाएगा वह ही बुद्धत्व को प्राप्त करने वाला है; या पृथिवी के घेरे में भालों का सघन स्थल बन जाए, क्या वह उन पर चलने और उस पैदल पार चलने के लिए तैयार हो जाएगा, वह ही बुद्धत्त्व को प्राप्त करने वाला है; या पृथिवी के घेरे में सर्वत्र ही जलते हुए अंगारे बिछ जाएँ, क्या वह पर चलने और आगे जाने के लिए तैयार हो जाएगा-वह ही बुद्धत्त्व को प्राप्त करने वाला है— यदि वह इन कर्तबों में से एक को भी अपने लिए करने को उचित नहीं मानता हैं परन्तु उसमें ऐसा उत्साह, निश्चय, अध्यवसाय, एवं प्रयास करने की शक्ति है कि वह बुद्धत्त्व प्राप्त करने के लिए इन कर्तबों को करेगा, तब ही, अन्यथा नहीं, उसका संकल्प सफल होगा।''

इससे यह स्पष्ट है कि ''आदिम'' बौद्धधर्म में हर कोई बुद्ध नहीं बन सकता था; उनकी सर्वोच्च आकांक्षा बुद्ध की शिक्षाओं में विश्वास करना, उनके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन करना और कम से कम **अर्हतत्त्व** प्राप्त करना था। फिर महायानियों द्वारा अर्हत्त्व के विचार को उदासीन, आवेगपूर्व एवं कठोर हृदय वाला समझा जाता था, क्योंकि भिक्षु दुःखी जनता के दृश्य को शान्ति से पुनरीक्षण करता है; अतः **बोधिसत्त्वों** के लिए **अर्हतत्त्व** उनकी ऊँची धार्मिक आकांक्षाओं की वस्तु बनने के लिए बिल्कुल ही असंतोषजनक था।

महायानी **अर्हतत्त्व** की प्राप्ति से भी परे जाना चाहते थे; फिर चाहे इसकी आध्यात्मिकता कितनी भी उन्नत क्यों न हो। वे प्रत्येक विनम्र आत्मा (प्राणी) को **शाक्यमुनि** जैसा प्राणी बनाना चाहते थे, वे खुले हाँथों से **प्रज्ञा के** आनन्द को बाँटना चाहते थे; वे उन सभी अवरोधों को हटाना चाहते थे जो बुद्धत्त्व एवं सामान्य मानवता के बीच विद्यमान हैं। परन्तु वे ऐसा कैसे कर सकते थे जब कर्म के फौलादी हाथों ने प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य को कस कर पकड़ रखा था! उसके लिए अपने स्वरूप को मानवता के आदर्श के साथ तादात्म्य स्थापित करना कैसे संभव था? शायद बौद्धों द्वारा इस गंभीर समस्या का समाधान भली भाँति किया गया, जब **शाक्यमुनि** के वैभवपूर्ण व्यक्तित्व की स्मृति उनके मानसिक नेत्रों के सामने अभी भी स्पष्ट थी। उनके लिए विस्मय एवं आदर की भावना से ऊपर उठना संभवतया कोई आसान काम नहीं था, यह भावना उनके हृदयों में बहुत ही गंभीर रूप से अंकित थी, उनके शास्ता (स्वामी) द्वारा प्राप्त की गई ऐसी ऊँचाई तक अपने आपको उठाना भी एक आसान काम नहीं था, कम से कम आदर्श रूप में। निश्चित रूप से यह एक धर्मविरोधी कार्य था। परन्तु जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, स्वामी (शास्ता) की स्मृति स्वाभाविक रूप से मध्यम पड़ गई और उनकी अपनी धार्मिक चेतना जितना इसका प्रभाव नहीं था वह धार्मिक चेतना हमेशा ही ताजी एवं क्रियाशील रहती है। सामान्यतया सभी महान ऐतिहासिक चरित्र, जिनके लिए परवर्ती पीढ़ी में आदर एवं विस्मय की भावना रहती है, केवल तब ही ऐसा करते हैं जब उनके शब्द या कार्य या दोनों ही मानव हृदय के गहनतन रहस्यों को खोल देते हैं। विस्मय एवं आदर की यह भावना तथा पूजा की भी भावना उन स्वयं महान चरित्रों के कारण इतनी नहीं है जितनी कि पूजा करने वाले की अपनी धार्मिक चेतना के कारण है। इतिहास भूतकाल बन जाता परन्तु हृदय वही बना रहता है। समय के साथ **शाक्यमुनि** नामक व्यक्ति भुलाया जा सकता है, परन्तु आन्तरिक हृदय में उनके द्वारा बाँधा गया पवित्र सूत्र शाश्वत समय तक स्पन्दित होता रहता है। इसलिए धार्मिक भावना ने महायान बौद्धों में अन्तिम रूप से स्वामी (शास्ता) के लिए व्यक्तिगत स्मृति एवं आदर भावना के बावजूद अपने आपको दृढ़ता से स्थापित कर लिया, तब संभवतया निम्नलिखित ढंग से बुद्धत्त्व संबंधी महान समस्या के लिए तर्क को और आगे बढ़ाया गया।

हम सभी बोधिसत्त्व हैं

क्योंकि अपने पूर्व जन्मों में **शाक्यमुनि बोधिसत्त्व** का बुद्ध बनना उनकी नियति था, इस प्रकार हम सभी **बोधिसत्त्व** हैं और एक तरह से **बुद्ध भी हैं**, जब **हम यह समझते हैं कि बुद्ध** सहित सभी चेतन प्राणी **धर्मकाय** में एक ही हैं। **धर्मकाय** हमारे मध्य **बोधि** के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो **बुद्धों** एवं **बोधिसत्त्वों** का सार है। इस **बोधि** में संख्या की दृष्टि से कोई भी परिवर्तन नहीं होता है, जब **बोधिसत्त्व** बुद्ध के समान अन्तिम रूप से सर्वोच्च मानव पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अतः इसी अर्थ में बुद्ध ने घोषणा की थी जब उनको **संबोधि** प्राप्त हो गई थी, ''वास्त्व में यह आश्चर्यजनक है कि सभी जड़ एवं चेतन प्राणी सार्वभौमिक रूप से **तथागतत्त्व** की प्रकृति में साझीदार होते हैं।'' **बुद्ध** एवं अज्ञानी जनता में केवल यही अन्तर है कि अज्ञानी जनता अपने आप में **बोधि** की भव्यता को अभिव्यक्त नहीं करती है।

केवल वे ही **बोधिसत्त्व** नहीं हैं जो स्वर्गिक निवास में प्रकाश की दिव्य किरणों से आवृत्त होकर दार्शनिक रूप से संसार की मुसीबतों का पुनरीक्षण करते हैं। मिट्टे से बने हम मर्त्य भी **बोधसित्त्व** हैं, जो बोधि के अवतार हैं **धर्मकाय** के सबको आलिंगन करने वाली करुणा में एकसूत्रता में बँधने में सक्षम हैं और **धर्मकाय** की शाश्वत एवं परम **बोधि** में कर्म के व्यक्तिगत शाप को भी मिटाने में सक्षम हैं। ज्यों ही हम इस करुणा बोधि में रहने लगते हैं, एक व्यक्ति के अपने पुण्यों को दूसरों के सेवा के लिए देने में व्यक्तिगत जीवन कोई बाधा नहीं है। हमें केवल अपने जीवन की आध्यात्मिकता पर एक दृष्टिपात करना चाहिए और हम सभी **बोधिसत्त्व** एवं **बुद्ध** प्रतीत होते हैं। हमें **निर्वाण** में प्रवेश करने का स्वार्थी विचार का त्याग करना चाहिए जिसके विषय में हृदय की अग्नि को शान्त करने वाले एवं **बोधि** की केवल ठण्डी राख को छोड़ने वाले के रूप में कल्पना की जाती है। हमें सभी दुःखी लोगों के लिए सहानुभूति रखनी चाहिए और हमारा कितना भी छोटा पुण्य हो, हमें उस सबको उनकी भलाई एवं प्रसन्नता के लिए दे देना चाहिए। क्योंकि हम सबको इसी ही प्रकार से **बोधिसत्त्व** बनाया गया है।[1]

---

1. ईसाई पाठकों को इस संदर्भ में यह जानना रुचिकर हो सकता है कि आधुनिक बौद्ध स्थानापन्न प्रायश्चित के विचार की बिल्कल ही उपेक्षा नहीं करते हैं, क्योंकि जैसे

बुद्ध का जीवन

महायान के संपूर्ण साहित्य में सार्वभौमिक करुणा की भावना सर्वत्र व्याप्त है, और बोधिसत्त्वों को इसे अत्यधिक ऊर्जा से प्रयोग करते हुए दर्शाया गया है। अतः महायानी शाक्यमुनि के सीधे-सादे, नीरस एवं पार्थिव वर्णन से संतुष्ट नहीं हो सके, जहाँ तक हो सके वे इसे प्रेम के संदेश को देते हुए एक आदर्श एवं काव्यमय बनाना चाहते थे, जैसे उन्होंने बुद्ध के जीवन की प्रत्येक दशा में कल्पना की थी।

महायानियों ने सबसे पहले **बुद्ध** को अपने जन्म से पहले तुषित नामक स्वर्ग में स्थापित कर दिया (जैसा हीनयानियों द्वारा किया गया था), संसार के नीचे के दुःखी लोगों के लिए दया का अनुभव करने वाला बना दिया, उनको इससे मुक्ति दिलाने वाला संकल्प करने वाला बना दिया, ''दुःख के समुद्र से, जो बीमारियों को झाग के रूप में ऊपर फेंकता है, वृद्धावस्था की लहरों को उछालता है, और मृत्यु के भयानक बहाव को बाहर फेंकता है,'' और उनके **परिनिर्वाण** के बाद, उनको आध्यात्मिक लोगों की परिषद् में अमृतत्त्व की देशना करते हुए हमेशा ही **गृद्धकूट** पर्वत की चोटि पर विराजमान बना दिया। इस ढंग से उन्होंने **शाक्यमुनि** के पृथिवी पर प्रकट होने के महत्त्व की व्याख्या की, जो ''**महाकरुणाचित्त**'' के व्यावहारिक प्रदर्शन के अतिरिक्त और कछ नहीं था।

बोधिसत्त्व एवं करुणा

नागार्जुन बोधिचित्त[1] संबंधी अपने ग्रंथ में **बोधिसत्त्व** के महायानी विचार

उनकी धार्मिक दृढ़ भावना को यहाँ समझा गया है, वह **बोधिसत्त्व** के पुण्यों को अपने साथियों की आध्यात्मिक भलाई के लिए देने के **परिवर्त** के विचार को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे ईसाई व्याख्या का विरोध करेगें कि अपने रक्त के बहाने के माध्यम से मूल पाप के प्रायश्चित करने के विशेष कार्य के लिए अपने स्वर्गिक पिता द्वारा जीसिस को पृथिवी पर भेजा गया था, क्योंकि यह बिल्कुल ही बचकाना एवं भौतिकवादी है।

1. इस ग्रंथ का पूरा शीर्षक है ''**ए ट्रिटाइज् ऑन् दि ट्रान्सेडेन्टिलिटि ऑफ् बोधिचित्त** (नाञ्जो, सं. 1304) बड़े चीनी अक्षरों में यह सात या आठ पन्नों का एक छोटा सा ग्रंथ है। ईसा की दसवीं शताब्दी में दानपाल (शिहु) द्वारा इसका चीनी अनुवाद किया गया था।

को निम्नलिखित रूप में व्याख्यायित करते हैं:

''इस प्रकार सभी बोधिसत्त्वों की मूल प्रकृति महाकरुणाचित्त है और सभी चेतन प्राणी इस करुणा के पात्र हैं। अतः सभी बोधिसत्त्व उस आनन्दपूर्ण स्वाद से नहीं चिपकते हैं, जो ध्यान की विभिन्न वृत्तियों से उत्पन्न होता है, अपने पुण्यात्मक कार्यों के फल के बारे में लालच नहीं करते हैं, जो उनकी अपनी प्रसन्नता की वृद्धि कर सकता है।

''उनकी आध्यात्मिक स्थिति श्रावकों से ऊँची होती है, क्योंकि वे सभी चेतन प्राणियों को अपने पीछे नहीं छोड़ते हैं (जैसा श्रावक करते हैं)। वे परोपकारिता का अभ्यास करते हैं, वे बुद्ध-ज्ञान के फल की कामना करते हैं (श्रावक-ज्ञान की अपेक्षा)।

''एक महान करुणापूर्ण हृदय से युक्त होकर वे सभी प्राणियों के दुःखों को देखते हैं, जो अपने पापों के परिणामस्वरूप अविचि नामक नरक में विविध प्रकार से संतप्त होते हैं—एक ऐसा नरक जिसकी सीमाएँ अनन्त हैं, जहाँ पर सभी प्रकार के कर्म के कारण दुःख का एक अनन्त चक्र संभव होता है (चेतना प्राणियों द्वारा किए गए कर्म)। उन दुःखी प्राणियों के लिए दया एवं करुणा से युक्त होकर बोधिसत्त्व स्वयं दुःखी होने की कामना करते हैं।

''परन्तु वे इस तथ्य से परिचित हैं कि दुःखों की विविध स्थितियों द्वारा उत्पन्न किए गए सभी कष्ट एक अर्थ में प्रेतात्मक एवं अयथार्थ हैं, जब कि दूसरे अर्थ में वे नहीं हैं। वे यह भी जानते हैं कि जिनके पास सभी अस्तित्वों की शून्यता के बारे में एक बौद्धिक दृष्टि है, वे भली भाँति जानते हैं कि कर्म के वे परिणाम इस-इस प्रकार से क्यों उत्पन्न किए जाते हैं (अविद्या एवं मोह के माध्यम से)।

''अतः चेतन प्राणियें को दुःख से मुक्त करने के लिए सभी बोधिसत्त्व महान आध्यात्मिक ऊर्जा से प्रेरित होते हैं और वे स्वयं जन्म एवं मृत्यु की गंदगी में सम्मिलित होते हैं। यद्यपि वे इस प्रकार से अपने आपको जन्म एवं मृत्यु के नियमों के अधीन बनाते हैं; उनके हृदय पापों एवं आसक्तियों से मुक्त होते हैं। वे उन निर्मल, दोष-रहित पद्म-पुष्पों के समान होते हैं, जो कीचड़ में पैदा होते हैं, और फिर भी वे उससे दूषित नहीं होते हैं।

''उनके सहानुभूतिपूर्ण महान हृदय, जो उनके अपने जीवन का सार है,

दुःखी प्राणियों को कभी-भी पीछे नहीं छोड़ते हैं। (प्रज्ञा की ओर यात्रा में)। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि पदार्थों की शून्यता में विद्यमान रहती है, परन्तु (उनका मुक्ति का कार्य) कभी भी पापों एवं दुःखों के संसार से बाहर नहीं होता है।''

बोधि एवं बोधिचित्त का अर्थ

''बोधिसत्त्व'' शब्द का क्या अर्थ है? दो शब्दों से बनने वाला यह एक संस्कृत शब्द है ''**बोधि**'' और ''**सत्त्व**''। ''**बोधि**'' जो बुध् धातु से बनता है और जिसका अर्थ है ''जागना,'' सामान्यतया इसे ''ज्ञान'' या ''बोधि'' के रूप में रूपान्तरित किया जाता है। सत्त्व (सत्-त्व) का शाब्दिक अर्थ है ''सत् की स्थिति;'' इस प्रकार ''अस्तित्त्व'', ''प्राणी'' या ''जो वह है''-इसके अर्थ हैं। एक शब्द के रूप में ''**बोधिसत्त्व**'' का अर्थ है ''**बोधि** का व्यक्ति,'' या ''एक ऐसा व्यक्ति जिसका सार बुद्धि है।'' महायानियों ने **श्रावक** के विरुद्ध इस शब्द को क्यों ग्रहण किया— यह आसानी से समझा जा सकता है, जब हम यह देखते हैं कि उन्होंने अपने दर्शन में **बोधि** शब्द की अवधारणा को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। जब **श्रावकों** द्वारा इस शब्द का प्रयोग ज्ञान के सीधे-सादे अर्थ में किया गया था, इसकी कोई विशिष्ट अवधारणा नहीं थीं। परन्तु ज्यों ही यह शब्द **धर्मकाय** की अवधारणा के साथ किसी मीमांसीय संबंध को अभिव्यक्त करने लगा, इसके अपने सामान्यतया स्वीकृत अर्थ का प्रयोग बन्द हो गया।

महायानियों के अनुसार **बोधि** मानव चेतना में **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है। यदि दार्शनिक दृष्टि से कहें तो, **तथता** या **भूततथता** एक सत्तामूलक शब्द है, और **धर्मकाय** या तथागत या **बुद्ध** का एक धार्मिक महत्त्व है, जब कि ये तीन **बोधि भूततथता**, और **धर्मकाय**, एवं उनके पर्याय एक ही यथार्थ के विभिन्न पक्ष हैं, जो एक सीमित बुद्धि के अनेक दोषपूर्ण लेन्सों (शीशों) के माध्यम से बाहर की तरफ व्यक्त होते हैं।

बोधि यद्यपि यह आवश्यक रूप से एक ज्ञानमीमांसीय शब्द है, यह एक मानसिक स्वरूप धारण कर लेती है जब इसका प्रयोग **चित्त**, या हृदय या आत्मा के साथ किया जाता है। **बोधिचित्त** या **बोधिहृदय** का भी वही अर्थ है, और यह महायान ग्रंथों में एकाकी रूप में **बोधि** की अपेक्षा और अधिक सामान्यता से प्रयुक्त होता है, विशेष रूप से जब इसके धार्मिक सारांश पर इसके बौद्धिक सार की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है। **बोधिचित्त** या **बोधिहृदय** मानव हृदय

में अपने आदिरूप **धर्मकाय** का एक प्रतिबिम्ब है।

जब इसको बढ़ाकर कहा जाता है, जब यह **अनुत्तर-सम्यक्-संबोधिचित्त** कहलाता है।

अब यह आसानी से समझ में आ जाएगा कि जो **बोधिचित्त** का सार है, यह बिल्कुल वही चीज है जो **धर्मकाय** है। क्योंकि **बोधिचित्त धर्मकाय** की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यद्यपि हमारे में सीमित, आंशिक एवं अपूर्ण रूप से अनुभूत होता है। **चित्त** एक बिम्ब है और **धर्मकाय** एक आदिपुरुष है, परन्तु फिर भी एक दूसरे जितना यथार्थ नहीं है, केवल इन दोनों की द्वैतरूप में कल्पना नहीं की जानी चाहिए। एक **धर्मकाय** है, एक मानव हृदय है, और **धर्मकाय** अपने आपको मानव हृदय में प्रतिबिम्बत करता है, वैसे ही जैसे चन्द्र जल में प्रतिबिम्बित होता है : इस ढंग से सोचना ठीक नहीं है; क्योंकि बौद्धिक की मौलिक शिक्षा इन तीनों अवधारणाओं-**धर्मकाय**, मानव हृदय एवं **धर्मकाय** को मानवहृदय में प्रतिबिम्ब को एक ही एवं उसी गतिविधि के स्वरूप में देखने की है।

प्रेम एवं करुणा

अत: **बोधिचित्त धर्मकाय** के समान आवश्यक रूप से करुणा एवं **प्रज्ञा** के समान है। यहाँ कोई व्यक्ति **करुणा** के लिए ''प्रेम'' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति कर सकता है, शायद इस आधार पर कि **करुणा** ईसाईयों के प्रेम के भाव के बिल्कुल समानान्तर नहीं है, क्योंकि इसमें सहानुभूति के अर्थ की गन्ध अधिक आती है। परन्तु यदि हम प्रेम से दूसरों के लिए आत्म-त्याग का अर्थ समझते हैं (और यह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है), तब **करुणा** को सही ढंग से प्रेम के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है, ईसाई अर्थ में भी। क्या एक **बोधिसत्त्व** दु:खी प्राणियों की भलाई के लिए अपनी **निर्वाण** संबंधी शक्ति का परित्याग करने के लिए तैयार नहीं होता है? क्या एक **बोधिसत्त्व** अपने साथियों की आम भलाई के लिए अपने जन्मों में किए गए पुण्यात्मक कार्यों को समर्पित करने के लिए तैयार नहीं होता है? क्या उसका एक मौलिक उद्देश्य, जो उसके जीवन की सभी गतिविधियों को नियंत्रित करता है, सभी चेतन प्राणियों की सार्वभौमिक मुक्ति के लिए निर्देशित नहीं है? क्या वह अहंकार से उत्पन्न होने

वाले सभी विचारों एवं आवेगों का पूर्ण रूप से त्याग करने एवं **धर्मकाय** के संकल्प का आलिंगन करने के लिए तैयार नहीं है? यदि ऐसा है, तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि **करुणा** को प्रेम के रूप में रूपान्तरित क्यों न किया जाए।

ईसाई कहते हैं कि बिना प्रेम के हम टनटनाने वाले मँजीरे बन जाते हैं; और बौद्ध घोषणा करेंगे कि बिना **करुणा** के हम एक जमे हुए शिलाखण्ड पर लटकती हुई पुरानी शराब के समान हैं या जलती हुई आग के बाद बची हुई ठण्डी राख के समान हैं।

फिर, कुछ लोग कह सकते हैं कि बौद्ध सहानुभूति बुराइयों पर एक निष्क्रिय चिन्तन के एक भाव को अभिव्यक्त करती है। जब ईसाई कहते हैं कि ईश्वर अपने प्राणियों से प्रेम करता है, प्रेम में एक गतिविधि होती है और उसके अपने लोगों की वास्तविक भलाई के लिए कुछ भी कर सकने की उसकी इच्छा को अभिव्यक्त करती है। बिल्कुल ठीक। फिर जब बुद्ध के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने यह घोषणा की थी कि इस त्रैलोक्य संसार में सभी चेतन प्राणी उसके अपने बच्चे हैं या कि वे तब तक अन्तिम निर्वाण में प्रवेश नहीं करेंगे जब तक किसी एक प्राणी को छोड़े बिना तीन हजार ब्रह्माण्ड के सभी लोग जन्म एवं मृत्यु के दुःख से मुक्त नहीं हो जाते हैं, उनके आत्म-त्याग वाले प्रेम को सर्व-व्यापक समझा जाना चाहिए और उनके साथ-साथ उसे ऊर्जा एवं गति-विधि से परिपूर्ण समझा जाना चाहिए। किसी भी प्रकार की आपत्ति क्यों न हो, **धर्मकाय** एवं **बोधिचित्त** के प्रेम-सार के विरुद्ध बोलने में हमें कोई भी पर्याप्त कारण दिखलाई नहीं पड़ता है।

बोधिचित्त पर नागार्जुन एवं स्थिरमति के विचार

''**डिसकोर्स ऑन् दि ट्रॉन्सेन्डेलिटि ऑफ दि बोधिचित्त**' नामक अपने ग्रंथ में **नागार्जुन** कहते हैं, ''**बोधिचित्त** सभी प्रकार के निश्चयों से मुक्त है, अर्थात्, यह पाँच **स्कन्धों, पाँच धातुओं,** बारह **आयतनों** की कोटि में सम्मिलित नहीं है। यह कोई विशिष्ट अस्तित्त्व नहीं है, जो स्पृश्य है। यह अनात्म एवं सार्वभौमिक है। यह अनुत्पन्न एवं इसका स्वभाव **शून्य** है (अभौतिक या पारमार्थिक)।

''एक व्यक्ति, जो **बोधिचित्त** की प्रकृति को समझता है, सभी पदार्थों को एक प्रेमी हृदय से देखता है, क्योंकि करुणा ही बोधिचित्त का सारांश है।

''**बोधिचित्त** ही सर्वोच्च सार है।

''अतः सभी **बोधिसत्त्व** इस महान करुणापूर्ण हृदय में ही अस्तित्त्व का अपना उद्देश्य खोजते हैं।

''समता के हृदय में रहता हुआ **बोधिचित्त उपाय**[1] के व्यक्तिगत साधन उत्पन्न करता है। एक व्यक्ति, जो इस हृदय को समझता है, जन्म एवं मृत्यु के द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से मुक्त हो जाता है और ऐसे कार्य करता है, जो उसके लिए एवं दूसरों के लिए लाभदायी हैं।''

---

1. **उपाय,** अर्थात् ''व्यावहारिक'', ''चाल'', ''तरीका'' या ''कौशल'' का बौद्धधर्म में एक तकनीकी अर्थ है। यह **प्रज्ञा** के विरोधस्वरूप प्रयुक्त होता है और यह **करुणा** का पर्याय है। इसलिए अपने नाम वाले सूत्र (अध्याय 8, श्लोक, 1-4) में **विमलकीर्ति** कहते हैं: ''**प्रज्ञा बोधिसत्त्व** की माता है और **उपाय** उसके पिता हैं, मानवता का ऐसा कोई भी नायक नहीं है, जो उनसे पैदा नहीं हुआ है।'' **समता** के सिद्धान्त को अभिव्यक्त करने वाली एक सार्वभौमिक **प्रज्ञा** है, जब कि नानात्व के सिद्धान्त को अभिव्यक्त करने वाले **उपाय** अनेक हैं। विशुद्ध **बोधि** के दृष्टिकोण से **बोधिसत्त्व** किसी भी दुःखी जीवन को नहीं देखते हैं, क्योंकि ऐसा कुछ भी नहीं है जो **धर्मकाय** का नहीं है, परन्तु जब वे अपनी **करुणा** के दृष्टिकोण से ब्रह्माण्ड को देखते हैं, वे सर्वत्र ही दुःख एवं पाप की परिस्थितियों को पहचान जाते हैं, जो (दुःख एवं पाप) वैशिष्ट्य के स्वरूपों से चिपकने से उत्पन्न होते हैं। इनको दूर करने के लिए वे सभी, संभव **उपायों** का आविष्कार करते हैं, जो जीवन के अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति की ओर निर्देशित होते हैं। केवल एक ही धर्म है, सत्य का धर्म, परन्तु तरीके कई हैं, उपाय अनेक हैं, जो सभी **धर्मकाय** की सब को आलिंगन करने वाली **करुणा** से उपन्न होते हैं और वे आम जनता को सर्वोच्च **प्रज्ञा** एवं सार्वभौमिक भलाई की ओर अग्रसर करने के लिए समान रूप से दक्ष हैं। अतः यदि सत्तामूलक दृष्टि से कहें तो बौद्ध कहेंगे कि यह ब्रह्माण्ड **धर्मकाय** के द्वारा **उपाय** कौशल के महान प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो उनके द्वारा वह सभी चेतन प्राणियों को बुद्धत्त्व की अन्तिम अनुभूति करने के लिए अग्रसर करने की इच्छा करता है। इस प्रकार अनेक संदर्भों में **उपाय** को अंग्रेजी में रूपान्तरित करना बहुत ही कठिन है और इसके साथ-साथ इसके मूल को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए सुरक्षित रखना भी कठिन है। अनेक बौद्ध शब्दों के साथ भी ऐसी ही स्थिति है जिनमें हम **बोधि, धर्मकाय, प्रज्ञा, चित्त, परिवर्त** आदि का उल्लेख कर सकते हैं। चीनी अनुवादकों ने उपाय को '' साधन समझौता'' के रूप में रूपान्तरित किया है।

स्थिरमति अपने "**डिसकोर्स ऑन् दि महायान-धर्मधातु**"[1] नामक ग्रंथ में **बोधिचित्त** की प्रकृति पर नागार्जुन के विचारों के समान ही अपने विचार की पैरवी करते हैं, जिसे मैं यहाँ पर संक्षिप्त कर रहा हूँ: **निर्वाण, धर्मकाय, तथागत, तथागतगर्भ,** परमार्थ, **बुद्ध, बोधिचित्त** या **भूततथता**— ये सारे शब्द केवल एक तथा उसी यथार्थ के अनेक भिन्न-भिन्न पक्षों का प्रतिपादन करते हैं, और **बोधिचित्त की धर्मकाय या भूततथता** के एक स्वरूप का नाम दिया गया है क्योंकि यह ही मानव हृदय में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, और इसकी पूर्णता, या नकारात्मक ढंग से सभी अहंकारमय अशुद्धियों से इसकी मुक्ति निर्वाण की स्थिति का निर्माण करती है।"

धर्मकाय का प्रतिबिम्ब होने के कारण **बोधिचित्त** व्यावहारिक ढंग से अपने सभी लक्षणों से मुक्त मूल के समान वही है; इसलिए **स्थिरमति** आगे कहते हैं: "यह बाध्यकारी गतिविधियों से मुक्त है, इसका कोई आदि नहीं है, इसका अन्त भी नहीं है, यह अशुद्धियों से प्रदूषित नहीं किया जा सकता है, यह अहंकारी एवं व्यक्तिवादी पूर्वाग्रहों से धुँधला नहीं किया जा सकता है; यह अशरीरी है, यह बुद्धों का आध्यात्मिक सारांश है, यह सभी पार्थिव एवं पारमार्थिक गुणों का स्रोत है; यह सतत् होते रहता है, फिर भी इसकी मौलिक विशुद्धि कभी भी नष्ट नहीं होती है।"

"इसकी तुलना अनन्त रूप से चमकने वाले सूर्य के प्रकाश से की जा सकती है, जो अस्थायी रूप से बादलों के पीछे छिप सकता है। अहंकार से उत्पन्न होने वाले सभी आवेगों एवं पापों की वृत्तियाँ कभी-कभी **बोधिचित्त** के प्रकाश को काला कर देती हैं, परन्तु स्वयं चित्त हमेशा ही इन बाह्य अशुद्धियों से मुक्त रहता है। इसकी तुलना सर्वव्यापी आकाश से भी की जा सकती है, जो शाश्वत रूप से एक जैसा ही रहता है, उसमें आवृत्त होने वाले पदार्थों में कोई भी घटना या परिवर्तन क्यों न हो। जब **बोधिचित्त** अपने आपको एक सापेक्ष संसार में अभिव्यक्त करता है, यह सतत् होने (वाले) के अधीन प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ में यह सभी निश्चयों को अतिक्रान्त करता है, यह संसार की पहुँच से

---

1. इसका पूरा शीर्षक है: "**ए डिसकोर्स ऑन् दि नान-ड्यूएलिटि ऑफ दि महायान-धर्मधातु**।" सामान्य बड़े चीनी छापे में यह बारह पृष्ठों से भी कम का ग्रंथ है। इसे 691 ए. डी. में **देवप्रज्ञा** एवं अन्य द्वारा अनूदित किया गया था।

ऊपर है।

जब तक यह अविद्या एवं अहंकार से उत्पन्न होने वाले असंख्य पापों के नीचे दबा पड़ा रहता है, यह किसी भी पार्थिव या स्वर्गिक भलाई को उत्पन्न नहीं करता है। एक पद्म-पुष्प के समान, जिसकी पंखुड़ियाँ अभी खिली नहीं हैं, उस सोने के समान, जो गोबर एवं मिट्टी के ढेर के नीचे गहरा दबा पड़ा है, असुर द्वारा ग्रसित पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश के समान जब **बोधिचित्त** आवेग, ईर्ष्या, अज्ञान एवं मूर्खता के बादलों से अन्धा हो जाता है, वह अपने आन्तरिक आध्यात्मिक गुण को उद्घाटित नहीं करता है।

''उन सभी ग्रंथियों को तत्काल अपनी पूरी शक्ति से नष्ट कर दो; तब पूर्णरूप से विकसित एक पद्म-पुष्प के समान, गंदगी एवं मिट्टी से विशुद्ध सच्चे सोने के समान, बादलविहीन आकाश में एक चन्द्रमा के समान, अपनी पूर्ण आभा वाले सूर्य के समान, सभी प्रकार के धान्यों को उत्पन्न करने वाली पृथिवी माता के समान, असंख्य खजानों वाले समुद्र के समान, **बौधिचित्त** का शाश्वत आनन्द सभी चेतन प्राणियों के लिए होगा। तब सभी चेतन प्राणी अज्ञान एवं मूर्खता के दु:ख से मुक्त हो जाते हैं, उनके हृदय प्रेम एवं सहानुभूति से पूर्ण हो जाते हैं एवं बेकार के पदार्थों से चिपकने से मुक्त हो जाते हैं।

''फिर लौकिक हृदयों में **बोधिचित्त** अपने आपको कितना भी प्रदूषित एवं धुँधला पाए, यह आवश्यक रूप से सभी बुद्धों के **बोधिचित्त** के समान है। इसलिए **शाक्यमुनि** कहते हैं, हे **शारिपुत्र**, चेतन प्राणियों का संसार **धर्मकाय** से भिन्न नहीं है; **धर्मकाय** ही चेतन प्राणियों का संसार है; और जो चेतन प्राणियों का संसार है, वह ही **धर्मकाय** है।''

''जहाँ तक धर्मकाय या **बोधिचित्त** का संबंध है, लौकिक हृदयों एवं बुद्ध के हृदय में कोई मूलभूत अन्तर नहीं किया जाता है; फिर भी जब मानव दृष्टिकोण से देखा जाए (अर्थात अस्तित्त्व के संघटनात्मक पक्ष से) तो निम्नलिखित सामान्य वर्गीकरण किया जा सकता है :

''(1) असंख्य अहंकारमय पापों से निराशापूर्वक ढंग से विकृत किया गया एवं जन्म एवं मृत्यु के एक शाश्वत पुनर्जन्म के लिए अभिशप्त एक हृदय, जो -(शाश्वत पुनर्जन्म) समयातीत भूतकाल में ही प्रांरभ हो गया था, लौकिकता की एक स्थिति में स्थित कहा जाता है।

"(2) जन्म एवं मृत्यु में विचरण करने के दुःख से घृणा करता हुआ एवं सभी पापपूर्ण एवं भ्रष्ट परिस्थितियों से छुटकारा प्राप्त करने वाला हृदय दस पारमिताओं एवं 84,000 बुद्धधर्मों में **बोधि** की आंकाक्षा करता है एवं सभी प्रकार के पुण्यात्मक कार्यों में अपने आपको अनुशासित करता है, वह एक **बोधिसत्त्व** की (आध्यात्मिक) स्थिति में स्थित कहा जाता है।

"(3) वह स्थिति, जिसमें हृदय सभी प्रकार के आवेगों की कठिनाई से मुक्त हो गया है, सभी प्रकार के दुःखों को दूर कर दिया है, सभी पापों एवं भ्रष्टाचारों को मिटा दिया है, शुद्ध, शुद्धतर एवं शुद्धतम है, यह स्थिति धर्म के सार में होती है, वह हृदय उस ऊँचाई पर पहुँच गया है जहाँ से सभी चेतन प्राणियों की स्थितियों का सर्वेक्षण किया जाता है, उसने सभी ज्ञानों की निष्पत्ति को प्राप्त कर लिया है, मानवता के सर्वोत्तम प्रकार को प्राप्त कर लिया है, आध्यात्मिक सहजता की शक्ति को प्राप्त कर लिया है, जो एक व्यक्ति को आसक्ति एवं हिचकिचाहट से मुक्त करती है, यह आध्यात्मिक स्थिति एक पूर्णतया सम्बुद्ध **तथागत** की होती है।"

बोधिचित्तोत्पाद

बोधिचित्त सभी चेतन प्राणियों के हृदयों में होता है। इसका केवल बुद्धों में ही उत्पाद होता है और यह पूरी तरह से क्रियाशील एवं अपने निर्मल पुरुषत्त्व से युक्त होता है, जब कि यह सामान्य मर्त्यों में निष्क्रिय एवं सांसारिक ऐन्द्रियता से ज्ञानहीन संपर्क के कारण बुरी तरह अपंग होता है। इस बिन्दु को उदाहृत करने के लिए महायानियों द्वारा दिया गया दृष्टान्त **बोधिचित्त** की तुलना स्वर्गिक चन्द्रमा के प्रकाश से करना है। जब चन्द्रमा बिना बादलों वाले निर्मल आकाश में अपनी रुपहली चाँदनी में चमकता है, वह पृथिवी पर जल की प्रत्येक बूँद एवं उसकी सतह में प्रतिबिम्बित होता है। कम्पनशील पत्तों में बिल्लौरी ओस की बूँदे चन्द्रमा की चाँदनी को शाखाओं में लटकने वाले अनेक मोतियों के समान प्रतिबिम्बित करती हैं। दिन में भारी वर्षा के कारण बना हुआ प्रत्येक छोटा सा पानी का तालाब उस चाँदनी को आकाश से उतरे हुए अनेक तारों के समान प्रतिबिम्बित करता है। शायद कुछ तालाब गदले होते हैं, दूसरे गन्दे होते हैं, परन्तु चन्द्रमा की चाँदनी उनमें अपने निर्मल बिम्ब को प्रतिबिम्बित करने को मना नहीं करती है। वह बिम्ब वहाँ पर उतना ही पूर्ण है जैसे एक साफ, निरूप्लव पारदर्शी

झील में एक बिम्ब होता है, जहाँ पर गाएँ, अपनी प्यास बुझाती हैं और हंस अपने निर्दोष पंखों को नहला रहे होते हैं। जहाँ कहीं भी कोई छोटा सा पानी का अंश होता है, वहाँ पर रात की रानी का एक स्वर्गिक बिम्ब दिखलाई पड़ता है। **बोधिचित्त** के बारे में भी ऐसा ही है : जहाँ कही भी हृदय की छोटी सी भी गरमाहट होती है, जैसा भी वातावरण होता है वहाँ यह अपने आपको सफलतापूर्वक सबसे बढ़िया ढंग से भव्यात्मक बना देता है।

अब प्रश्न यह है: हमारे हृदयों में विद्यमान निष्क्रिय **बोधिचित्त** का अपने पूर्ण रूप मे उत्पाद कैसे हो? कमोबेश रूप से इसका उत्तर लगभग सभी महायान ग्रंथों में निश्चित ढंग से दे दिया गया है, और हम यहाँ **वसुबन्धु** के ''**हृदयोत्पादशास्त्र**''[1] नामक ग्रंथ से कुछ शब्द उद्धृत कर सकते हैं; क्योंकि वे उन परिस्थितियों का एक सिलसिलेवार ब्यौरा हम को प्रदान करते हैं जो इसको अपनी निर्जीव गतिविधि से जागृत करती हैं। (अध्याय 2)

हम में **बोधिचित्त** का उत्पाद होता है (1) बुद्धों पर चिन्तन करने से, (2) भौतिक अस्तित्त्व के दोषों पर विचार करने से, (3) उस निन्दनीय स्थिति पर विचार करने से जिसमें चेतन प्राणी जीवित हैं और अन्तिम (4) उन सद्‌गुणों की आकांक्षा करने से जो **तथागत** द्वारा सर्वोच्च **प्रज्ञा** में प्राप्त किए जाते हैं।

इन परिस्थितियों का निश्चित रूप से वर्णन किया जाता है :

(1) **बुद्धों पर चिन्तन करने से**, ''भूतकाल, वर्तमान, एवं भविष्य के दस दिशाओं के सभी बुद्ध, जब वे पहली बार **प्रज्ञा** के मार्ग पर प्रवृत्त हुए, हमारे समान आवेगों एवं क्लेशों से बिल्कुल मुक्त नहीं थे; परन्तु वे अन्तिम रूप से सर्वोच्च **प्रज्ञा** को प्राप्त करने में सफल हो गए और सर्वश्रेष्ठ आर्यजन बन गए।

''सभी बुद्ध अपनी दृढ़ आध्यात्मिक ऊर्जा की शक्ति के माध्यम से पूर्ण **प्रज्ञा** को प्राप्त करने में समर्थ हो गए थे। यदि **प्रज्ञा** आखिरकार प्राप्त करने योग्य है, इसे प्राप्त क्यों नहीं करना चाहिए?

''सभी बुद्धों ने अज्ञान के अन्धकार में **प्रज्ञा** के स्तम्भ को ऊँचा उठाते

---

1. इस ग्रंथ का पाचवीं शताब्दी के प्रारंभ में **कुमारजीव** द्वारा चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। यह दो पुस्तिकाओं में विभाजित है, प्रत्येक में लगभग बीस चीनी पृष्ठ विद्यमान हैं।

हुए और सर्वश्रेष्ठ हृदय को जागृत रखते हुए अपने आपको तपश्चरण एवं आत्मदमन को समर्पित किया था, और अन्तिम रूप से इस त्रैलोक्य संसार के बन्धन से अपने आपको मुक्त किया था। उनके चरण-चिह्न पर चलते हुए हम भी अपने आपको मुक्त कर सकते हैं।

''मानवता के सर्वश्रेष्ठ प्रकार के सभी बुद्धों ने जन्म एवं मृत्यु तथा आवेगों एवं क्लेशों के महान समुद्र को सफलतापूर्वक पार किया था, तब, हम बुद्धिमान प्राणी भी पुनर्जन्म के समुद्र को क्यों नही पार कर सकते हैं।

''सभी बुद्धों ने अपनी महान आध्यात्मिक ऊर्जा की अभिव्यक्ति करते हुए सर्वज्ञता को प्राप्त करने के लिए अपने सर्वस्व का परित्याग कर दिया था; और हम भी उनके श्रेष्ठ उदाहरणों का अनुकरण कर सकते हैं।''

(2) **भौतिक अस्तित्त्व के दोष :** ''पाँच स्कन्धों एवं चार तत्त्वों का यह हमारा शरीर असंख्य बुरे कर्मों का संवर्धक है; और अत: इसका त्याग करना चाहिए। हमारा यह शरीर अपने नौ छिद्रों से लगातार गंदगी एवं अशुद्धियों को निस्सारित करता रहता है, जो सच्चे रूप में घृणित है; अत: इसका त्याग करना चाहिए। हमारा यह शरीर अपने आप में क्रोध, ईर्ष्या, एवं मोह तथा अन्य असंख्य बुरे आवेगों को पोषित करता हुआ एक अच्छे हृदय को नष्ट कर देता है, अत: इसका त्याग करना चाहिए। हमारा यह शरीर एक बुलबुले, एक छिड़काव के समान है, और यह प्रति क्षण नष्ट हो रहा है। यह एक अवांछनीय पदार्थ है और इसे छोड़ देना चाहिए। हमारा यह शरीर अविद्या में आवृत्त होता हुआ हर समय बुरे कर्म करता रहता है, जो छ: गतियों के माध्यम से हमें पुनर्जन्म के भँवर में फेंकता है।

(3) **चेतन प्राणियों की दयनीय परिस्थितियाँ जो बोधिसत्त्वों** की सहानुभूति को जागृत करती हैं: ''सभी चेतन प्राणी अविद्या के बन्धन में हैं। मूर्खता एवं मोह से मन्त्र मुग्ध होकर वे अत्यधिक दु:ख को भोग रहे हैं। कर्म के सिद्धान्त में विश्वास न करते हुए वे बुराइयों का संग्रह कर रहे हैं; वे धर्मपरायणता के मार्ग से भटक रहे हैं; वे मिथ्या सिद्धान्तों का अनुसरण कर रहे हैं; आवेगों के भँवर में गहरे डूब रहे हैं, वे पापों के चार जलों में डुबाए जा रहे हैं।

''उन्हें सभी प्रकार के दु:खों से संतप्त किया जा रहा है। जन्म, मृत्यु एवं वृद्धावस्था का भय अनाश्यक रूप से उनका पीछा कर रहा है, और वे मुक्ति के

मार्ग की आकांक्षा नहीं करते हैं। दुःख, चिन्ता, तकलीफ से दमित होते हुए और अधिक गन्दें कामों को करने से वे परहेज नहीं करते हैं। अपने प्रेमी जनों से चिपके हुए और जुदा होने के भय से हमेशा ही ग्रस्त होते हुए वे यह नहीं समझते हैं कि कोई व्यक्तिगत यथार्थ नहीं होता है, व्यक्तिगत जीवन चिपकने के योग्य नहीं होता है। शत्रुता, घृणा, एवं दुःख से दूर होने की कोशिश करते हुए वे और ज्यादा घृणा को पालते हैं' · · · ।'

(4) **तथागत के सद्गुण :** ''अपने अनुशासन के सद्गुणों के कारण सभी **तथागतों** ने श्रेष्ठ एवं सम्मानित आकृति धारण कर ली है जो प्रत्येक दृष्टा को इस विचार की प्रेरणा देती है जो दुःख एवं विवाद को निरस्त करती है। सभी **तथागतों** का **धर्मकाय** अमर है और बुरी आसक्तियों से विशुद्ध एवं मुक्त है। सभी **तथागतों** में नैतिक अनुशासन, शान्ति, बुद्धि एवं मुक्ति विद्यमान है। वे बौद्धिक पूर्वाग्रहों से बाधित नहीं होते हैं और वे निर्मल गुणों के मन्दिर बन चुके हैं। उनमें **दस बल, चार अभय, महा करुणा,** एवं तीन **स्मृप्युपस्थान** विद्यमान हैं। वे सर्वज्ञ हैं, और दुःखी लोगों के लिए उनके प्रेम की कोई सीमा नहीं है तथा वे सभी प्राणियों को धर्मपरायणता के मार्ग पर वापिस लाते हैं, जो अविद्या के कारण भटक गए हैं।

संक्षेप में, **बोधिचित्त** का उत्पाद हमारे में या तो तब होता है जब दुःखी प्राणियों के लिए करुणा (जो हम में अन्तर्निहित है) का उदय होता है या जब हमारी बुद्धि सर्वोच्च **प्रज्ञा** की आकांक्षा करती है या जब ये दो मानसिक गतिविधियाँ किन्हीं अनुकूल परिस्थितियों में गतिशील हो जाती हैं। क्योंकि **बोधिचित** हमारे सीमित चेतन मन में **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है, यह लगातार ही अपने आदि रूप से मिलन के लिए लालायित रहता है, इसके बावजूद कि अविद्या का शाप इसके ऊपर हमेशा ही भारी पड़ता रहता है। जब किसी भी कारण से यह मिलन प्रभावी नहीं हो पाता है, **चित्त** अपना असंतोष किसी न किसी प्रकार से प्रदर्शित करता है। यह असंतोष कभी-कभी एक विकृत रास्ता अपना लेता है, और इसका परिणाम नैराश्य, या मानव-द्वेष या आत्म-हत्या, या संन्यास या कोई मिलती-जुलती सनकी गतिविधि हो सकता है। परन्तु यदि इसे

समुचित प्रकार से दिशा-निर्देश दिया जाए और इसका स्वभाविक रूप से विकास किया जाए, जितना सघन असंतोष होगा, एक **बोधिसत्त्व** की आध्यात्मिक गति-विधि उतनी ही ऊर्जापूर्ण होगी।

बोधिसत्त्व का प्रणिधान

अपनी अचेतन निद्रा से अपने **बोधिचित्त** का उत्पाद करने के पश्चात् एक **बोधिसत्त्व** अब अपनी प्रतिज्ञाएँ करने के लिए अग्रसर होगा।

मैं यहाँ पर एक टिप्पणी कर दूँ कि "**प्रतिज्ञा**" संस्कृत शब्द **प्रणिधान** के अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए एक बहुत उपयुक्त शब्द नहीं है। **प्रणिधान** एक प्रबल इच्छा, आकांक्षा, प्रार्थना है या पुनर्जन्म की असीम शृंखलाओं में भी अपने संकल्प को पूरा करने का एक अटल निश्चय है। बौद्ध लोग एक संकल्प या भावना की शक्ति में एक ऐसा सर्वोच्च विश्वास रखते हैं कि कितनी भी भौतिक सीमाएँ क्यों न हों, संकल्प उन पर अवश्य ही विजय प्राप्त करता है और अपने अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है। इसलिए, प्रत्येक **बोधिसत्त्व** के सार्वभौमिक मुक्ति में अपना योगदान करने के लिए उसके अपने विशिष्ट **प्रणिधान** होते हैं। जैसे ही उसके कर्म का क्षय होता है, उसकी शारीरिक छाया नष्ट हो सकती है, परन्तु उसका **प्रणिधान** जीवित रहता है और एक नए **प्रणिधान** को धारण कर लेता है, यह प्रक्रिया हमेशा ही उसे प्रभावी बनाए रखती है। इसको करने के लिए एक **बोधिसत्त्व** के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आपको अपनी आकांक्षाओं का एक पूर्ण अवतार बना ले, और प्रत्येक बाह्य एवं विदेशी तत्त्व को अपनी नियमित करने वाली आध्यात्मिक शक्ति के अधीन बना ले। बौद्ध लोग इतने पूर्ण आदर्शवादी होते हैं और विचारों एवं आदर्शों में उनका विश्वास इतना अटल होता है कि वे दृढ़ रूप से यह विश्वास करते हैं कि वे जिस किसी भी चीज की आकांक्षा करें, वह एक वास्तविक तथ्य के रूप में अन्त में प्रकट होगी; और अतः उनकी यह आकांक्षा जितनी अधिक सघन एवं स्थायी, एवं मानवता की अत्यधिक आन्तरिक आवश्यकताओं से उद्‌भूत होंगी, लालसा संतुष्ट होने के लिए उतनी ही निश्चित होगी। यह विश्वास संयोगवश बोद्धों के इस लोकप्रिय विश्वास की व्याख्या करने में सहायता करेगा कि एक व्यक्ति का कोई भी शक्तिशाली आवेग उसे जीवित रखेगा और यह जड़ या चेतन स्वरूप धारण करेगा, जो सर्वोत्तम ढंग से अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेगा।

वसुबन्धु के अनुसार जिसे हम अनेक बार उद्धृत कर चुके हैं, **बोधिसत्त्व** सामान्यतया निम्नलिखित दस **प्रणिधान** करते हैं, जो उनके अधुना जागृत एक महान प्रेमी हृदय में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं:[1]

(1) ''जो भी पुण्य मैंने भूतकाल एवं वर्तमान काल में संग्रहीत किए हैं, वे सभी चेतन प्राणियों को प्रदान कर दिए जाएँ और वे लोग सर्वोच्च ज्ञान के लिए आकांक्षा करने लगें, और मेरा इस प्रकार का **प्रणिधान** निरन्तर शक्ति में संवर्धित होता रहे एवं यह **प्रणिधान** मेरे पुनर्जन्मों में मेरा पोषण करे।

(2) ''मैं जहाँ कहीं भी पैदा हूँ, मैं अपने कार्य के पुण्य के माध्यम से सभी बुद्धों के सामने प्रकट हूँ, और उन्हें अपनी श्रद्धाजंलि अर्पित करूँ।

(3) ''एक वस्तु का अनुसरण करने वाली उसकी छाया के समान मैं हर समय बुद्धों के पास रहूँ, और कभी भी उनसे दूर न रहूँ।

(4) ''सभी बुद्ध मुझे धार्मिक सत्यों का निर्देश दें, जो मेरी बुद्धि के अनुकूल हों, और मैं अन्त में **बोधिसत्त्व** की पाँच आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त कर सकूँ।

(5) ''मैं विज्ञान विषयक ज्ञान से पूरी तरह परिचित हो सकूँ और इसके साथ-साथ धर्म के प्रथम सिद्धान्त से भी परिचित हो सकूँ एवं **सद्धर्म** के सत्य की एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकूँ।

(6) ''मैं अथक रूप से सभी प्राणियों को सत्य का उपदेश दे सकूँ, उनको प्रसन्न कर सकूँ, उनको लाभान्वित कर सकूँ और उनको बुद्धिमान बना सकूँ।

(7) ''बुद्ध की दिव्य शक्ति के माध्यम से मैं संसार की सभी दस दिशाओं में भ्रमण कर सकूँ, सभी बुद्धों को अपनी श्रद्धाजंलि अर्पित कर सकूँ, धर्म में उनके उपदेशों को सुन सकूँ, एवं सार्वभौमिक रूप से सभी चेतन प्राणियों को लाभान्वित कर सकूँ।

(8) ''निर्मल **धर्मचक्र के प्रर्वतन** से, ब्रह्माण्ड की दस दिशाओं के सभी चेतन प्राणी, जो मेरे उपदेश को सुन सकते हैं या मेरा नाम सुन सकते हैं, सभी आवेगों से मुक्त हो जाएँ एवं उनमें **बोधिचित्त** का उत्पाद हो सके।

---

1. उपर्युक्त **वसुबन्धु** के **बोधिचित्त** के अध्याय 2 के प्रथम भाग का कामचलाऊ रूपान्तरण है।

(9) ''मैं हर समय सभी चेतन प्राणियों के साथ रहूँ, उनकी सुरक्षा करूँ, एवं उनकी हानिकारक चीजों को नष्ट कर दूँ, उनको असंख्य आशीर्वाद दूँ। मेरे शरीर, जीवन एवं मेरे सर्वस्व के परित्याग के माध्यम से मैं सभी प्राणियों का आलिंगन कर सकूँ तथा इस प्रकार से **सद्धर्म** का अभ्यास कर सकूँ।

(10) ''**सद्धर्म** का शारीरिक रूप से अभ्यास करते हुए मेरा हृदय बाध्यता एवं अस्वाभाविकता की चेतनता से मुक्त हो सके, क्योंकि सभी **बोधिसत्त्व सद्धर्म** का इस प्रकार अभ्यास करते हैं, जैसे वे इसका अभ्यास नहीं छोड़ रहे हैं और फिर भी कुछ भी अनभ्यसित नहीं छोड़ नही रहे हैं; क्योंकि उन्होंने अपने **प्रणिधान** सभी चेतन प्राणियों के लिए ही किए हैं।''

अध्याय 12

बोधिसत्त्व की दस भूमियाँ

हमारे आध्यात्मिक जीवन की श्रेणियाँ

जैसा हम ऊपर देख आए हैं, सैद्धान्तिक रूप से **बोधि या बोधिचित्त** प्रत्येक चेतन प्राणी में विद्यमान है, और इस अर्थ में वह एक **बोधिसत्त्व** है। लौकिक हृदयों में यह अविद्या एवं अहंकार में आवृत्त होकर पाया जाता है, परन्तु यह कभी भी बिल्कुल मिटाया नहीं जा सकता है। परन्तु जब इस पर इसके परम रूप से विचार किया जाता है, तो यह संसार के क्षेत्र को अतिक्रान्त कर जाता है, परिश्रम एवं परेशानी के संसार से परे है और यह किसी भी प्रकार के दोष के अधीन नहीं है। परन्तु जब यह एक सापेक्ष अस्तित्त्व को ग्रहण करता है और अविद्या के अन्तर्गत केवल आंशिक रूप में अभिव्यक्त होता है, इसमें वास्तवीकरण या पूर्णता की अनेक **भूमियाँ** उदित होती हैं। कुछ में यह अन्यों की अपेक्षा और अधिक सार्थक अभिव्यक्ति को प्राप्त कर सकता है, जब कि कुछ ऐसी भी स्थितियाँ हो सकती हैं जो अपनी उपस्थिति का प्रमाण दिखलाने के लिए आपातत: अपने अभिशप्त कर्म के कारण विफल हो जाती हैं। इस बात की कोटि को "**इच्छन्तिक**" कहा जाता है, अर्थात् वे लोग जो आवेगों से पूरी तरह अभिभूत होते हैं। वे नैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से मात्र एक शव के समान होते हैं जिसे एक महान आध्यात्मिक वैद्य के लिए भी उसे पुनर्जीवित करना लगभग असंभव होता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर **बोधि** की आभा को इन गहन अज्ञानी आत्माओं में भी देदीप्यमान होते हुए स्वीकार किया जाना चाहिए। शायद ऐसी आत्माओं को पुनर्जन्म के अनेक चक्रों में जाना पड़ेगा, इससे पहले कि उनका कर्म अपनी मार्मिकता का परित्याग कर दे एवं वह एक नैतिक प्रभाव के प्रति अतिसंवेदनशील बन जाए, जिसके (नैतिक प्रभाव) सम्पर्क में वे आ सकते

हैं।

कर्म की यह अभिशापशक्ति सभी प्राणियों में एक जैसी नहीं होती है, इसमें शक्ति की सभी संभव मात्रा होती है और यह दूसरी लोगों की अपेक्षा कुछ लोगों और अधिक सघनता से कष्टों में डालती है। परन्तु कोई मानव हृदय या आत्मा ऐसी नहीं है कि कर्म एवं अविद्या के बन्धन से मुक्त हो, क्योंकि संघटनात्मक संसार का यह अस्तित्त्व अविद्या की उत्पत्ति है, यद्यपि यह तथ्य यह सिद्ध नहीं करता है कि जीवन एक बुराई है। केवल वह हृदय, जो कर्म एवं अविद्या के प्रभाव को अतिक्रान्त करता है, पूर्ण विशुद्धि, पूर्ण प्रेम, एवं पूर्ण बुद्धि है, यह ही स्वयं **धर्मकाय** या परम **बोधि** है। एक **बोधिसत्त्व** का जीवन एवं हमारी धार्मिक आकांक्षाओं का उद्देश्य उस आदर्श एवं वास्तविक **धर्मकाय** को प्रकट करना, उसको पहचानना, एवं उसके प्रेम एवं बुद्धि से अपना तादात्म्य स्थापित करना है।

बोधिचित्तोत्पाद मानव जीवन की सर्वोच्च भलाई की ओर पहला चरण है। पूर्णता प्राप्त करने से पहले इस **बोधिचित्तोत्पाद** को धार्मिक अनुशासन की अनेक भूमियों में से गुजरना चाहिए। महायानियों द्वारा सामानन्यतया इन भूमियों की गणना दस आँकी गई है। फिर भी वे हमारे आधुनिक संदेही मन को किसी भी महत्त्वपूर्ण परिणाम वाली प्रतीत नहीं होती हैं, न ही हम उन क्रमिक भूमियों में कोई बहुत व्यावहारिक एवं भली भाँति परिभाषित भेद को ढूँढ सकते हैं। हम यह समझने में विफल हैं कि कौन सी धार्मिक आवश्यकता ने इन हिन्दू बौद्ध लोगों को धार्मिक जीवन में आपाततः ऐसी महत्त्वहीन भूमियों को एक दूसरे के बाद स्थापित करने के लिए प्रेरित किया था। फिर भी, हम यह देख सकते हैं कि पहला **बोधिचित्तोत्पाद** हम सभी को तत्काल बुद्धत्त्व के लिए रूपान्तरित नहीं करता है; हमें अभी भी कर्म एवं अविद्या के हानिकारक प्रभाव को संघर्षमय प्रयत्नों से पार करना पड़ता है, जो हमारे व्यावहारिक जीवन में इतनी जल्दी से अपने आपको दृढ़ता से स्थापित करता है। परन्तु हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इन दस भूमियों का श्रेणीबद्ध रूप से चिह्नित करना बिल्कुल ही कृत्रिम प्रतीत होता है। फिर भी मैं यहाँ इन दस **भूमियों** को एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण के रूप में गिनाने का परिश्रम कर रहा हूँ और **अवतंसकसूत्र** में व्याख्यायित प्रत्येक भूमि के कुछ विशिष्ट लक्षणों को भी देने का परिश्रम कर रहा हूँ। संभवतः यह उन नैतिक अवधारणाओं एवं धार्मिक आकांक्षाओं को समझने में सहायता करेगा जो **दसभूमि** के सिद्धान्त की

स्थापना के लिए कार्य कर रही थी। महायानियों द्वारा **बोधिसत्त्व** के जो आवश्यक घटक समझते जाते थे, यहाँ उनको विस्तार से वर्णित किया गया है और यह इस बात को भी प्रदर्शित करता है कि एक बौद्ध से कौन सी आध्यात्मिक दिनाचर्या के पालन करने की आशा की जाती थी।

दस भूमियाँ हैं : (1) मुदिता, (2) विमला, (3) **प्रभाकरी**, (4) **अर्चिष्मती**, (5) **सुदुर्जया**, (6) **अभिमुखी**, (7) **दूरंगमा**, (8) **अचला**, (9) **साधुमती**, (10) **धर्ममेधा**।

(1) प्रमुदिता

प्रमुदिता का तात्पर्य ''आह्लाद'' या ''आनन्द'' है, और यह **बोधिसत्त्व** की प्रथम भूमि है, जिस पर बौद्ध लोग निर्वाण की शान्त, स्वयं में परिपूर्ण एवं लगभग शून्यवादी अवधारणा से प्रकट होते हैं, इस प्रकार यह अवधारणा **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** द्वारा पोषित की जाती है।

इस आध्यात्मिक उद्भव एवं मुक्ति के साथ आनन्द की एक सघन भावना मानसिक रूप से विद्यमान रहती है; वैसी ही भावना उस व्यक्ति द्वारा अनुभव की जाती है जो अनजाने लोगों के एक सुदूर क्षेत्र में एक अत्यधिक परिचित चेहरे को पहचान लेता है। इसी कारण से यह पहली भूमि ''आनन्द' कहलाती है।

निर्वाण की पूर्ण शान्ति के मध्य में भी, जिसमें सभी प्रकार के आवेग नष्ट हो जाते हैं, जैसा कि संन्यासियों या ऐकान्तिक दार्शनिकों द्वारा घोषित किया गया है, **बोधिसत्त्व** के हृदय में उसकी अत्यधिक आन्तरिक आवाज असंतोष या परेशानी में विलाप करती है। यद्यपि यह अपरिभाषित होती है और आपाततः इसका कोई महत्त्व नहीं होता है, उच्छेदवाद की शान्त कब्र में यह शाश्वत रूप से दफन होने के लिए मना कर देती है। वह (एक बोधिसत्त्व) अन्धकार में बेकार भटक रहा है; वह बेकार में अविरोध या अगति की समाधि में सान्त्वना की आकांक्षा कर रहा है; वह आत्म-प्रतिवाद के उपदेश में शाश्वत शान्ति की खोज कर रहा है; उसकी आत्मा अभी भी परेशान है, वह उसको ठीक तरह से नहीं जान पाता है कि इसका कारण क्या है। परन्तु जैसे ही उनींद से **बोधिचित्तोत्पाद** होता है, जैसे ही **महाकरूणा** की गर्मी संन्यास के सबसे शीतल कोठरी में प्रविष्ट

होती है, जैसे ही **महाप्रज्ञा** अविद्या की सबसे अन्धी कन्दराओं में उदित होती है, एक **बोधिसत्त्व** तत्काल ही यह देखता है कि संसार का निर्माण आत्म-विविक्ति या आत्म-प्रतिवाद के लिए नहीं हुआ है, कि **धर्मकाय** ''सार्वभौमिक दीप्ति'' का एक स्रोत है, यदि **निर्वाण** पर जन्म-एवं मृत्यु से विरोधी रूप में सापेक्ष ढंग से विचार किया जाए तो यह कुछ नहीं है, किसी भी सांसारिक अस्तित्त्व के रूप में अयथार्थ अपितु दिखावा है। ये अन्तदृष्टियाँ उसको अन्तिम रूप से यह अनुभव करने के लिए अग्रसर करती हैं कि जब तक सभी चेतन प्राणी अविद्या के उलझन से मुक्त नहीं हो जाते हैं और उसके द्वारा अधुना प्राप्त की गई उसी स्थिति में उन्नत नहीं हो जाते हैं, वह बिल्कुल भी शान्ति से नहीं रह सकता है।

(2) विमला

विमला का तात्पर्य है ''दोष से मुक्ति'' या सकरात्मक ढंग से ''विशुद्धि।'' जब **बोधिसत्त्व** प्रथम भूमि में प्राप्त की गई आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के माध्यम से हृदय की साधुता एवं विशुद्धि प्राप्त करता है, वह दूसरी भूमि में पहुँच जाता है। उसका हृदय अब पूरी तरह निर्मल हो जाता है, यह कोमलता से पूर्ण हो जाता है, वह द्वेष नहीं करता है वह ईर्ष्या नहीं करता है। वह किसी भी जीवित प्राणियों को मारने के सभी विचारों से मुक्त हो जाता है। जो भी उसके पास है उससे संतुष्ट होकर वह दूसरों की चीजों पर लालची आँखों से नहीं देखता है। अपनी प्रेयसी के प्रति निष्ठावान होता हुआ वह दूसरों के बारे में बुरे विचार नहीं रखता है। उसके शब्द हमेशा ही सच्चे, निष्ठावान, दयालु एवं विचारवान होते हैं। वह सचाई, ईमानदारी को पसन्द करता है और कभी भी चापलूसी नहीं करता है।

(3) प्रभाकरी

प्रभाकारी का तात्पर्य है ''दीप्ति,'' अर्थात् बुद्धि (की दीप्ति) इस भूमि में यह एक **बोधिसत्त्व** की आध्यात्मिक स्थिति के लक्षणों को मुख्यतया बतलाती है। यहाँ वह पदार्थों के स्वभाव में एक अत्यधिक पैठ रखने वाली अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करता है। वह यह अनुभव करता है कि सभी उत्पन्न पदार्थ नित्य नहीं हैं, दुःखों के लिए प्रेरक हैं, उनमें आत्मा नहीं होती है, विशुद्धि से रहित हैं, और वह अन्तिम विनाश के अधीन है। वह यह भी अनुभव करता है या विनाश के अधीन होता है, यह शाश्वत रूप से स्वभाव के सार में विद्यमान रहता है, और दिक्-काल की सीमाओं को अतिक्रान्त करता है। अज्ञानी लोग इस सत्य को न

देखते हुए अनित्य एवं बेकार की चीजों पर हमेशा ही परेशान रहते हैं, अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा को ईर्ष्या, द्वेष एवं मोह की अग्नि से लगातार नष्ट कर रहे हैं, जो क्रमश: उनके भविष्य के अस्तित्त्व के लिए पीड़ा एवं दु:ख की राख का संग्रह कर रहा है। चेतन प्राणियों की यह दु:खी स्थिति बोधिसत्त्व के प्रेमीहृदय को बुद्ध की सर्वोच्च बुद्धि को प्राप्त करने के लिए और अधिक प्रेरित करती है, जो उसको महान आध्यात्मिक ऊर्जा प्रदान करते हुए सार्वभौमिक मुक्ति के विराट कार्य को संपादित करने के लिए समर्थ बनाती है। उसकी बुद्ध-बोधि की इच्छा एवं उसमें उसकी श्रद्धा इतनी अधिक शक्तिशाली होती है कि वह एक क्षण के लिए भी डॉवाडोल नहीं होगा, यदि वह केवल एक मूल्यहीन कोख को प्राप्त करने के लिए आश्वस्त हो जाए, तो वह अपने आपको एक लावे की पिघलती हुई आग में डुबो देगा।

(4) अर्चिष्मती

अर्चिष्मती अर्थात् ''प्रज्वलन'' (ज्वालायुक्त) चौथी भूमि का नाम है, जिसमें एक बोधिसत्त्व बोधि को विशुद्ध करने वाले उग्र अग्नि-पात्र में अविद्या के सभी अवसादों एवं बुरे आवेगों को नष्ट करता है। यहाँ वह सैंतीस बोधिपक्षीय सद्‌गुणों का बहुत ही कठोरता से अभ्यास करता है जो बोधि की पूर्णता में सहायक हैं। ये सद्‌गुण सात प्रकार के हैं:

(I)चार स्मृत्युपस्थान : (1) कायानुपश्यना (2) वेदनानुपश्यना (3) चित्तानुपश्यना (4) धर्मानुपश्यना

(II) चार सम्यक्‌प्रहाण : (1) संयम प्रयत्न (2) प्रहाण प्रयत्न (3) भावना प्रयत्न (4) अनुरक्षण प्रयत्न।

(III) चार ऋद्धिपाद : (1) इच्छित को पाने का संकल्प (छन्दिद्धिपाद) (2) दृष्टि वाले पदार्थ पर मन को केन्द्रित करने की ऊर्जा (चितिद्धिपाद); (3) पदार्थ को स्मृति में रखने की शक्ति (विरियिवाद); (4) बुद्धि जो निर्वाण के मार्ग को देखती है (विमंसिद्धिपाद)

(IV) पाँच इन्द्रियाँ जिससे सभी नैतिक कल्याण उत्पन्न होता है : 1. श्रद्धेन्द्रिय 2. वीर्येन्द्रिय 3. स्मृतिन्द्रिय 4. समाधिन्द्रिय 5. प्रज्ञेन्द्रिय।

(V) पाँच बल : जैसे ऊपर बतलाए गए हैं वे ही।[1]

(VI) सात बोध्यंग : 1. स्मृतिसम्बोध्यङ्ग 2. धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्ग 3. वीर्यसम्बोध्यङ्ग 4. प्रीतिसम्बोध्यङ्ग 5. प्रश्रब्धिबोध्यङ्ग 6. समाधिसम्बोध्यङ्ग 7. उपेक्षासम्बोध्यङ्ग।

(VIII) आठ आर्य मार्ग : 1. सम्यक् दृष्टि; 2. सम्यक् संकल्प; 3. सम्यक् वाक्; 4. सम्यक् कर्म; 5. सम्यक आजीविका; 6. सम्यक् स्मृति; 7. सम्यक् व्यायाम; 8. सम्यक् संमाधि।

5. सुदुर्जया

सुदुर्जया का तात्पर्य है "जीतने के लिए बहुत कठिन।" इस भूमि में बोधिसत्त्व तब पहुँचता है, जब वह सैंतीस बोधिपक्षों एवं बोधि के दीप-स्तंभ, से पूर्णतया लैस होकर निडरता से बुरे आवेगों के सैन्यदल को तोड़ देता है। करुणा एवं प्रज्ञा की दो आध्यात्मिक तैयारियों से युक्त होकर और भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी बुद्धों की भावनाओं से लाभान्वित होकर बोधिसत्त्व ने अस्तित्त्व की व्यवस्था में गहरे में प्रविष्ट करने की एक बौद्धिक शक्ति का विकास कर लिया होता है। वह चार आर्य सत्यों को इनके सच्चे प्रकाश में देखता है; वह तथागत में सर्वोच्च यथार्थ को देखता है। वह यह भी देखता है कि सर्वोच्च यथार्थ, यद्यपि यह अपने सार में पूर्णतया एक ही है, अपने आपको वैशिष्ट्य के एक संसार में अभिव्यक्त करता है, कि संवृति एवं परमार्थ एक ही सत्य के दो पहलू हैं, कि जब व्यक्तिनिष्ठता बाधित होती है, तब वैशिष्ट्य का उदय होता है, और जब यह बाधित नहीं होता है, तब केवल तथागतज्ञान का शाश्वत प्रकाश ही चमकता है।

---

1. पाँच इन्द्रियों एवं पाँच बलों का भेद बिल्कुल निरर्थक प्रतीत होता है। परन्तु हिन्दू दार्शनिक सामान्यतया कर्म से कर्ता में एवं क्रिया से साधन में भेद करते हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ संवेदनों या इन्द्रियाँ संवेदनों या इन्द्रिय चेतना से भिन्न हैं, और मनोविज्ञान (मन) सोचना, ध्यान, स्मृति आदि जैसे कार्यों से भिन्न है। आत्मा को एक प्रमुख कर्ता समझा गया है जो सभी ऐन्द्रिय एवं बौद्धिक गतिविधियों को नियंत्रित करती है। यद्यपि बौद्ध लोग वास्तव में कर्ता एवं कर्म का यह भेद नहीं समझते हैं, वे कभी-कभी लोकप्रचलित प्रयोग का ही हल्के-फुलके ढंग से अनुसरण करते हैं।

(6) अभिमुखी

अभिमुखी का ताप्तर्य है, ''अपना चेहरा दिखलाना,'' अर्थात् इस भूमि में **बोधिसत्त्व** के सामने **प्रज्ञा** का प्रस्तुतिकरण।

बोधिसत्त्व सभी धर्मों के सार पर चिन्तन करता हुआ इस भूमि में प्रवेश करता है, जो सदैव एक ही स्वभाव के हैं। जब वह सत्य का दर्शन करता है, उसका हृदय महान प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है, वह शान्ति से अज्ञानी लोगों के जीवन पर चिन्तन करता है, जो रास्ते से भटक कर बुराई के लालच में अपने आपको फँसा रहे हैं, अहंकार की मिथ्या अवधारणा से चिपके हुए हैं और इस प्रकार अपने आपको शाश्वत निन्दा का शिकार बनाते हैं, तब वह सामान्यतया बुराइयों के विकास पर चिन्तन करने के लिए अग्रसर होता है। वहाँ अज्ञान होता है, वहाँ कर्म होता है, और अन्धी गतिविधि की इस ऊर्वरक भूमि में चेतना के बीज बोए जाते हैं; तृष्णा की नमी उनको पूर्णतया भिगो देती है, जिसके ऊपर अहंकार या वैयक्तिकता का जल डाला जाता है। वैशिष्ट्य के सभी स्वरूपों के लिए भूमि भली भाँति तैयार हो जाती है, और नाम रूप की कोपलें वहाँ पर जोरदार ढंग से फलने-फूलने लगती हैं। यहाँ से हम इन्द्रियों के फूलों के पास आते हैं जो दूसरे विषयों के संपर्क में आते हैं और हम संस्कारों को जन्म देते हैं, हम अनुकूल वेदना का अनुभव करते हैं, और हम दृढ़ता से उनसे चिपके रहते हैं। इस चिपके रहने को या वैयक्तिकता के सिद्धान्त के रूप में जीने के संकल्प को या भाव के सिद्धान्त के रूप को बारह निदानों में वर्णित किया गया है, पाँच **स्कन्धों** वाला एक दूसरा शरीर अस्तित्त्व में आता है, और रूपान्तरण की सभी स्थितियों में से गुजरने के बाद नष्ट हो जाता है तथा अदृश्य हो जाता है। सभी चेतन प्राणी इस प्रकार मिलन एवं वियोग, सुख एवं दुःख तथा जन्म एवं मृत्यु के झूले में निरन्तर रहते हैं। परन्तु **बोधिसत्त्व** की अन्तदृष्टि चीजों के अत्यधिक आन्तरिक सार में गहन रूप से प्रविष्ट हो चुकी होती है, जो सदैव वही रहती है और इसमें कोई उत्पाद एवं विनाश नहीं होता है।

(7) दूरंगमा

दूरंगमा का तात्पर्य है, ''दूर जाना।'' **बोधिसत्त्व** तथाकथित उपायज्ञा की प्राप्ति से इस भूमि में प्रवेश करता है, अर्थात् एक ऐसा ज्ञान जो उनके मुक्ति के काम के लिए अनुकूल कोई साधन या औचित्य को देने में समर्थ बनाता है। वह

स्वयं शून्यता, अनिमित एवं अप्रणिहित के सिद्धात में स्थित रहता है, परन्तु उसकी प्रेम-पूर्वक दयालुता उस चेतन प्राणियों में अत्यधिक व्यस्त बनाए रखती है। वह यह जानता है कि बुद्ध मूल एवं आवश्यक रूप उससे भिन्न नहीं हैं, परन्तु वह उनको समुचित श्रद्धांजलि देना बन्द नहीं करता है। वह हमेशा ही परमपूर्ण की प्रकृति पर चिन्तन करता रहता है परन्तु वह पुण्य संग्रह करने के अभ्यास का परित्याग नहीं करता है। वह सांसारिक विचारों से और अधिक परेशान नहीं होता है। फिर भी वह लौकिक मामलों के प्रबन्धन से घृणा नहीं करता है। वह अपने आपको आवेग को नष्ट करनेवाली अग्नि से दूर रखता है, परन्तु वह लोभ, द्वेष एवं मोह की क्रोधित ज्वालाओं को शान्त करने के लिए चेतन प्राणियों के लिए सभी संभव साधनों की व्यवस्था करता है। वह यह जानता है कि सारे व्यक्तिगत अस्तित्त्व, स्वप्न, मृगातृष्णा, या जल में चन्द्रप्रतिबिम्ब के समान होते हैं, परन्तु वह कार्य करता है और वह वैशिष्ट्य के संसार में परिश्रम भी करता है और वह अपने आपको कर्म के प्रभुत्त्व को समर्पित कर देता है। वह सुखावती की पारमार्थिक प्रकृति के विषय में भली भाँति परिचित है, परन्तु वह अज्ञानी जनता के लिए इसका वर्णन भौतिक रंगों के माध्यम से करता है। वह यह जानता है कि सभी बुद्धों का धर्मकाय एक भौतिक अस्तित्त्व नहीं है परन्तु वह अपने आपको एक महापुरुष के बत्तीस महान लक्षणों एवं अस्सी छोटे लक्षणों से सम्मानित करने से इन्कार नहीं करता है, वह यह जानता है कि सभी बुद्धों की भाषा मानव समझ से परे है परन्तु वह सभी उपायों द्वारा इसे लोगों के लिए पर्याप्त रूप से बोधगम्य बनाने के प्रयत्न करता है। वह यह जानता है कि सभी बुद्ध आँख की एक पल में भूत, भविष्य एवं वर्तमान को देख लेते हैं, परन्तु वह इस भौतिक संसार की विविध परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढाल लेता है और वह चेतन प्राणियों की उनकी नियति एवं स्वभावों के अनुसार बोधि के महत्त्व को समझने में सहायता करने के लिए प्रयास करता है। संक्षेप में, एक बोधिसत्त्व स्वयं सांसारिकता के क्लेशों से बहुत दूर आध्यात्मिकता के एक ऊँचे धरातल पर निवास करता है; परन्तु वह अपने आपको इस शान्त एवं अनाक्रान्त व्यक्तिनिष्ठता के लिए हटाता नहीं है; वह साहसिक ढंग से वैशिष्ट्य एवं इन्द्रियों के संसार में निकल पड़ता है; और अपने आपको अज्ञानी लोगों के धरातल पर स्थापित करता हुआ, वह उनके समान काम करता है, वह उनके समान परिश्रम करता है, और उनके समान ही दु:खी होता है। वह कभी भी जनता की मुक्ति एवं उनकी आध्यात्मिक

उन्नति के लिए हर समय प्रेमपूर्व दयालुता का अभ्यास करने एवं उनको अपने सभी पुण्यों का परिवर्त करने में विफल नहीं होता है, अर्थात्, वह कभी भी दस पारमिताओं का अभ्यास करने में थकता नहीं है।

कहने का तात्पर्य है, (1) एक बोधिसत्त्व बुद्धों के मार्ग का अनुसरण करने से प्राप्त हुए पुण्यों को सभी चेतन प्राणियों को उदारता से दान करने के माध्यम से वह दान पारमिता का अभ्यास करता है। (2) चिन्तन की शक्ति को बाधित करने वाले सभी बुरे आवेगों के नष्ट करने से वह शील पारमिता का अभ्यास करता है। (3) वह क्षान्ति पारमिता का अभ्यास करता है; क्योंकि उसके प्रति अज्ञानी लोगों द्वारा जो भी किया जाता है, वह उससे कभी चिड़चिड़ाता नहीं है या उस पर परेशान नहीं होता है। (4) वह वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है, क्योंकि वह पुण्य संग्रह एवं अपने लोगों में सद्भावना का विकास करने से कभी भी नहीं थकता है। (5) वह ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है, क्योंकि चित्त सर्वोच्च ज्ञान के मार्ग का निरन्तर अनुसरण करने से कभी भी विभ्रान्त नहीं होता है। (6) वह प्रज्ञा पारमिता का अभ्यास करता है, क्योंकि वह अपने विचारों को परम सत्य के मार्ग से दूर भटकने से हमेशा ही रोकता है। (7) वह उपाय पारमिता का अभ्यास करता है; क्योंकि सार्वभौमिक मुक्ति के काम के लिए उनकी आज्ञा के लिए उपायों का एक अक्षय भण्डार तैयार रहता है। (8) सर्वोच्च बुद्धि के आदेशों का निश्चयपूर्वक अनुसरण करने से वह प्रणिधान पारमिता का अभ्यास करता है। (9) वह बल पारमिता का अभ्यास करता है, क्योंकि लोगों की साधारण भलाई के उसके प्रयत्नों का कोई बुरा प्रभाव या विधर्मी विचार कभी भी उसे निराशावान नहीं कर सकते हैं या लोगों की सामान्य भलाई के प्रयत्नों को कम नहीं कर सकते हैं। (10) पदार्थों के अन्तिम स्वभाव को सच्चाई से समझने एवं उसकी व्याख्या करने से अन्तिम रूप से वह ज्ञान पारमिता का अभ्यास करता है।

(8) अचला

अचला का तात्पर्य है, ''अचल'' यह बोधिसत्त्व की आठवीं भूमि है। जब एक बोधिसत्त्व तर्कमूलक ज्ञान से भी स्वरूपों को अतिक्रान्त कर अनुत्पत्तिक धर्मक्षान्ति नामक सर्वोच्च एवं पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह सातवीं भूमि से परे गया हुआ समझा जाता है। अनुत्पत्तिकधर्मक्षान्ति का शाब्दिक अर्थ

है, "**अनुत्पन्न धर्मक्षान्ति सहनशीलता,**" और बौद्ध लोग इस शब्द का प्रयोग एक व्यक्ति के विचारों को इन दृष्टियों के अनुकूल रखने के अर्थ में करते हैं कि इस संसार में कुछ भी उत्पन्न नहीं किया गया है, चीजें वैसी ही है जैसे वे है, अर्थात् वे स्वयं **तथता** ही हैं। यह ज्ञान सापेक्ष ज्ञान के विरुद्ध अचेतन या असंकल्पित ज्ञान कहलाता है कि सापेक्ष ज्ञान ही हमारा सारा तार्किक एवं निदर्शनात्मक ज्ञान है। सही अर्थ में यह तथा कथित ज्ञान अपने सामान्य महत्त्व में ज्ञान है ही नहीं, यह एक प्रकार का अचेतन या अन्तश्चेतन बुद्धि या तात्कालिक ज्ञान है, जैसा कुछ लोग इसे बतलाते हैं, जिसमें न केवल संकल्प एवं क्रिया, अपितु जिसमें जानना एवं संकल्प करना एकाकी गतिविधि का अविभाजित प्रदर्शन है, जिसमें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तार्किक या स्वाभाविक संप्रेषण अनुपस्थित रहता है। यहाँ पर वास्तव में ज्ञान संकल्प है और संकल्प क्रिया है; "प्रकाश हो जाए" और प्रकाश हो जाता है और प्रकाश अच्छा है, यह एक द्विव्य मन की स्थिति होती है।

पूर्णता की इस स्थिति में **बोधिसत्त्व** की आध्यात्मिक अवस्था की तुलना एक उस व्यक्ति से की जाती है जो, स्वप्निल अवस्था में गहरे समुद्र को पार करने का प्रयास करते हुए अपनी पूरी ऊर्जा जुटाता है, सभी योजनाओं की व्यवस्था करता है और जब यात्रा प्रारंभ करने के अन्तिम क्षण में अचानक जग जाता है तथा उसे यह लगता है कि उसकी सभी व्यापक तैयारियों का कोई अर्थ नहीं है। **बोधिसत्त्व** ने अब तक सर्वोच्च ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अथक आध्यात्मिक प्रयास किए थे, **निर्वाण** की प्राप्ति के लिए सभी सद्‌गुणों का अभ्यास किया था, और सभी बुरे आवेगों का विनाश करने के लिए साहसिक ढंग से प्रयास किया था। इन सभी अभ्यासों की पराकाष्ठा के बाद वह अचानक **अचला भूमि** में प्रवेश करता है और वह यह पाता है कि उसकी पहले की गई सभी तैयारियाँ रहस्यात्मक ढंग से उसके मन से विलुप्त हो गई हैं। उसके मन में **बुद्धत्त्व, निर्वाण** या **बोधिचित्त** को कोई आकांक्षा नहीं है, सांसारिकता, अहंकार, या बुरे आवेगों की संतुष्टि के लिए तो बिल्कुल भी कोई आकांक्षा नहीं है। उसके पहले मार्ग के सभी प्रसिद्ध चेतन प्रयास अब एक सहज गतिविधि, सात्त्विक सीधेपन, एवं द्विव्य लीला की स्थिति में पहुँच गए हैं। वह संकल्प करता है और यह हो जाता है। वह आकांक्षा करता है और यह वास्तिक रूप धारण कर लेता है। वह स्वयं प्रकृति है, क्योंकि उसकी गतिविधि में ऐसा कोई संकेत नहीं है जो वह कोई

कृत्रिम पाण्डित्य, कोई स्वैच्छिक या अनिवार्य दबाव को अभिव्यक्त करता हो। पूर्ण आदर्श मुक्ति की इस स्थिति को सौन्दर्यात्मक कहा जा सकता है, जिसमें एक प्रतिभा के काम के लक्षण विद्यमान होते हैं। यहाँ पर किन्हीं निर्धारित नियमों के सचेतन रूप से अनुसरण करने का कोई चिह्न नहीं है, किसी फार्मूले के लिए अनुकूल रहने की कोई पीड़ा भी यहाँ नहीं है। यदि हम इसे साहित्यिक ढंग से कहें तो इस भूमि में एक बोधिसत्त्व का आन्तरिक जीवन उद्यान की उन कुमुदिनियों के समान है जिनकी आभा पूर्ण मानवीय दीप्तिमान सोलोमन से भी अधिक है।

(9) साधुमती

साधुमती का तात्पर्य है ''सद्बुद्धि,'' बोधिसत्त्व की नवीं भूमि को यह नाम दिया गया है। सभी बोधिसत्त्वों को यहाँ पहुँचा हुआ बतलाया गया है, जब चेतन प्राणी बोधिसत्त्व की सर्वोच्च पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि से लाभान्वित होते हैं, जो सामान्य मानव बुद्धि द्वारा मापे जाने योग्य नहीं है। यह ज्ञान उनको गंभीर रहस्य के धर्म, पूर्ण आध्यात्मिकता की समाधि, द्विव्य सहजता की धारिणी, परम विशुद्धि के प्रेम एवं परम मुक्ति के संकल्प की ओर अग्रसर करता है।

इस भूमि में बोधिसत्त्व चार प्रतिसंविदों को प्राप्त करेगा; वे हैं धर्मप्रतिसंविद, (2) अर्थप्रतिसंविद (3) निरुक्तिप्रतिसंविद, (4) प्रतिभनप्रतिसंविद। धर्मप्रतिसंविद से बोधिसत्त्व सभी चीजों के स्वभाव को समझता है, अर्थप्रतिसंविद से उनके व्यक्तिगत लक्षणों को समझता है, निरुक्तिप्रतिसंविद से उनकी अविनाशशीलता को समझता है, प्रतिभनप्रतिसंविद से उनकी शाश्वत व्यवस्था को समझता है। फिर, पहली बुद्धि से वे यह समझते हैं कि सभी पृथक्-पृथक् धर्मों में कोई परम यथार्थ नहीं होता है, दूसरी बुद्धि से वे यह समझते हैं कि वे सभी सतत संभवन के नियम के अधीन होते हैं; तीसरी बुद्धि से यह समझते हैं कि वे मात्र नामों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है; चौथी बुद्धि से वे यह समझते हैं कि इस प्रकार के मात्र नामों में भी कोई मूल्य होता है। फिर वे पहली बुद्धि से यह समझते हैं कि सभी धर्म एक ही यथार्थ के होते हैं, जो अविनाशी है, दूसरी बुद्धि से वे यह समझते हैं कि यह एक यथार्थ अपने आपको विभेदित करता हुआ कारणता के नियम के अधीन बनता है; तीसरी बुद्धि से वे यह समझते हैं कि एक श्रेष्ठ समझ के कारण सभी बुद्ध प्रशंसा के योग्य बनते हैं और वे सभी

चेतन प्राणियों के स्वर्ग के योग्य भी बनते हैं; चौथी बुद्धि से वे यह समझते हैं कि सत्य के एक काय में सभी बुद्ध धर्म के असंख्य प्रकाशों की देशना करते हैं।

(10) धर्ममेघ

धर्ममेघ का तात्पर्य है, "धर्म के बादल," **बोधिसत्त्व** की दसवीं एवं अन्तिम भूमि का यह नाम है। **बोधिसत्त्वों** ने अब विशुद्धि के सभी सद्गुणों का अभ्यास कर लिया होता है, **बोधि के** सभी घटकों को संग्रहीत कर लिया होता है, महान शक्ति एवं बुद्धि से युक्त बन गए हैं, महान करुणा एवं सहानुभूति के सिद्धान्त का सार्वभौमिक रूप से अभ्यास कर रहे हैं, व्यक्तिगत जीवन के रहस्य में गहरे प्रविष्ट हो चुके हैं, जीवन्तता की आन्तरिक गहराई को उन्होंने नाप लिया है, सभी **तथागतों** के मार्ग पर एक-एक कदम रख कर उनका अनुकरण कर लिया है। **बोधिसत्त्व** द्वारा संजोया गया प्रत्येक विचार अब सभी **तथागतों** की शाश्वत शान्ति के निवास में बसता है, और उनके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य बुद्ध के दस बलों[1] एवं चार वैशारद्यों[2] एवं अठारह विचित्र लक्षणों[1] (आवेणिक) की ओर

---

1. बुद्ध के दस **बल** ये हैं: (1) मानसिक शक्ति जो उचित एवं अनुचित में भेद करती है। (2) कर्म के प्रतिफल का ज्ञान, (3) सृष्टि की विभिन्न स्थितियों का ज्ञान, (4) मुक्ति के सभी स्वरूपों का ज्ञान, (5) चेतन प्राणियों के सभी विभिन्न स्वभावों का ज्ञान, (6) सभी कार्यो के अन्तिम गन्तव्यों का ज्ञान (7) समाधि, मुक्ति एवं शान्ति के विभिन्न अभ्यासों का ज्ञान (8) पूर्व जीवनों का ज्ञान (9) द्विव्यता की असीमित शान्ति, (10) सभी बुरे आस्रवों का विषयगत पूरा ज्ञान।
2. बुद्ध के चार **वैशारद्य** ये हैं: (1) उन्होंने सर्वोच्च **प्रज्ञा** प्राप्त कर ली है, (3) उन्होंने सभी बुरी इच्छाओं को नष्ट कर दिया है, (3)उन्होंने उन बाधाओं का सही ढंग से वर्णन कर दिया है जो धर्मपरायणता के जीवन के मार्ग में विद्यमान होती हैं। (4) कि उन्होंने सच्चे ढंग से मुक्ति के मार्ग की शिक्षा दी है।
3. अठारह विचित्र लक्षण (आवेणिक) जो बुद्ध को तमाम मानवता से विशिष्ट बनाते हैं, ये हैं: (1) वे कोई गलती नहीं करते हैं। अनादि काल से उन्होंने अपने आपको नैतिकता, ध्यान, बुद्धि एवं प्रेमपूर्ण करूणा में अनुशासित कर लिया है और इसके परिणाम स्वरूप उनका वर्तमान जीवन दोषों से मुक्त एवं सभी बुरे विचारों से भी मुक्त है। (2) वे अपनी देशानाओं में दोषरहित हैं, बुरे विचारों से भी मुक्त हैं। (2) वे अपनी देशनाओं में दोषरहित हैं। जब कभी वे बोलते हैं, यह उनकी पारमार्थिक

अग्रसर होता है। इन गुणों से **बोधिसत्त्व** अब सर्वज्ञ बन गए हैं, सभी **धारणियों** एवं समाधियों के मन्दिर-गर्भ में स्थित रहते हैं, एवं सभी गतिविधियों के शीर्ष पर पहुँच गए हैं।

बोधिसत्त्व इस भूमि में करुणा एवं सहानुभूति का मानवीकृत रूप बन जाता है, जो उसकी आन्तरिक इच्छा के स्रोत से स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं। वह सद्गुणों एवं प्रज्ञा के बादलों को एकत्रित करता है, जिनमें वह अपने आपको अनेक आकृतियों में अभिव्यक्त करता है; वह बुद्धि, विद्या एवं वैशारद्यों के प्रकाश को उत्पन्न करता है; और सारे संसार को धर्म की झंकार से हिलाता हुआ वह

वाक्पटुता से उत्पन होता है और श्रोताओं को जीवन की एक उच्च अवधारणा की ओर अग्रसर करता है। (3) उनका चित्त दोषरहित है। क्योंकि उन्होने अपने आपको समाधि में प्रशिक्षित कर रखा है, वे हमेशा ही शान्त, पवित्र एवं संतुष्ट रहते हैं। (4) वे अपने को समाहितचित्त का बनाए रखते हैं, अर्थात् चेतन प्राणियों के लिए उनका प्रेम सार्वभौमिक है और विभेदात्मक नहीं है। (5) उनका चित्त नानात्वसंज्ञा से मुक्त है, अर्थात् यह पारमार्थिक सत्य में स्थित है, उनके विचार इन्द्रियों के विषयों से दिक् भ्रमित नहीं होते हैं। (6) उपेक्षा। बुद्ध सर्वज्ञ हैं, फिर भी वे शान्तभाव से संतोषी हैं। (7) उनकी आकांक्षा अथाह है, अर्थात्, सभी प्राणियें को दुःखों एवं अज्ञान से बचाने की उनकी इच्छा की कोई सीमा नहीं है। (8) उनकी ऊर्जा अक्षय है, जिसको वे पूरे जोर से अन्धकार में डुबी हुई आत्माओं की मुक्ति के लिए लगाते हैं। (9) उनकी स्मृति अक्षय है, अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्य के बुद्धों द्वारा शिक्षित सभी अच्छे सिद्धान्तों के बारे में वे हमेशा ही सचेत रहते हैं। (10) उनकी **प्रज्ञा** अक्षय है, अर्थात् सीमारहित एवं पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण वे सभी प्राणियों की भलाई के लिए देशना करते हैं। (11) उनकी विमुक्ति नित्य होती है, अर्थात् उन्होंने शाश्वत रूप से बुरे आवेगों एवं पापपूर्ण आसक्तियों से अपने आपको दूर कर रखा है। (12) उनका विमुक्तिज्ञान पूर्ण है, अर्थात् मुक्ति की सभी अवस्थाओं के बारे में उनकी अन्र्दृष्टि दोषहीन है। (13) उनके पास एक ऐसी **प्रज्ञा** है जो उनकी सभी शारीरिक गतिविधियों को चेतन प्राणियों की भलाई एवं **प्रज्ञा** के लिए निर्देशित करती है। (14) उनके पास एक ऐसी **प्रज्ञा** है जो उनकी सभी देशनाओं को अपने साथी-प्राणियों की उन्नति एवं उनके बदलाव के लिए निर्देशित करती है। (15) उनके पास एक ऐसी **प्रज्ञा** है जो अज्ञानी लोगों की सभी परेशान करने वाली स्थितियों को उसके स्वच्छ मन में प्रतिबिम्बित करती है, जिससे वे मूर्खता एवं अज्ञान का गहरा पर्दा हटा देते हैं। (16) वे सभी भूत काल को जानते हैं। (17) वे सभी भविष्यकाल को जानते हैं। (18) वे सारे वर्तमान काल को जानते हैं।

सभी बुराइयों को नष्ट करता है; और **सदधर्म** की बौछारों को बिखेरता हुआ वह अविद्या एवं आवेग की ज्वालाओं को शान्त करता है जिसमें सभी चेतन प्राणी नष्ट हो रहे होते हैं।

बोधिसत्त्व की इस भूमियों[1] की उपर्युक्त प्रस्तुति हमें यह प्रदर्शित करती है कि महायानियों की अपनी आँखों के सामने कौन सा आदर्श जीवन समझा जाता है और यह किस अर्थ में **श्रावकों**, **प्रत्येकबुद्धों** एवं दूसरे धार्मिक अनुयायियों से भिन्न है। महायान हमको बुद्ध की शिक्षाओं का ''श्रोता'' मात्र बनाने से संतुष्ट नहीं है, यह सभी धार्मिक एवं नैतिक उद्देश्यों से हमें प्रेरित करना चाहता है जिन्होंने **शाक्यमुनि** के सबसे श्रेष्ठ हृदय को अपने अन्तरतम तक उद्वेलित कर दिया था। यह मानवीय आत्मा के आन्तरिक गुण को भली-भाँति पहचानता है, और इसके ऊँचे आदर्शों एवं श्रेष्ठ आकांक्षाओं को धारण करते हुए, यह हमारे आत्म-जीवन की सभी सँभावनाओं का विकास करने का प्रयास करता है, जो जीवन का विकास हमारे परिश्रमी प्रयासों एवं सब को चुनौती देने वाले साहस के द्वारा अनित्यता की इस धरती पर प्राप्त हो जाएगा। व्यक्तिगत जीवन के रूप में हम कुछ भी नहीं है अपितु मात्र परछाइयाँ है, जो परिस्थितियाँ उनको संभव बनाती हैं, ज्यों ही वे तिरोहित हो जाएँगी, वे परछाइयाँ भी मिट जाएँगी। मर्त्यों के रूप में हम हजारों मिट्टी के कणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, जो कर्म के चक्रवात के सामने बेसिलसिलेवार शक्तिविहीन होकर बिखरे पड़े हैं; परन्तु जब हम **धर्मकाय** के प्रेम एवं बुद्धि में संगठित होते हैं जिसमें हमारा जीवन स्थित हैं, हम **बोधिसत्त्व** होते हैं, हम जन्म एवं मृत्यु के झंझावात के विरुद्ध दृढ़ रूप से खड़े

---

1. दस-भूमियों की एक विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए **अवतंसक** (60वीं वाल्यूम का संपादन, 24-27 पुस्तिका) **शूरंगम**, **असंग के ''कंपरिहेन्सिव ट्रीटाइज ऑन् महायानिज्म''** नामक ग्रंथ पर **वसुबन्धु** की टीका (10-11 पुस्तिका), **विज्ञानमात्र शास्त्र**, (पुस्तिका 9) आदि, और इस विषय के विशिष्ट विवेचन के लिए इस नाम वाले सूत्र को देखो, जो संयोगवश एक संस्कृत संस्करण में विद्यमान है, और जिसका एक संक्षिप्त खाका राजेन्द्र मित्र द्वारा उनके **''नेपलिज बुद्धिस्ट लिटरेचर''** नामक ग्रंथ में दिया गया है, पृ. 81।

हो सकते हैं, अज्ञान के जबरदस्त धमाके के विरुद्ध भी खड़े हो सकते हैं। तब प्रेमपूर्ण करुणा का एक आपाततः महत्त्वहीन कर्म भी अन्तिमरूप से आनन्द के शाश्वत निवास की ओर अग्रसर करेगा, केवल कर्ता ही नहीं, परन्तु वह सारा समुदाय जिससे वह संबंधित है। क्योंकि करुणा का एक स्रोत बोधिचित्त की झील से सहज रूप में बहता रहता है, जो (झील) धर्मकाय के असंख्य झरनों से परिपूर्ण होती है, जब कि अज्ञान केवल अहंकार, घृणा, ईर्ष्या, बाधा एवं सार्वभौमिक दुःख की ओर अग्रसर करता है।

अध्याय 13

निर्वाण

महायान बौद्धधर्म के अनुसार निर्वाण को इसके शून्यवादी अर्थ में नहीं समझा जाता है। श्रावकों या हीनयानियों में भी इस अर्थ में निर्वाण उनके धार्मिक जीवन का इतना बढ़ा उद्देश्य नहीं है जितना कि चार आर्य सत्यों या अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास या अहंकार के जूए से मुक्ति की पहचान को समझा जाता है। जहाँ तक मैं इसे देख सकता हूँ, यह अधिकांश रूप में बौद्धेतर आलोचकों के कारण ही है कि निर्वाण की अवधारणा को बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं में से इसे प्रमुख रूप में चुन लिया गया है, इसके साथ-साथ यह घोषणा कर दी गई है निर्वाण सभी मानव आवेगों एवं आकांक्षाओं का श्रेष्ठ या बेकार सभी का विध्वंसक है।

वास्तव में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है, पाँच स्कन्धों का ''उन्मूलन'' या ''विघटन,'' और अत: यह कहा जा सकता है कि निर्वाण में प्रवेश करना भौतिक जीवन एवं सभी आंवेगों के उच्छेद के बराबर है। कैथोलिक बौद्ध लोग फिर, निर्वाण को शून्यता के अर्थ को नहीं समझते हैं, क्योकि वे यह कहते हैं कि बौद्ध धर्म न तो मृत्यु का धर्म है और न ही मृतकों का धर्म है, परन्तु यह शिक्षा देता है कि शाश्वत जीवन कैसे प्राप्त किया जा सकता है, पदार्थों के स्वभाव में एक अन्तर्दृष्टि कैसे प्राप्त की जा सकती है, और सर्वोच्च सत्य के अनुसार हमारे व्यवहार को कैसे नियमित किया जा सकता है। अत: बौद्धधर्म, जब इसको इसके संस्थापक की भावना में समुचित प्रकार से समझा जाए, तो यह सामान्य जनता द्वारा साधारणतया समझे गए रूप से कुछ बिल्कुल भिन्न ही चीज है।

निम्नलिखित पृष्ठों में मैं यह उल्लेख करने का प्रयास करूँगा कि निर्वाण मानव गतिविधियों के पूर्ण उद्देश्य के अर्थ में बौद्धों का किसी भी प्रकार से

प्राथमिक एवं एकमात्र उद्देश्य नहीं है और तब यह व्याख्या करने के लिए आगे बढ़ूँगा कि यह किस अर्थ में महायान बौद्ध धर्म में समझा जाता है और यह देखूँगा कि यह अपने महायानी अर्थ में बौद्धधर्म में किस सापेक्षता वाली स्थिति को धारण करता है।

उच्छेदवादी निर्वाण पहला उद्देश्य नहीं

निर्वाण के सही अर्थ को जानने के लिए पहले यह देखना आवश्यक है कि बुद्ध ने स्वयं अपनी धार्मिक समुद्री यात्रा में लहरों को किस दिशा में आगे बढ़ाया और वे अन्तिम रूप से किस किनारे पर पहुँचे। यह हमको यह बतलाएगा कि क्या **निर्वाण** उच्छेदवादी **शून्यता** के रूप में बौद्धों का प्राथमिक एवं एकमात्र उद्देश्य है या नहीं, जिसके प्रति इसके भक्तों का प्रत्येक आध्यात्मिक प्रयत्न समर्पित है।

यदि नकारात्मक **निर्वाण** की प्राप्ति ही बौद्धधर्म का एक मात्र उद्देश्य होता, हमें स्वाभाविक रूप से यह आशा करनी चाहिए कि बुद्ध का बिदाई भाषण (अन्तिम देशना) इस विषय से ही मुख्यतया संबंधित होता। फिर बुद्ध ने अपनी अन्तिम देशना में अपने शिष्यों की निर्वाण-शान्ति की उपलब्धि के लिए ही अपने सभी नैतिक प्रयासों को केन्द्रित करने की शिक्षा नहीं दी, जिससे वे उन गतिविधियों के उन तमाम स्वरूपों की उपेक्षा कर दें, जो स्वयं उन के जीवन में प्रकट होती हैं। **महानिब्बानसूत्त** के अनुसार उन्होंने उनको बतलाया कि ''पदार्थों के सभी घटकों में विनाश अन्तर्निहित होता है! समझदारी से अपनी मुक्ति का मार्ग खोजो!'' परिश्रमी जीवन का यह उपदेश **अश्वघोष** के **बुद्धचरित** में उल्लिखित बुद्ध के अन्तिम शब्दों के बिल्कुल अनुकूल ही है। (चीनी अनुवाद, अध्ययाय XXVI):

वे हैं

''यदि मैं एक कल्प तक और जीवित रहता,

वियोग एक अवश्यंभावी अन्त होगा

अनेक स्कन्धों से निर्मित एक शरीर

प्रकृति इसकी हमेशा जीवित रहने वाली नहीं है।

''अपने एवं दूसरों को लाभान्वित करने के बाद,
निरुद्देश्य मैं क्यों अधिक जीवित रहूँ
देवताओं एवं मनुष्यों को बचाया जा सके
प्रत्येक एवं सभी को मुक्त कर दिया गया है।
''हे मेरे शिष्यों!
निर्बाध सद्धर्म का संप्रेषण करो
आप जानते हो क्षय पदार्थों की नियति है,
कभी भी अपने आपको दुःख के हवाले मत करो।
''परिश्रम से मार्ग का अनुसरण करो,
और विसंयोग के घर पहुँचो,
मैंने बुद्धि का दीपक जला दिया है,
उसकी चमक संसार के अन्धकार को दूर करेगी।
''तुम जानते हो, संसार सहन नहीं करता है
क्योंकि तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए (जब तुम देखते हो),
मानवीय बीमारी से दुःखी माता-पिता
इलाज से पीड़ा से मुक्ति पा लेते हैं;
''मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें, अब दुःख का जहाज देता हूँ
जन्म एवं मृत्यु की तरंगों को अतिक्रान्त करो
मैं दुःख एवं पीड़ा से शाश्वत रूप से मुक्त हूँ।
इसी को सर्वोत्तम समझना चाहिए।
''अपने आपको अच्छी तरह सुरक्षित रखो!
अपने आपको आसक्ति को समर्पित मत करो!
सब कुछ जो विद्यमान है, अन्तिम रूप से समाप्त होगा!,
मैं अब निर्वाण प्रवेश में करता हूँ![1]

---

1. **सेक्रिड बुक्स् ऑफ दि ईस्ट वा.** XIX पृ. 306-307 में बील के अनुवाद की तुलना करें, पद्य 2095-2101 बील चीनी मूल को पूर्ण रूप से गलत समझते हैं।

इसमें हमें बुद्ध की अपने शिष्यों को समय नष्ट नहीं करने की विलक्षण चेतावनी उललब्ध होती है और उनको कठोर परिश्रम से, अपनी मुक्ति के लिए कार्य करने की सलाह दी गई है, परन्तु यहाँ हम बौद्धधर्म की भौतिक शिक्षा उच्छेदवाद के उपदेश को पाने में विफल हैं।

क्या बुद्ध ने तब अपने धार्मिक अनुशासन में सभी मानवीय आकांक्षाओं का पूर्ण उच्छेद प्राप्त करना प्रारंभ किया था और एक लम्बी समाधि के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे जो उनकी सभी प्रारंभिक देशनाओं के विरुद्ध था। इसके कहीं बहुत दूर उनकी पहली एवं अन्तिम अभिलाषा बोधि ज्ञान एवं सत्य के माध्यम से सभी लोगों को अज्ञान, पीड़ा एवं दुःख से मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। जब उनके प्रारंभिक जीवन में दुष्ट मार बुद्ध का विनाश करने के लिए अपनी बुरी शक्तियों का प्रयोग कर रहा था, स्वर्ग में भले देवताओं ने उस दुष्ट को चिल्लाकर कहा :[1]

''हे मार! अपने ऊपर यह बेकार की थकान मत लो — इस विद्वेष को दूर फेंक दो और अपने घर चले जाओ। वायु द्वारा शक्तिशाली मेरु पर्वत के समान यह ऋषि आपके द्वारा हिलाया नहीं जा सकता है।

''अग्नि भी अपना गर्म स्वभाव छोड़ सकती है, पानी अपनी तरलता छोड़ सकता है, पृथिवी अपनी दृढ़ता छोड़ सकती है, परन्तु वह कभी भी अपने संकल्प को नहीं छोड़ेगें, जिन्होंने अपना पुण्य असंख्य कल्पों के क्रिया कलाप के बाद अर्जित किया है।

''उनके साहसिक प्रयत्न, शानदार शक्ति एवं सभी प्राणियों के लिए करुणा का ऐसा उद्देश्य है, कि जब तक वे तथता (तत्त्व) को प्राप्त नहीं कर लेते हैं, वे अपने आसन से नहीं उठेंगे, जैसे अन्धकार को समाप्त किए बिना सूर्य उदित नहीं होता है।

''बीमारियों एवं आवेगों में पड़े दुःखी संसार पर दया करते हुए जो एक महान वैद्य को बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए, जो निदान ज्ञान के लिए इतना कठोर परिश्रम कर रहे हैं।''

''वे जो जब संसार को महान अस्तित्त्व की बाढ़ में संसार को डूबा हुआ

1. बुद्धचरित, **सेक्रिड बुक्स् ऑफ दि ईस्ट**, वा IIIX पृ. 145, में कावेल का अनुवाद।

देखते हैं और जैसे दूसरे किनारे पर जाने में असमर्थ पाते हैं, उनको सुरक्षित पार ले जाने का प्रयत्न करते हैं, क्या कोई समझदार आदमी उनका बुरा करेगा?

''ज्ञान का वृक्ष, जिसकी जड़े दृढ़ता से गहरी गड़ी हुई हैं और जिसके रेशे क्षान्ति हैं, नैतिक कर्म जिसके पुष्प हैं और स्मृति एवं विचार जिसकी शाखाएँ हैं, और जो फल के रूप में धर्म को प्रदान करता है— निश्चित रूप से जब यह वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, इसको काटा नहीं जाना चाहिए।

स्वर्ग के भले देवताओं के ये शब्द सही ढंग से उस उद्देश्य को प्रतिध्वनित करते हैं, जिन्होंने शाक्यमुनि को सार्वभौमिक मुक्ति का यह अपना महान कार्य करने के लिए उद्वेलित कर दिया था, और हम यहाँ पहले की भाँति विनाशी ऊहापोह के एक कण को भी देखने में असमर्थ हैं, जो निर्वाण का लक्षण समझा जाता है। बुद्ध ने अपनी सबसे पहली धार्मिक देशना के दिन से ही उस प्रकाश को ढूँढना प्रारंभ कर दिया था जो सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करेगा एवं अविद्या के अन्धकार को दूर करेगा।

तब बुद्ध ने अपने पहले उद्देश्य का अनुसरण करते हुए कौन सी प्रज्ञा अन्तिम रूप से प्राप्त की? वह कौन सा सच था जिसको उन्होने बोधि वृक्ष के नीचे छः साल की तपस्या एवं गहन समाधि के बाद खोज निकाला था। जैसा कि सार्वभौमिक तौर पर अनुभव किया जाता है, यह चार आर्य सत्यों एवं बारह निदान वाले प्रतीत्यसमुत्पाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, जो हीनयानियों एवं महायानियों दोनों के द्वारा बुद्ध की असली शिक्षा के रूप में समझा जाता है।

जब उन्होंने इन सत्यों को ढूँढ निकाला था तब उनकी व्यक्तिगत स्थिति कौन सी थी। अपने सबसे अत्यधिक आन्तरिक व्यक्तित्त्व में अहंकारी विचारों एवं आवेगों पर विजय पाने के बाद उन्होंने कैसा अनुभव किया था? दक्षिणी परम्परा के अनुसार उनका प्रसिद्ध विजय मन्त्र ही इस अवसर पर उनकी उक्ति समझी जाती है। यह इस प्रकार है (धम्मपद, 153)

''(मैं) बिना रुके अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा। (इस कायरूपी) गृह को बनाने वाले (तृष्णा) खोजते बार-बार दुःख मय जन्म में पड़ता रहता है। हे गृह कारक (तृष्णा) मैंने तुझे देख लिया, (अब) फिर तू धर नहीं बना सकेगी। तेरी सभी कड़ियाँ मग्न हो गई, गृह शिखर गिर गया। चित्त संस्कार रहित हो

गया। अर्हत्त्व (निर्वाण) हो गया।[1]

इस विजय मन्त्र में ''गृहकारक'' का तात्पर्य अहंकार है जिसको हमारे मानसिक अनुभवों के पीछे एक सूक्ष्म सा अस्तित्त्व समझा जाता है। जैसा अन्यत्र संकेत किया गया था, बौद्धधर्म का नकारात्मक पक्ष इस अहंकार-आधार या शाश्वत पुनर्जन्म का उन्मूलन है। बुद्ध अब यह खोज लेते हैं कि आत्म-अहंकार एक मायाजाल है और इसका कोई अन्तिम अस्तित्त्व नहीं है; और इस अन्तर्दृष्टि के साथ उनकी आत्मकेन्द्रित इच्छाएँ, जिन्होंने उनको इतने समय तक परेशान किया था, शाश्वत रूप से मृत हो चुकी हैं; वे उनकी सीमाओं के टूटने का अनुभव करते हैं, वे शाश्वत अन्तरिक्ष में लीन हो जाते हैं, जिसमें हम सब जीवित रहते हैं एवं विचरण करते हैं और अपना अस्तित्त्व बनाए रखते हैं जहाँ कोई एक ऐसी छाया दृष्टिगोचर नहीं होती है जो परम शून्यता को कोई भी सुझाव दे सकती हो, जिसे निर्वाण की एक उपाधि समझा जाता है।

आगे बढ़ने से पहले हमे यह देखना चाहिए कि महायान परम्परा इस विषय में क्या कहती है। दूसरे विषयों के समान इस विषय में भी परम्परा में भेद है। बील के **'रोमाण्टिक हिस्ट्री ऑफ् बुद्ध'** नामक ग्रंथ के अनुसार, जो बुद्धचरित के चीनी संस्कार का अनुवाद[2] है, बुद्ध ने यह घोषणा की थी:

> ''भूतकाल के युगों में मैंने सतत पुण्य प्राप्त किया है,
> मेरे हृदय ने जिसकी कामना की, मैंने वह प्राप्त कर लिया है,
> कितनी जल्दी ही मैं हमेशा सतत रहने वाली स्थिति में पहुँच गया हूँ,
> और मैं निर्वाण के बिल्कुल किनारे पर पहुँच गया हूँ,
> संसार के दुःख एवं विरोध
> कामलोकों का अधिपति, मार, पिशुन
> वे मेरे लिए प्रभावी नहीं है, पूर्णतया वे विनष्ट हैं,
> धार्मिक पुण्य एवं प्रज्ञा की शान्ति से उन्हें फेंक दिया गया है।

---

1. ए. जे एडमण्ड के धम्मपद के अनुवाद से।
2. पृ. 225 । बील का अनुवाद हमेशा ही विश्वसनीय नहीं होता है, यदि मूल चीनी भाग मेरे पास होता तो मैं अपना अनुवाद करता।

अपने अटल संकल्प से एक व्यक्ति को दृढ़ रहना चाहिए
और प्रज्ञा की आकांक्षा करे, उसे प्राप्त करना कठिन नहीं होगा;
जब एक बार प्राप्त हो जाए तो सभी दुःखों की बिदाई
सभी पाप एवं अपराध हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं''[1]

बौद्धधर्म के महत्त्व पर इस भावना से विचार करते हुए यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने मानव आकांक्षाओं की पूर्ण समाप्ति के अर्थ में 'निर्वाण पर इतना बल नहीं दिया जितना उन्होंने इस दृष्टिकोण के अनुसार अहंकार के त्याग एवं अपने दैनन्दिन जीवन के व्यावहारिक नियंत्रण पर जोर दिया। निर्वाण जिसमें सभी श्रेष्ठ एवं घटिया आवेग ''एक दीपक के समान'' बुझते हुए समझे जाते हैं, बौद्ध

1. रोकहिल के तिब्बती स्त्रोतों से संग्रहीत ''**लाइफ ऑफ् दि बुद्ध**'' नामक ग्रंथ के अनुसार बुद्ध के **प्रज्ञा** प्राप्त करने के बाद की गाथाएँ उनकी पहली उक्तियाँ समझी जाती हैं। यह ग्रंथ उच्छेदवाद की एक झलक प्रस्तुत करता है, यद्यपि मेरा झुकाव यह सोचने के लिए है कि मूल तिब्बती अंश की एक भिन्न ही व्याख्या होगी जब इसकी परीक्षा रोकहिल के अतिरिक्त उस व्यक्ति से की जाएगी जो बौद्धधर्म की भावना से भली भाँति परिचित है। अपने द्वारा विवेचित सभी विषयों में वे अपना अपर्याप्त ज्ञान का प्रदर्शन करते हैं। गाथाओं का उनका अनुवाद निम्नलिखित है:

''संसारिक सुखों के सभी आनन्द
जो सभी देवताओं को विदित हैं,
समाप्त होने वाले अस्तित्त्व (जीवन) की
सोलहवीं कला के भी समान नहीं हैं।''
उदान में ऊपर उद्धत किए गए पद्य के
समानान्तर एक पद्य है परन्तु उदान समाप्त होने
वाले अस्तित्त्व के आनन्द की बात नहीं करता है
परन्तु ''तृष्णा के विनाश की बात करता है।

ललितविस्तर के अनुसार बुद्ध के विजय कथन की उक्ति है : (राजेन्द्र मित्र संस्करण, पृ. 448)

''छिन्नः वर्तमोपशान्तः रागः शुष्कः आस्रवा
न पुनः श्रवन्ति। छिन्ने वर्त्मनि वर्त्तते दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते।''

जीवन का अत्यधिक अभिलषित पदार्थ नहीं था। इसके विपरीत बौद्धधर्म अपने सभी अनुयायियों को अज्ञान एवं अहंकार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपनी संपूर्ण आध्यात्मिक ऊर्जा का बहुत ही कठोर परिश्रम से प्रयोग करने की सलाह देता है; क्योंकि वह ही एक मार्ग है जिसमें हम सांसारिकता के दंभ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं और शाश्वत जीवन का आनन्द ले सकते हैं। **विसुद्धिमग्ग** का निम्नलिखित पद व्यावहारिक ढंग से बौद्धधर्म की शिक्षा का सारांश प्रस्तुत करता है :

"देखो संसार कितना शून्य है,
मोघराज! विचारमग्नता में
आत्म में विश्वास को त्याग देना चाहिए
और मृत्यु के क्षेत्र से परे जाना चाहिए
यमराज को कभी भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा
जो संसार को इस प्रकार देखता है।"[1]

निर्वाण सकरात्मक है।

इस प्रश्न के ऐतिहासिक पक्ष का अन्वेषण करना मेरा यहाँ उद्देश्य नहीं है; हमारा इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि बुद्ध की नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा के व्यावहारिक प्रयोग के संदर्भ में बुद्ध के अनुयायियों ने निर्वाण के सकारात्मक पक्ष का कैसे धीरे-धीरे विकास किया;

'दुःखी वह है जिसका बोझ भारी है,
प्रसन्न वह है जिसने इसे फेंक दिया है,
जब उसने एक बार अपने बोझ को फेंक दिया है
वह उसे दोबारा ठोने की आकांक्षा नहीं करेगा।
"जब सारे अस्तित्त्व समाप्त हो जाते हैं,
जब सारे भाव समाप्त हो जाते हैं,
जब सारी चीजें पूर्णतया ज्ञात हो जाती हैं,
तब तृष्णा वापिस नहीं आएगी।"

---

1. वारेन का ग्रंथ 'अनुवादों में बौद्धधर्म," पृ. 376।

न ही हम विकास की प्रक्रिया को खोजने में लगे हैं जिसके माध्यम से उनके परवर्ती भक्तों द्वारा सभी चेतन प्राणियों को अज्ञान एवं दुःख से बचाने के बुद्ध के श्रेष्ठ संकल्प का संपादन बहुत ही विचित्र ढंग से किया गया था। जो मैं निर्वाण की सकारात्मक अवधारणा एवं इसके विकास के बारे में यहाँ कहना चाहता हूँ, वह यह है : भारत में महायान बौद्धधर्म की पहली धार्मिक शिक्षा थी जिसने निर्वाण के सिद्धान्त का विरोध किया, जैसा कि दूसरे हिन्दू विचारों द्वारा इसके विषय में कल्पना की गई थी, जिन्होंने इसमें जीवन के पूर्ण उच्छेद के दर्शन किए थे, क्योंकि वे सोचते थे कि जीवन ही बुराई है और बुराई ही दुःख है, और इस दुःख से बचने का उपाय जीवन की जड़ का विनाश करना है जो निर्वाण की अचेतनावस्था में मानव तृष्णाओं एवं गतिविधियों की पूर्ण समाप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योग ने समाधि में अपने आपको भूलने की शिक्षा दी, सांख्य ने प्रकृति से पुरुष को पूरी तरह पृथक् करने की शिक्षा दी, वेदान्त ने ब्रह्म में लीन होने की शिक्षा दी, जो सभी वैशिष्ट्यों का दमन है। इस प्रकार सभी ने मानव तृष्णाओं एवं आकांक्षाओं से मुक्ति को एक स्वर्गिक आनन्द समझा, अर्थात् निर्वाण। तात्त्विक ढंग से कहें तो प्रत्येक अपने-अपने मार्ग में सही रहा होगा, परन्तु नैतिक दृष्टि से विचार करने पर उनके विचारों का हमारे व्यावहारिक जीवन में बहुत ही कम महत्त्व था और नैतिक समस्याओं के संबंध में इसने एक दुःखद अपूर्णता का प्रदर्शन किया।

उनके सिद्धान्तों के इस दोष के बारे में बुद्ध भली भाँति जागरूक थे। अतः उन्होंने यह शिक्षा दी कि जीवन का पूर्ण विराम निर्वाण नहीं है, परन्तु अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास निर्वाण है। यह नैतिक व्यवहार निर्वाण के विशुद्ध आनन्द की ओर ले जाता है, मानव आकांक्षओं की प्रशान्ति के रूप में नहीं, अपितु मानव जीवन की पूर्ति या प्रकटीकरण के रूप में उच्छेद के अर्थ में निर्वाण शब्द का प्रयोग बुद्ध से पहले भी अस्तित्त्व में था, परन्तु उन्होंने इस शब्द को एक नया महत्त्व प्रदान किया और इसे नैतिक आचरण वाले लोगों की प्राप्ति के योग्य बनाया। निर्वाण के सभी सैद्धान्तिक पक्ष बाद में जोड़े गए बल्कि बौद्ध विद्वानों द्वारा इसका विकास किया जिनके अनुसार उनके तर्क कुछ धार्मिक संदर्भो पर ठोस रूप से आधारित थे। कोई भी विषय हो सकता है, मेरा दृढ़ निश्चय है कि जिन्होंने निर्वाण के सकारात्मक महत्त्व का विकास किया था, वे इसके संस्थापक

की भावना से ज्यादा संगत थे, अपेक्षाकृत उनके जिन्होंने इसके दूसरे पक्ष पर बल दिया था। उदान में हम पढ़ते हैं (4, 9)

''वह जिसे जीवन दुःखी नहीं करता है,

मृत्यु के आने पर जो दुःखी नहीं होता है,

यदि ऐसा व्यक्ति दृढ़ निश्चय है और उसने निर्वाण का दर्शन किया है,

दुःखों के बीच वह दुःख विहीन है,

शान्त भिक्षु जिसने अस्तित्त्व की तृष्णा का उन्मूलन कर दिया है, उसने जन्मों की श्रृंखला को समाप्त कर दिया है,

वह और अधिक जन्म नहीं लेता है।''[1]

महायानी अवधारणा के अनुसार निर्वाण संसार का उच्छेद एवं जीवन का अन्त नहीं है; परन्तु जन्म एवं मृत्यु के चक्र में जीवित रहना एवं फिर भी इसके ऊपर रहना है। यह स्वीकारोक्ति एवं पूर्ति है, और यह अन्धे ढंग से एवं अहंकार पूर्ण ढंग से नहीं किया जाता है, क्योंकि निर्वाण प्रज्ञा है। आओ देखें यह कैसे होता है।

निर्वाण की महायानी अवधारणा

जहाँ तक हीनयान का संबंध है, निर्वाण की अवधारणा अनिश्चित एवं भ्रान्तिपूर्ण रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है। महायान बौद्ध लोगों ने निर्वाण में अनेक निश्चित अर्थभेद जोड़ दिए थे और इनमें से प्रत्येक को कुछ विशिष्ट एवं स्पष्ट चिह्न देने का प्रयत्न किया था। जब इसका प्रयोग इसके अत्यधिक व्यापक तात्त्विक अर्थ में किया जाता है, तब यह तथता या धर्मकाय का पर्याय बन जाता है। जब हम बुद्ध के निर्वाण में प्रवेश करने की बात करते हैं, इसका तात्पर्य भौतिक जीवन का अन्त होता है, अर्थात् मृत्यु। जब इसका प्रयोग जन्म एवं मृत्यु (संसार) या आवेग एवं क्लेश के विरोध में किया जाता है, तब संसार के संदर्भ में यह एक शाश्वत जीवन या अमृतत्त्व की स्थिति को सूचित करता है, और आवेग या अमृतत्त्व की स्थिति को सूचित करता है, और आवेग एवं क्लेश के संदर्भ में चेतना की एक ऐसी स्थिति को सूचित करता है, जो व्यक्तिगत जीवनों में धर्मकाय की उपस्थिति की पहचान से आती है। इस प्रकार निर्वाण एक बहुत

1. जनरल डी. एम स्ट्रोंग का अनुवाद, पृ. 64।

ही व्यापक शब्द बन गया है और इस तथ्य ने भ्रान्ति एवं गलतफहमी को और बढ़ा लिया है तथा जब से यह शब्द पश्चिमी जगत को विदित हुआ है, तब से ही इसके साथ भ्रान्ति एवं गलतफहमी से व्यवहार किया गया है। **निर्वाण** को दिए गए इन सभी अर्थों से तथाकथित "आदिम **बौद्धधर्म**" बिल्कुल अपरिचित नहीं है, यद्यपि कुछ संदर्भों में उनका पहले से ही पूर्वाभास किया जा चूका है परन्तु बहुत ही हल्के ढंग से पूर्वाभास किया गया है। अधिकांश यूरोपीय मिशनरी एवं विद्वान लोगों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है और **निर्वाण** शब्द में एक निश्चित एवं घिसा-पिटा अर्थ देखना चाहा था, जो इसके प्रयोग से संबंधित सभी गाँठों को या तो ढीला कर देगा या उन सभी को जोड़ देगा। एक विद्वान एक सूत्र से कोई संदर्भ चुन लेता है, जहाँ पर अर्थ संतोषजनक ढंग से स्पष्ट होता है, और इसको कुञ्जी मानकर वह बाकी सब का समाधान करने का प्रयास करता है; जब कि दूसरा विद्वान भी शास्त्रों के किसी दूसरे प्रसंग में भी वही करेगा और दूसरे सह-कर्मियों का खण्डन करेगा। फिर इनमें से अधिकांश ने अपने मिशनरी उद्देश्य के लिए एक अर्थ को दूसरों की अपेक्षा प्रमुख रूप से लाभप्रद पाया है कि उसे **निर्वाण** का संभव अर्थ समझा जा सकता है। यह एक ऐसा अर्थ है जिसने इसको विशेष रूप से विचित्र बना दिया है, वह है इसकी नकारात्मक व्याख्या।

विज्ञानमात्र शास्त्र (चीनी संस्करण, वा. X) के अनुसार महायानी बौद्ध लोग **निर्वाण** के स्वरूपों में चार भेद करते हैं। वे हैं:

(1) **परम निर्वाण धर्मकाय** के एक पर्याय के रूप में। यह अपने सार में शाश्वत रूप से निर्मल है और सभी अस्तित्त्वों (जीवनों) का सत्य एवं यथार्थ है। यद्यपि यह अपने आपको दोषों एवं सापेक्षता के संसार में अभिव्यक्त करता है, इसका सार सदैव ही निर्दोष रहता है। जब यह अपने आप में असंख्य अबोधगम्य आध्यात्मिक गुणों को आत्मसात् करता है, यह बिल्कुल सादा एवं अमर्त्य होता है; इसकी पूर्ण शान्ति की तुलना आकाश से की जा सकती है जिसमें सभी प्रकार की कल्पनीय गति संभव है, परन्तु जो अपने आप में वही बनी रहती है। यह सभी प्राणियों में सार्वभौमिक रूप से विद्यमान रहता है, चाहे वह जड़ या चेतन हो[1] एवं उनके अस्तित्व को वास्तविक बनाता है। एक दृष्टि

1. ग्रंथ स्पष्ट रूप से "जड़ या चेतन" की बात नहीं करता है, परन्तु महायान की सामान्य भावना के अनुसार यह लेखक की अपनी व्याख्या है।

से इसका उनसे त्तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है, अर्थात् इस पर सर्वेश्वरवादात्मक ढंग से विचार किया जा सकता है; परन्तु दूसरी दृष्टि से यह पारमार्थिक है, क्योंकि प्रत्येक चीज जो ऐसी है, वह निर्वाण नहीं है। फिर, यह आध्यात्मिक महत्त्व सामान्य मानव बुद्धि की पहुँच से परे है और यह केवल बुद्ध के सर्वोच्च ज्ञान से ही ग्रहण किया जा सकता है।

(2) **उपधिशेषनिर्वाण** या निर्वाण जिसमें कुछ शेष रह जाता है। यह प्रज्ञा की स्थिति है जो बौद्धों द्वारा उनके जीवन समय में प्राप्त किया जा सकता है। **धर्मकाय**, जो अब तक उनमें शान्त था, अब जाग्रत हो जाता है एवं ''प्रभावी बाधाओं''[1] से मुक्त हो जाता है, परन्तु वे अभी भी जन्म एवं मृत्यु के बन्धन के अन्तर्गत होते हैं, और इस प्रकार वे अभी भी जीवन की पीड़ा से पूर्णतया मुक्त नहीं हुए हैं; उनमें अभी भी कुछ बचा है, जो उनको दुःख पहुँचा रहा है।

(3) **अनुपधिशेषनिर्वाण** या निर्वाण जिसमें कुछ भी शेष नहीं रहता है। यह तब प्राप्त होता है जब तथागत-सार जन्म एवं मृत्यु तथा आवेग एवं पाप की पीड़ा से मुक्त हो जाता है। **निर्वाण** का यह स्वरूप वह लगता है जो पश्चिमी-जगत के मिशनरी विद्वानों द्वारा बौद्धों के निर्वाण के रूप में सामान्यतया समझा जाता है। जब कि अपने जीवन समय में वे आत्म की अहंकारवादी अवधारणा से मुक्त हो चुके होते हैं, उन्होंने **अष्टांगिक** मार्ग का अभ्यास कर लिया होता है, उन्होंने कर्म की सभी जड़ों का विनाश कर दिया है जो संसार में उनके पुनर्जन्म को संभव बनाता है, यद्यपि उनके पूर्व जन्म के अवश्यंभावी परिणाम के स्वरूप उन्हें अभी भी भौतिक अस्तित्त्व (जीवन) में अन्तर्निहित सभी बुराइयों से दुःखी होना पड़ता है। परन्तु अन्त में उनकी यह मर्त्य कुण्डली भी समाप्त हो जाती है और वे अपने मूल परम तत्त्व में वापिस पहुँच गए है जिससे अज्ञान के कारण

1. अन्तिम मुक्ति की दो बाधाएँ होती हैं: (1) प्रभावी और (2) बौद्धिक। पहला हमारा प्रज्ञाविहीन प्रभावी या संवेदनात्मक या व्यक्तिनिष्ठ जीवन है और दूसरा हमारा बौद्धिक पूर्वाग्रह। बौद्धों को अपने हृदय में न केवल शुद्ध होना चाहिए परन्तु बुद्धि में उन्हें पूर्ण होना चाहिए। निःसन्देह पवित्र लोग पुनर्जन्म से बच जाते हैं, परन्तु पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए उनके पास जीवन के महत्त्व के विषय में तथा अस्तित्त्व एवं ब्रह्माण्ड की नियति के विषय में एक स्पष्ट, पैनी बौद्धिक अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। धर्म के विषय में बुद्धिसंगत तत्त्व पर बल देना बौद्धधर्म के अत्यधिक गहन लक्षण बिन्दुओं में से एक है।

जन्म एवं मृत्यु की श्रृंखला से बाहर आ गए हैं और इसमें से निकल चुके हैं, परम (तत्त्व) के क्षेत्र में अलौकिक आनन्द की यह स्थिति ही **अनुपधिशेषनिर्वाण** है, अर्थात् एक ऐसा **निर्वाण** जिसमें कुछ भी शेष नहीं रहता है।

(4) निर्वाण जिसका कोई स्थान नहीं है। इसमें बुद्ध-सार न केवल आवेग एवं क्लेश के शाप से मुक्त हो जाता है, अपितु, बौद्धिक पूर्वाग्रह से भी मुक्त हो जाता है, जो अत्यधिक दृढ़ता से मन से चिपका रहता है। यहाँ पर बुद्ध-सार या **धर्मकाय** अपनी पूर्ण विशुद्धि में उद्घाटित होता है। सबको आलिंगन करने वाली करुणा एवं सर्वज्ञ बुद्धि इस मार्ग को प्रकाशित करते हैं। वह जो इस व्यक्तिनिष्ठ **प्रज्ञा** की स्थिति को प्राप्त कर चुका है, उसका कोई स्थान नहीं बतलाया गया है, उसका कोई रहने का स्थान नहीं होता है, अर्थात् वह संसार के पुनर्जन्म के और अधिक अधीन नहीं होता है, न ही वह पूर्ण विश्राम के रूप में निर्वाण के चिपकता है, संक्षेप में, संसार एवं **निर्वाण** के ऊपर उठ जाता है। उसका मात्र एक उद्देश्य सभी चेतन प्राणियों को अन्त तक लाभान्वित करना है; परन्तु वह इसे अपने मानव चेतना अध्यवसाय एवं संघर्ष से नहीं करने का विचार रखता है। केवल अपने सबको आलिंगन करने वाली करुणा के यथार्थ होने पर ही, जो **धर्मकाय** से संबंधित है, वह अपने साथियों को पीड़ा से मुक्त करना चाहता है; जीवन के संघर्ष से वह अपनी मुक्ति की आकांक्षा नहीं करता है। वह सांसारिक हितों की अनित्यता से पूरी तरह अवगत है, परन्तु इसके कारण वह उनसे परहेज नहीं करता है। अपनी सर्वज्ञ बुद्धि के माध्यम से वह चीजों के अन्तिम स्वभाव एवं अस्तित्त्व (जीवन) के अन्तिम मार्ग में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेता है। वह उन धार्मिक व्यक्तियों में से एक है, "जो रोते हैं, जैसे मानो वे रोए ही नहीं हों, जो आनन्द लेते हैं, जैसे मानो उन्होंने आनन्द लिया ही नहीं, वे खरीदते हैं, जैसे मानो उनके पास कुछ था ही नहीं, वे इस संसार का प्रयोग करते हैं, जैसे मानों उन्होंने इसका दुरपयोग नहीं किया, क्योंकि इस संसार का रिवाज ऐसे ही बीत जाता है।" नहीं, एक अर्थ में वह इससे भी अधिक है; उसका जीवन सकरात्मक गतिविधि से परिपूर्ण है, क्योंकि उसका हृदय एवं आत्मा सभी प्राणियों को अन्तिम मुक्ति एवं परम आनन्द की ओर अग्रसर करने के लिए समर्पित है। जब एक व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह उस निर्वाण में स्थित कहा जाता है, जिसका कोई (निवास) स्थान नहीं है।

विज्ञानमात्रशास्त्र का एक टीककार यह बात कहता है कि चार प्रकार के निर्वाणों में से पहला निर्वाण प्रत्येक चेतन प्राणी के पास होता है; चाहे उसका अपनी मानव पूर्णता में वास्तवीकरण होता है या शरीर में शान्त पड़ा रहता है और अज्ञान से बुरी तरह धूमिल होता रहता है; दूसरा एवं तीसरा सभी **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** द्वारा प्राप्त किया जाता है, जब कि ये केवल बुद्ध ही हैं जिनमें निर्वाण के चारों स्वरूप विद्यमान रहते हैं।

धर्मकाय के रूप में निर्वाण

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि महायान बौद्धधर्म में निर्वाण ने अनेक अर्थभेद ग्रहण कर लिए हैं— मानसिक एवं सत्तामीमांसीय, फिर, यह भ्रान्ति महायान बौद्धधर्म की विशुद्ध आदर्शवादी प्रवृत्ति के कारण है, जो सामान्यतया सत् एवं विचार, पदार्थ एवं कर्ता, दृष्ट एवं दर्शन में किए जाने वाले भेद की उपेक्षा करता है। निर्वाण केवल प्रज्ञा की एक व्यक्तिनिष्ठ स्थिति नहीं है अपितु यह एक वस्तुनिष्ठ शक्ति है जिसके संचालन से यह आनन्दप्रद स्थिति प्राप्य बनती है। इसका अर्थ केवल परम (तत्त्व) पूर्ण रूप से विलीन होना या जीवन में पार्थिव इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त करना नहीं है, जैसा कि **अर्हत** के जीवन में उदाहृत किया गया है। महायानी लोग निर्वाण में केवल यह ही नहीं देखते हैं परन्तु **धर्मकाय** या **तथता** के साथ इसके तादात्म्य को भी देखते हैं, और सभी चेतन प्राणियों में इसकी सार्वभौमिक आध्यात्मिक उपस्थिति का दर्शन करते हैं।

जब **नागार्जुन** अपने माध्यमिक शास्त्र[1] में यह कहते हैं कि: "वह निर्वाण कहलाता है जो अप्रहीण है, जो प्राप्त नहीं है, जो उच्छिन्न नहीं है, जो अशाश्वत है, जो अनिरुद्ध है, जो अनुत्पन्न है; "वे स्पष्ट रूप से निर्वाण को **धर्मकाय** का एक पर्याय बतलाते हैं, अर्थात्, अपने, पहले अर्थ में जैसा ऊपर बतलाया गया है। अतः **चन्द्रकीर्ति** सही ढंग से टिप्पणी करते हैं कि **निर्वाण सर्व-कल्पना-क्षय-रूपम्**।[2] है अर्थात् जो संकल्प के सभी स्वरूपों को अतिक्रान्त

---

1. यह महायन बौद्धधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ है। यह ग्रंथ मूल संस्कृत में चन्द्रकीर्ति की टीका के साथ सतीश चन्द्र आचार्य द्वारा संपादित किया गया है और **बुद्धिस्ट टैक्स्ट सोसाइटि ऑफ् इण्डिया** द्वारा प्रकाशित किया गया है। मूल पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:
   अप्रहीणमसम्प्राप्तम् अनुच्छिनमशाश्वतम्।
   अनिरुद्धमनुत्पन्नम् एवं निर्वाणमुच्यते।।
2. शाब्दिक रूप में जो सभी प्रकार के लक्षणों की अनुपस्थिति से विलक्षण है।

करता है। निर्वाण परम है, यह भाव एवं अभाव को सापेक्षता से ऊपर है।[1]

निर्वाण को कभी चार लक्षणों वाला बलताया गया है: (1) नित्य, (2) सुख, (3) आत्म और (4) शुचि। **निर्वाण** को दिए गए इन लक्षणों को इसके आवश्यक आयामों पर विचार करते हुए **निर्वाण** का यहाँ पर दोबारा बौद्धधर्म के सर्वोच्च यथार्थ के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है, अर्थात् **धर्मकाय** के साथ। यह शाश्वत है क्योंकि यह अभौतिक है, यह सुख है क्योंकि यह सभी दुःखों से ऊपर है; यह आत्म-कर्ता है क्योंकि इसमें कोई बाध्यता नहीं है, यह शुद्ध है क्योंकि सह आवेग एवं भ्रान्ति से दूषित नहीं है।[2]

---

1. तुलना करे **माध्यमिक शास्त्र** से निम्नलिखित:

   ''भवेदभावो भावश्च, निर्वाणमुभयं कथम्।

   असंस्कृतं च निर्वाणं भावाभावो च संस्कृतो।।

   या तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते।

2. **विसुद्धिमग्ग** (वारेन का अनुवाद, पृ. 376) में हम पढ़ते हैं कि एक प्राणी के घटकों के तीन प्रमुख गुणों के विचार से मुक्ति के तीन प्रारंभिक बिन्दु हैं : 1. उनके प्रारंभ एवं अन्त का विचार भावों को निरुपाधिक की ओर अग्रसर करता है; 2. उनकी पीड़ा की एक अन्तर्दृष्टि मन को झकझोरती है एवं विचारों को तृष्णाविहीनता की ओर अग्रसर करती हैं; (3) प्राणी के घटकों में अहंकार का न होने का विचार भावों को शून्य की ओर अग्रसर करता है। हमें बतलाया गया है कि ये तीन, **निर्वाण** के तीन पक्षों का निरुपाधिक, तृष्णाविहीन एवं शून्य के रूप में निर्माण करते हैं। हमारे पास यहाँ ''आदिम'' तथाकथित दक्षिणी बौद्धधर्म का एक उदाहरण है जो **निर्वाण** पर महायान की दृष्टि से विचार करता है जिसकी मैंने यहाँ विस्तार से व्याख्या की है।

   प्रसंगवश हम यह टिप्पणी करते हैं कि बुद्ध के पास उनकी पूरी व्यवस्था को बतलाने वाला कोई दस्तावेज नहीं था, उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद अपने स्वामी के विचारों की विविध प्रकार से व्याख्या करने वाले अनेक संप्रदाय पैदा हो गए और इनमें से प्रत्येक वैध होने का दावा करता था। इस तथ्य की दृष्टि से यह निष्कर्ष निकालना अतार्किक है कि दक्षिणी बौद्ध धर्म, मूल बौद्धधर्म का सर्वश्रेष्ठ वैध प्रतिनिधि है, जब कि पूर्वी या उत्तरी बौद्धधर्म मात्र एक विकार है।

चौथे अर्थ में निर्वाण

निर्वाण के पहले अर्थ की और अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता नही है, क्योंकि **धर्मकाय** की प्रकृति की व्याख्या करते समय हमने पहले ही इसकी व्याख्या कर दी है। न ही हमें इसको दूसरी एवं तीसरी स्थितियों पर विचार करने की आवश्यकता है। पश्चिमी-मिशनरी विद्वानों एवं प्राच्यशिक्षाविदों ने फिर, एकांगी एवं प्रायः पूर्वाग्रही होते हुए इन बिन्दुओं का पालि स्त्रोतों से लगभग सर्वांगीण ढंग से अन्वेषण कर लिया है। अब हमारे लिए **निर्वाण** की महायानी अवधारणा का विश्लेषण करना बचा है, जिसको ऊपर इसका चौथा अर्थ बतलाया गया था।

संक्षेप में इस जीवन में सबको आलिंगन करने वाली करुणा एवं **धर्मकाय** की सर्वज्ञ बुद्धि की अनुभूति ही **निर्वाण** है। यह अस्तित्त्व (जीवन) के कारण का प्रकट होना है, जो एक साधारण मानव के जीवन में कमोबेश अज्ञान एवं अहंकार की छाया से ग्रसित रहता है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नैतिक नियमों के आचरण में यह विद्यमान नहीं है, न ही **अष्टांगिक मार्ग** के अन्धानुकरण में है, न ही संसार से निवृत्ति एवं सूक्ष्म समाधि में विलीन होने में विद्यमान है। महायानी **निर्वाण** ऊर्जा एवं गतिविधि से परिपूर्ण है जो **धर्मकाय** के सबको आलिंगन करने वाली करुणा से उत्पन्न होता है। इसमें कोई निष्क्रियता नहीं है, न ही यह सांसारिकता के कोलाहल से अपने आपको पृथक् रखता है। वह जो इस **नर्वाण** में विद्यमान है, मानव आकांक्षाओं के उच्छेद में विश्राम की कामना नहीं करता है। अन्तहीन पुनर्जन्मों के सामने से मुँह नहीं मोड़ता है। इसके विपरीत वह संसार की हमेशा बहने वाली लहरों में अपने आपको डुबो देता है और इसमें शाश्वत रूप से डूबने वाले अपने साथियों को बचाने के लिए अपनी आहूति दे देता है।

यद्यपि इस प्रकार महायानी **निर्वाण** केवल आवेगों एवं भ्रान्तियों के कीचड़ में ही अनुभव किया जाता है, यह कभी भी अज्ञान की गन्दगी से दूषित नहीं होता है। अतः वह, जो **निर्वाण** में स्थित है, अहंकार के चक्रवात एवं पाप के अन्धकार में रहता हुआ भी, सर्व-दर्शन करने वाली अपनी अन्तर्दृष्टि को खोता नहीं है, जो सत् की अन्तिम प्रकृति (स्वभाव) में गहरे प्रविष्ट होती है। वह पदार्थो की अनित्यता से अवगत है। वह यह जानता है कि **धर्मकाय** की शाश्वत अभिव्यक्ति में जीवन मात्र एक गुजरने वाला क्षण है, जिसके कार्य को अनन्त

आकाश एवं अनन्त समय में ही अनुभव किया जा सकता है। क्योंकि वह इस ज्ञान के प्रति पूर्णतया जाग्रत है, वह पाप के संसार में कभी भी निमग्न नहीं होता है। वह संसार में पद्म-पुष्प के समान रहता है, जो निर्मलता का प्रतीक है, जो कीचड़ में वृद्धि को प्राप्त होता है और इसके दोषों में सहभागी नहीं होता है। वह आकाश में उड़ने वाले एक पक्षी के समान है जो अपने पीछे कोई चिह्न नहीं छोड़ता है। फिर उसकी तुलना बादलों से की जा सकती है जो सहज रूप में पर्वत शिखरों पर एकत्रित होते रहते हैं, और पवन के बहने के साथ-साथ आकाश में ऊँचें उड़ते हैं, उस क्षेत्र में खो जाते हैं जिसे कोई भी नहीं जानता है। संक्षेप में, वह संसार में रह रहा है, और फिर भी संसार एवं निर्वाण के क्षेत्र में परे है।

हम **विमलकीर्तिसूत्र** (अध्याय) में पढ़ते हैं :

''**विमलकीर्ति मञ्जुश्री** से पूछते हैं : ''यह कैसे है कि आप घोषणा करते हैं कि सभी (मानव) आवेग एवं भ्रान्तियाँ बुद्धत्व के बीज हैं?

''**मञ्जुश्री** उत्तर देते हैं: हे कुलपुत्र! जो लोग असंस्कृत (धर्म) के दृष्टिकोण से चिपके रहते हैं और शाश्वत उच्छेद की स्थिति में रहते हैं, उनमें **अनुत्तर संबोधि** जाग्रत नहीं होती है। केवल वे **बोधिसत्त्व**, जो आवेगों एवं भ्रान्तियों में रहते हैं, और जो (दस) भूमियों में से गुजरते हैं, वस्तुओं के अन्तिम स्वभाव पर उचित ढंग से चिन्तन करते हैं, वे **प्रज्ञा** को जाग्रत करने और उसे प्राप्त करने में समर्थ होते.हैं।

''जैसे पद्म-पुष्प बंजर भूमि में पैदा नहीं होता हैं, परन्तु गहरे रंग वाली पानी की कीचड़ में पैदा होते हैं, हे कुलपुत्र! **प्रज्ञा** या **बोधि** के बारे में भी ऐसा ही। असंस्कृत एवं शाश्वत उच्छेद में, जो **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** द्वारा सँजोए जाते हैं, बुद्धत्त्व के बीजों एवं अंकुरों के बढ़ने का कोई अवसर नहीं है। प्रज्ञा केवल कीचड़, आवेग एवं पाप की गन्दगी में पैदा हो सकती है। केवल आवेग एवं पाप का कारण ही है कि बुद्धत्त्व के बीच एवं अंकुर पैदा होने में समर्थ बनते हैं।

''हे कुलपुत्र! जैसे कोई भी बीज हवा में नहीं पैदा हो सकती है, परन्तु वे गन्दगी एवं कीचड़ वाली भूमि में ही पैदा होते हैं, और वहाँ पर भी बहुत ही

जोरदार ढंग से, –हे कुलपुत्र! (बोधि) के बारे में भी ऐसा ही है। यह असंस्कृत एवं शाश्वत उच्छेद में पैदा नहीं होती है। यह केवल अहंकारी एवं स्वार्थी विचारों वाली विशाल जनता में ही है कि बोधि जाग्रत होती है एवं बुद्ध–बीजों की अबोधगम्य प्रज्ञा में बुद्धि को प्राप्त होती है।

''हे कुलपुत्र! जैसे हम मूल्यहीन मणियों को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते हैं, जब तक हम चार महान समुद्रों में गहरे गोते न लगा लें, हे कुलपुत्र! (बोधि) के बारे में भी ऐसा ही है। यदि हम आवेग एवं पाप के शक्तिशाली समुद्र में गहरे गोते न लगा लें, हम बुद्धसार की कीमती मणि को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसलिए यह समझ लिया जाना चाहिए कि प्रज्ञा के आदिम बीज आवेग एवं पाप के बीच से ही अपनी प्राणवत्ता ग्रहण करते हैं।'' एक धर्मपत्र में हम पढ़ते हैं, ''भूमि की दुर्गन्ध से नए जीवन का सौन्दर्य वृद्धि को प्राप्त होता है।'' और एमरसन गीत गाता है :

''में जहाँ भी चला जाऊँ,

मैं आकाश का शान्त संगीत सुनता हूँ।

यह केवल ऊँचे तारों में ही नहीं है,

न ही यह खिलने वालों पुष्पों के प्याले में है

न ही लाल वक्षस्थल वाले पक्षी की रसीली धुन में है

न ही फुआरों में मुस्काने वाले इन्द्रधनुष में है।

परन्तु यह कीचड़ एवं चीजों के कचरे में है।

केवल हमेशा, हमेशा ही कुछ चीज गाती है।''

क्या हम यहाँ महायानी संवेदना का एक बहुत ही स्पष्ट कथन नहीं देखते हैं?

निर्वाण तथा संसार एक ही हैं

निर्वाण की महायानी अवधारणा का सबसे अधिक उल्लेखनीय लक्षण इस फार्मूले में अभिव्यक्त किया गया है : ''यः क्लेशः यो बोधि, यः संसारः, तत् निर्वाणम्।'' जो पाप या आवेग है, वह बोधि है, जो जन्म एवं मृत्यु (पुनर्जन्म) है, वह ही निर्वाण है। यह बौद्धधर्म के रुढ़िवादी इतिहास में एक बहुत ही साहसी

एवं क्रान्तिकारी स्थापना है। परन्तु यह उस भावना के स्वाभाविक विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिससे इसके संस्थापक (बुद्ध) अनुप्राणित होते थे।

विशेषचिन्तब्रह्म परिपृच्छा सूत्र[1] में यह कहा गया है कि (अध्याय II);

'संसार निर्वाण है, क्योंकि जब इस पर धर्मकाय की अन्तिम प्रकृति (स्वभाव) की दृष्टि से विचार किया जाए, तो न कोई बाहर जाना है न ही अन्दर आना है, अस्तित्त्व (संसार ही केवल प्रत्यक्ष है): निर्वाण संसार है, जब इसकी लालसा होती है, और जब इसका अनुसरण किया जाए।''

एक दूसरे स्थान पर वही विचार और ज्यादा सादे शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :''सभी पदार्थों का सार सच्चे ढंग से आसक्ति, लक्षणों एवं इच्छाओं से मुक्त है; अतः वे शुद्ध हैं, और क्योंकि वे शुद्ध हैं, हम जानते हैं कि जो जन्म एवं मृत्यु का सार है, निर्वाण का भी वही सार है, और जो निर्वाण का सार है, जन्म एवं मृत्यु (संसार) का भी वही सार है। दूसरे शब्दों में, निर्वाण को इस संसार से बाहर नहीं खोजा जाना चाहिए, जो यद्यपि अनित्य होते हुए भी वास्तव में स्वयं निर्वाण से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। क्योंकि यह कल्पना करना हमारे तर्क के विरुद्ध है कि निर्वाण है, और जन्म एवं मृत्यु (संसार) भी है, और एक दूसरे के घेरे के बाहर विद्यमान है, अतः जब हमने जन्म एवं मृत्यु के संसार का उच्छेद कर दिया है या हम इससे बच जाते हैं, केवल इसके बाद ही हम निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम अपनी भ्रान्तिपूर्ण व्यक्तिनिष्ठता से बाधित नहीं होते हैं, हमारी यह सांसारिक जीवन स्वयं निर्वाण की गतिविधि हो जाता है।''

नागार्जुन अपने माध्यमिक शास्त्र में वही भावना दोहराते हैं जब वे कहते हैं :

''संसार किसी भी दृष्टि से निर्वाण से भिन्न नहीं है:,
निर्वाण किसी भी दृष्टि से संसार से भिन्न नहीं है।[2]

---

1. इस महायानी ग्रंथ के 265 एवं 517 ए. डी. के बीच **धर्मरक्ष**, **कुमारजीव** एवं **बोधिरूचि** के तीन अनुवाद हुए हैं।

2. न संसारस्य निर्वाणात् किञ्चदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात् किञ्चिदस्ति विशेषणम्।।

या

"निर्वाण का क्षेत्र संसार का क्षेत्र है:

उनमें किसी भी प्रकार का कोई भेद विद्यमान नहीं है।"[1]

असंग इससे भी एक कदम आगे जाते हैं और साहसिक ढंग से घोषणा करते हैं कि सभी **बुद्ध-धर्म**, जिनका निर्वाण या **धर्मकाय** आधार है, आवेगों, भ्रान्तियों, एवं भद्दे दिमागों से लक्षित होते हैं। वे **महायान-संग्रह-शास्त्र** में (चीनी त्रिपिटक, 1881 का जापानी संस्करण, वांग, पृ. 84) कहते हैं:

(1) सभी **बुद्ध-धर्म** शाश्वतता से लक्षित होते हैं, क्योंकि **धर्मकाय** शाश्वत है।

(2) सभी **बुद्ध-धर्म** एक उन्मूलन शक्ति से युक्त होते हैं, क्योंकि ये अन्तिम मुक्ति को सभी बाधाओं का उन्मूलन करते हैं।

(3) सभी **बुद्ध-धर्म** पुनरुत्पादन से लक्षित होते हैं, क्योकि **निर्माणकाय** सतत पुनरुत्पादन करता है।

(4) सभी **बुद्धधर्म** प्राप्ति की शक्ति से लक्षित होते हैं; क्योंकि सत्य की प्राप्ति से वे अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा सँजोए गए असंख्य बुरे आवेगों को वशीभूत करते हैं।

(5) सभी **बुद्ध धर्म** लाभ की इच्छा, गन्दे मजाक, मूर्खता एवं भद्दे दिमागों के आवेगों से लक्षित होते हैं क्योंकि यह बुद्ध के प्रेम के कारण ही है कि वंचित आत्माओं को बचाया जाता है।

(6) सभी **बुद्ध धर्म** अनासक्ति एवं निर्दोषों से लक्षित होते हैं क्योंकि **तथता**, जो इन सद्गुणों से पूर्ण की जाती है, किन्हीं भी बुरी शक्तियों से दूषित नहीं की जा सकती है।

(7) सभी **बुद्ध-धर्म** आसक्ति एवं दोषों से परे होते हैं, क्योंकि, यद्यपि सभी बुद्ध अपने आपको संसार में अभिव्यक्त करते हैं, सांसारिकता उनको दूषित नहीं कर सकती है।"[2]

1. निर्वाणस्य च या कोटि संसरणस्य च।
   न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।।
2. अभी पहले कहे गए कथन से अर्थ की समानता के बारे में एक टीकाकार कहते हैं, कि छठा **तथता** (या **धर्मकाय**) का निश्चल दृष्टिकोण है और सातवाँ इसका क्रियाशील दृष्टिकोण है। एक यह व्याख्या करता है कि **बौद्धधर्म** का सर्वोच्च यथार्थ क्या है एवं दूसरा यह बतलाता है कि यह क्या करता है।

बुद्धधर्म का तात्पर्य है कोई चीज या कोई सदगुण या कोई विशेषता जिसका बुद्धत्व से संबंध है। अनासक्ति **बुद्ध** धर्म है, करुणा एक बुद्ध धर्म है, प्रज्ञा एक बुद्ध धर्म है और वास्तव में कोई भी चीज **बुद्धधर्म** है, जो संपूर्ण एक का एक लक्षण है, **धर्मकाय** या **निर्वाण** का कहना ही नहीं है, जो बुद्धत्त्व का सार है। अतः ऊपर उद्धृत की गई असंग की इन सात स्थापनाओं से जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह यह है; न केवल सतत रूपान्तरण का यह संसार समग्ररूप में **निर्वाण** नहीं है, परन्तु इसकी स्पष्ट भ्रान्तियाँ, पाप एवं बुराइयाँ भी **निर्वाण** की अभिव्यक्ति की विभिन्न दशाएँ है।

निर्वाण के ऊपर बतलाए गए महायानी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि **निर्वाण** पारमार्थिक जैसी कोई चीज नहीं है, या जो जन्म एवं मृत्यु, सुख एवं दुःख, प्रेम एवं घृणा, शक्ति एवं संघर्ष के इस संसार के ऊपर स्थित है। **निर्वाण** को स्वर्ग में नहीं खोजा जा सकता है, न ही इसे इस सांसारिक जीवन से बिदाई के पश्चात्, न ही मानव आवेगों एवं आकांक्षाओं के उच्छेद में खोजा जा सकता है। इसके विपरीत इसे सांसारिकता के बीच में खोजना जाना चाहिए, क्योंकि सुख एवं दुःख वाले रोमाञ्च युक्त जीवन के अतिरिक्त **निर्वाण** स्वयं कुछ भी नहीं है। अपने जीवन का उपशमन करो और आश्रय में **निर्वाण** खोजो, और आपका **निर्वाण** हमेशा के लिए खो गया है। अपनी आकांक्षाओं आशाओं, सुख एवं अपने शत्रु को उसको सौंप दो जो जीवन को कब्र की शाश्वत शान्ति के लिए तैयार करता है, और आप **निर्वाण** को वहाँ पर दफना दो जिसको कभी भी पुनरूत्थापित नहीं किया जा सके। संन्यास में या ध्यान में, या कर्मकाण्ड में या मात्र तात्त्विक ज्ञान में, जितनी तीव्रता से आप **निर्वाण** का अनुसरण करते हो, यह उतनी ही तेजी से आप से दूर भागता है। किसी भी धार्मिक विचारक द्वारा यह कल्पना करना एक गंभीर गलती थी कि **निर्वाण** जो हमारी धार्मिक भावनाओं की पूर्ण संतुष्टि है, सभी मानव इच्छाओं, आकांक्षाओं, आशाओं, दुःखों, एवं सुखों को दूर रखकर प्राप्त किया जा सकता है। अपनी बुद्धि को करुणा ज्ञान के माध्यम से पूर्णतया प्रज्ञावान बनाओ और प्रत्येक पापपूर्ण एवं गन्दगी को द्विव्य विशुद्धि में परिवर्तित करो। यह वही हृदय है जो पहले अज्ञान एवं अहंकार का फव्वारा था, जो अब शाश्वत आनन्द का निवास स्थान बन गया है— **निर्वाण** जो अपनी आन्तरिक आभा में देदीप्यमान है।

सोचो, एक टार्च का प्रकाश एक अन्धेरी कोठरी में ले जाया जाता है, जिसे लोग अब तक घृणित एवं भयानक भूतों का निवास समझते थे, और जिसको इसी कारण वे जमीन पर गिरा कर विनष्ट करना चाहते थे। अब चमकदार प्रकाश अन्दर प्रवेश कर के अन्धकार को दूर भगा देता है, और वहाँ का प्रत्येक कोना पूर्णतया प्रकाशित हो जाता है। अब इसमें प्रत्येक चीज अपने उचित रूप में आ जाती है। उनको आश्चर्यजनक ढंग से यह लगता है कि जिन आकृतियों को वे पहले घृणित एवं भयानक समझते थे, कुछ भी नहीं हैं, परन्तु बड़े-बड़े बहुमूल्य प्रस्तर हैं और उनको आगे पता चलता है कि उनमें से प्रत्येक प्रस्तर किसी न किसी प्रकार से उनके साथियों के लिए लाभप्रद है। निर्वाण के प्रकाश से पहले अन्धेरी कोठरी एक मानव हृदय है, टार्च का प्रकाश करुणा एवं बोधि है। जब प्रेम उष्मा प्रदान करता है और बोधि देदीप्यमान होती है, हृदय को लगता है कि प्रत्येक आवेग एवं पापपूर्ण इच्छा, जो असह्य क्रोध का कारण थी, अब एक दिव्य आकांक्षा में परिवर्तित हो जाती है। स्वयं हृदय फिर, वही बना रहता है जैसा कि वह कोठरी थी, जिसका स्वरूप अन्धकार या चमक से कभी भी प्रभावित नहीं होता था। यह दृष्टान्त महायानी सिद्धान्त **निर्वाण** एवं संसार के तादात्म्य को भली भाँति उदाहृत करता है, एवं बोधि तथा **क्लेश** को भी उदाहृत करता है।

अतः यह कहा गया है :

''सभी पाप प्रज्ञा के घटक के रूप में रूपान्तरित!

संसार के सुख-दुःख **निर्वाण** के आनन्द में रूपान्तरित!

ये सभी महान धार्मिक उपायों के अभ्यास से उत्पन्न होते हैं;

वास्तव में सभी बुद्धों का रहस्य हमारी समझ से परे हैं।[1]

मध्यम मार्ग

एक अर्थ में बुद्ध ने हमेशा ही अपनी शिक्षाओं में एक उदारवादी, समझौतावादी एवं संलिष्ट भावना का प्रदर्शन किया है। उन्होंने किसी भी अतिवादी सिद्धान्त को सुनने से इन्कार कर दिया था जो एक अन्त को दूसरे के मूल्य को इतना अधिक उन्नत कर देता है और जिसकी परिणति पूरे भवन के पतन में ही होती

1. वसुबन्धु का ''डिस्कोर्स ऑन् बुद्ध-एसेन्स।'' जापानी त्रिपिटक संस्करण, 1881 पुस्तिका 2, पृ. 84 जहाँ पर यह पद्य ''सूत्र ऑन् दि इनकम्परिहेन्सिबल'' से उद्धृत है।

है। जब उन्होंने **बोधि वृक्ष** के नीचे से अपना **प्रज्ञा का** आसन छोड़ा, उन्होंने संन्सास एवं सुखवाद दोनों ही अतिवादों की उपेक्षा करने का अपना उद्देश्य बनाया था। पूरे जीवन में उन्होंने अपने आपको एक शान्त, सम्मानित विचारक एवं सु-अनुशासित व्यक्ति सिद्ध किया,-और कभी भी अपने व्यक्तित्व में चिड़चिड़े सिद्ध नहीं हुए इस चिड़चिड़ेपन की स्थिति में ऋषि नजेरथ से बिल्कुल भिन्न थे, जिन्होंने अपने क्रोध में सभी व्यापारियों को मन्दिर से बाहर भगा दिया और सराफों की मेजों को उलट दिया, और जिन्होंने उस अंजीर के पेड़ को शाप दे दिया जिस पर उनको कोई भी फल नहीं मिले, परन्तु जिस पर केवल पत्ते ही मिले जो उनकी भूख को शान्त कर सकते थे। **मध्यममार्ग** का सिद्धान्त, नैतिक एवं **बौद्धिक** रूप से इसका कुछ भी अर्थ हो, हमेशा ही बुद्ध के जीवन एवं सिद्धान्त को लक्षित करता है एवं उनकी शिक्षाओं का परिवर्ती विकास भी यही लक्षित करता है। फिर उनके अनुयायियों ने अपने-अपने भिन्न व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से एक नियम के रूप में **मध्यममार्ग** का दृढ़ता से अनुसरण करने की घोषणा कर दी, जैसा की उनके शास्ता ने इसका मार्ग प्रशस्त किया था। जब **नागार्जुन** ने अपने आठ नकार वाले प्रसिद्ध सिद्धान्त की घोषणा की, जो कृत्रिम आलोंचकों को कुछ भी नहीं प्रतीत नहीं होते हैं, परन्तु एक परम **शून्यवाद** प्रतीत होते हैं, उन्होंने कहा कि मध्यममार्ग केवल उन आठ नकारों में ही उपलब्ध हो सकता है।[1]

महायान बौद्धधर्म ने निश्चित रूप से बुद्ध के इस संश्लिष्ट तरीके को **निर्वाण** के सिद्धान्त पर लागू किया और इसके आन्तरिक अर्थ के पूर्णतया विकास से इसको और अधिक उदात्त बना दिया। **वसुबन्धु** ने अपने **''डिसकोर्स ऑन् बुद्ध-एसेन्स''** नामक ग्रंथ में **श्रीमालसूत्र** से निम्नलिखित प्रसंग उद्धृत करते हैं, और स्पष्ट रूप से उस मार्ग को प्रदर्शित करते हैं और अपने अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले महायानी लोग इस मार्ग पर चले थे: ''वे, जो केवल अस्तित्त्व की अनित्यता को देखते हैं, **शून्यवादी** कहलाते हैं, और वे, जो केवल **निर्वाण**

---

1. यह **माध्यमिक शास्त्र** के प्रथम पद्य में अभिव्यक्त किया गया है, जो इस प्रकार है :
''अनिरोधमनुत्पादम् अनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थम् अनागमनमनिर्गमम्।।''
शाब्दिक रूप से अनूदित इस प्रकार है:
(मध्यम मार्ग) अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागमन एवं अनिर्गमन है।

की शाश्वतता को देखते हैं, शाश्वतवादी कहलाते हैं। दोनों ही दृष्टिकोण ठीक नहीं हैं'' तब **वसुबन्धु** यह कहने के लिए आगे बढ़ते हैं, ''अतः **तथागत** का **धर्मकाय** दोनों ही अन्तों से स्वतन्त्र है, और इसी कारण से यह महान शाश्वत पूर्णता कहलाता है। जब इस पर तथता के परम दृष्टिकोण से विचार किया जाता है, **निर्वाण** एवं संसार का तार्किक भेद वास्तव में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, और यहाँ हम **अद्वय-वाद** के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।'' **अद्वय-वाद** का यह क्षेत्र ही **निर्वाण** का **मध्यममार्ग** है इसका इसके शून्यवादी अर्थ में नहीं, अपितु, इसके महायानी अर्थ में।

निर्वाण को कैसे अनुभव किया जाए?

हम **निर्वाण** के मध्यममार्ग को कैसे अनुभव कर सकते हैं? हम एक ऐसे जीवन को कैसे अनुभव कर सकते हैं जो न तो निराशावादी संन्यास है, न ही भौतिक सुखवाद है। हम संसार के चक्रवातों से बिना उसके द्वारा निगले गए और फिर भी उन उग्र भवरों का साहसिकपूर्ण ठंग से सामना करते हुए बचकर निकल सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर तत्काल दिया जा सकता है, जब हम यह समझें, जैसा ऊपर बार-बार बतलाया जा चुका है कि यह जीवन **धर्मकाय** की अभिव्यक्ति है, कि वह **धर्मकाय** के विषय में जो भी कल्पना करता है, उसको उसके शरीर एवं मन की संभावनाओं में ही अनुभव करना ही मानव अस्तित्त्व का उद्देश्य है। हमने इसके सत्य को आलिंग्न करने वाली करुणा एवं सर्वज्ञ **बोधि** के रूप में उपलब्ध कर लिया है। एक ही झटके में अपने अज्ञान का विनाश करो और अपने अहंकार से छुटकारा प्राप्त करो, और वहाँ पर करुणा एवं **प्रज्ञा** का एक स्रोत फूट पड़ेगा।

वसुबन्धु कहते हैं: ''**प्रज्ञा** के कारण हमारे अहंकारी विचार नष्ट हो जाते हैं: **करुणा** के कारण परोपकारी विचार सँजोए जाते हैं। **प्रज्ञा** के कारण हमारे भद्दे मनों में अन्तर्निहित (प्रभावी) आसक्ति समाप्त हो जाती है। **करूणा** के कारण **श्रावकों** एवं **प्रत्येकबुद्धों** की (बौद्धिक) आसक्ति समाप्त हो जाती है, **प्रज्ञा** के कारण, **निर्वाण** (अपने **पारमाथिक** अर्थ में) को अस्वीकार नहीं किया जाता है; **करुणा** के कारण संसार (अपने परिवर्तनों एवं पुनर्जन्मों सहित) को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। **प्रज्ञा** के कारण **बौद्धधर्म** के सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता; **करुणा** के कारण सभी चेतन प्राणी (मुक्ति के लिए) परिपक्व

बनते हैं।''

एक बौद्ध का व्यावहारिक जीवन, यद्यपि विरोध नहीं है, दो विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त होता है, एक ऊपर वाली दिशा में और दूसरी नीचे वाली दिशा में, और दोनों ही निर्वाण के मध्यममार्ग में संश्लेषित हो जाती हैं। ऊपर वाली दिशा सत्य की बौद्धिक समझ को संकेतित करती है, जब कि नीचे वाली दिशा उसके साथियों में सबको आलिंगन करने वाली करुणा की अनुभूति को संकेतित करती है। वे एक दूसरी की पूरक हैं। जब संवेदनात्मक पक्ष के मूल्य पर बौद्धिक पक्ष से इतना अधिक बल दिया जाता है, तब एक एकाकी चिन्तक प्रत्येकबुद्ध हमारे सामने आता है, जिसका, आसूँओं का फव्वारा सूखा होता है और अपने साथियों के दुःखों पर वह बहता नहीं है। जब भावात्मक पक्ष को ही केवल दृढ़ता से अन्त तक स्थापित किया जाता है, प्रेम में एक अहंकार का रंग आ जाता है और वह अपने संपर्क में आने वाली प्रत्येक पदार्थ को रंग देता है। क्योंकि यह भेद नहीं करता है और आध्यात्मिक को ऐन्द्रियता के रूप में समझता है। यदि यह भावुकता में नहीं बहता है, यह सुखवाद के स्वरूप को ग्रहण कर लेगा। धर्म के इतिहास में धर्म या ईश्वर एवं मानवता के प्रेम के सुन्दर नाम के अन्तर्गत कितने अन्धविश्वासी या घृणित या नृशंस कार्य किए जा चुके हैं! यह खून को ठंडा कर देता है जब हम यह सोचते हैं कि धार्मिक हठधर्मियों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों या दाव पर लगे अपने विरोधियों को कैसे जिन्दा जला दिया, एक ही दिन में हजारों मानव जीवनों को बेरहमी से कत्ल कर दिया, अपने शत्रुओं की पूरी धरती पर तबाही एवं विनाश कर दिया, और ये सभी काम शैतान ने केवल ईश्वर के प्रेम के लिए संपादित किए! अतः ''डिसकोर्स ऑफ दि महापुरुष'' नामक ग्रंथ का लेखक देवल कहता है :''बुद्धिमान लोग बिना बुद्धि के प्रेमपूर्ण करुणा को स्वीकार नहीं करते हैं, न ही वे बिना प्रेमपूर्वक करुा के बुद्धि को स्वीकार करते हैं, एक दूसरे के बिना वह हमें सर्वोच्च मार्ग पर पहुँचाने से रोकती है।'' ज्ञान चक्षु है, प्रेम (शरीर का) अवयव है। नेत्र से निर्देषित होकर अवयव मुड़ना जानता है, अवयव की सहायता से, चक्षु उसको प्राप्त करता है जिसे वह देखता है। अकेला प्रेम अन्धा होता है, केवल ज्ञान पंगु होता है। केवल तब ही जब एक दूसरे से पूरित होता है, हमारे सामने एक पूर्ण, एक सर्वांगीण मानव उपस्थित होता है।

बुद्ध में एक आदर्श मानव रूप में हम करुणा एवं **बोधि** की पूर्णता की अनुभूति करते हैं; क्योंकि वे यही थे जिनमें **धर्मकाय** ने सशरीर अपनी पूर्व पहचान को प्राप्त किया था। परन्तु जहाँ तक **बोधिसत्त्वों** का संबंध है, उनकी स्वाभाविक प्रतिभा इतनी विविध है और उनके स्वभाव इतने खुरदरे होते हैं कि कुछ में बौद्धिक तत्त्व अधिक प्रमुख होते हैं जब कि दूसरों में भावुकता वाला पक्ष ज्यादा घोषित नजर आता है, जब कि कुछ व्यावहारिकता के लिए अधिक प्रवण होते हैं, दूसरे अपेक्षाकृत बौद्धिकता की ओर अधिक देखते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक तौर पर कुछ **बोधिसत्त्व** धार्मिक ऋषियों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक होंगे। वे कुछ संदर्भो में धर्म के इसके भावनात्मक पक्ष की अपेक्षा इसके बौद्धिक पक्ष पर बल देने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं और वे **करुणा** से अधिक **प्रज्ञा** के महत्त्व को समझते हैं। परन्तु निर्माण का मध्यममार्ग प्रज्ञा एवं **करुणा** बोधि तथा उपाय, ज्ञान तथा करुणा एवं बुद्धि एवं भावना के सच्चे सामञ्जस्य में स्थित है।

करुणा बोधि को जाग्रत करती है

परन्तु यदि हमें **करुणा** एवं **बोधि** में से चुनना हो, हमारे पास पहले सबको आलिंगन करने वाली करुणा होनी चाहिए, बौद्ध कहेगें; क्योंकि यह करुणा ही है जो हमारे अन्दर लोगों को अनन्त दुःखों एवं शाश्वत पुनर्जन्म से मुक्ति दिलाने का मार्ग खोजने के लिए एक सघन इच्छा को जाग्रत करती है। अब **बोधि** अपनी सर्वोच्च संभावनाओं को खोजने का प्रयास करेगी; **बोधि** अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रदर्शन करेगी। जब यह पता लग जाता है कि यह जीवन **धर्मकाय** की एक अभिव्यक्ति है, जो एकाकी एवं शाश्वत है, कि व्यक्तिगत अस्तित्त्वों में कोई स्वभाव या आत्म नहीं होता है, जहाँ वे (व्यक्तिगत अस्तित्त्व) व्यक्तिनिष्ठ अविद्या के वैशिष्ट्य के कारण ही विद्यमान रहते हैं, कि जब हमारी कल्पना परम **धर्मकाय** में उसके एक के रूप में की जाती है, तब ही हम सही एवं यथार्थ होते हैं। **बोधिसत्त्व की करुणा**, जिसने उसे सर्वोच्च सत्य को खोजने के लिए प्रेरित किया, अपने संपूर्ण महत्त्व को उद्घाटित करेगी।

महायान की यह **करुणा** या श्रद्धा, धार्मिक चेतना की पहली जाग्रति में कुछ अस्पष्ट रूप से अनुभव की जाती है, और एक महत्त्वाकांक्षी के मन को झकझोरती है, जिसका जीवन अब तक विचार एवं तृष्णा के प्रत्येक अहंकारी स्वरूप में व्यक्त रहता है। संसार के शाप से अपनी व्यक्तिगत मुक्ति में अब

उसको और अधिक विशुद्ध संतुष्टि उपलब्ध नहीं होती है, जैसे **श्रावकों** या **प्रत्येकबुद्धों** को मिलती है। अविद्या के बन्धन से मुक्ति का स्वाद कितना भी मीठा क्यों न हो, इसमें कुछ कमी रह जाती है। जो **बोधिसत्त्व** के लिए उसकी मुक्ति को अनुकूल बना देती है, जो अपनी अपेक्षा दूसरों के बारे में अधिक सोचता है, उनके लिए मधुर एवं स्वीकार योग्य बनने के लिए, प्रेमपूर्वक करुणा के साथ इसका अत्यधिक रूप से आनन्द लिया जाना चाहिए, जो (**करुणा**) अपने सभी साथियों को अपने बच्चों के रूप में आलिंगित करती है। **श्रावक** या **प्रत्येकबुद्ध** की मुक्ति एक स्वादु भोजन के समान है, जिसमें नमकीन स्वाद की कमी है, क्योंकि यह एक शुष्क एवं औपचारिक दार्शनिक मुक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। **करुणा** एक ऐसी चीज है जो एक व्यक्ति को अपने हितों से पार जाने के लिए प्रेरित करती है। यह सभी बुद्धों एवं **बोधिसत्त्वों** की माता है। वह पवित्र उद्देश्य, जो **निर्वाण** के आत्म-संतोष वाले जीवन को त्यागने के लिए उनको प्रेरित करता है, उनके सभी प्राणियों के लिए निःसीम **करुणा** के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे अपनी व्यक्तिगत मुक्ति में विश्राम करना नहीं चाहते हैं, वे बिना किसी एक अपवाद के भी सभी चेतन प्राणियों की मुक्ति की कामना करते हैं और वे चाहते हैं कि वे सभी चेतन प्राणी स्वर्गिक शान्ति का आनन्द लें। अतः **करुणा** हमें दो आध्यात्मिक लाभ अर्पित करती है : (1) यह सभी प्राणियों को दुःख से बचाती है (2) हम में **बुद्ध-बोधि** को जाग्रत करती है।

देवल के "**महापुरुष**" नामक ग्रंथ से अचानक उद्धृत किए गए निम्नलिखित प्रसंग हमारे पाठकों को **निर्वाण** के सही अर्थ को समझने में सहायता करेंगे और महायानियों की **करुणा** के मूल्य को भी समझने में सहायता करेंगे।

"वे लोग, जो पुनर्जन्म से डरते हैं और अन्तिम मुक्ति में अपने लाभों एवं सुखों की कामना करते हैं, उनकी उन **बोधिसत्त्वों** से बिल्कुल भी तुलना नहीं की जा सकती है, जब वे दोबारा एक भौतिक जीवन को धरण करते हैं, वे तब आनन्दित होते हैं, क्योंकि यह उनको दूसरों को लाभान्वित करने का एक और अवसर प्रदान करता है। वे लोग, जो केवल अपने ही स्वार्थी दुःखों की भावनाओं को समझने के योग्य हैं, **निर्वाण** में प्रवेश कर सकते हैं (और अपने समान दूसरे प्राणियों के दुःखों से अपने आपको परेशान नहीं करते हैं); परन्तु जो **बोधिसत्त्व** अपने सभी साथियों के दुःखों को अपने ही जैसा अनुभव करता है, वह दूसरों को पीछे छोड़ने के विचार को कैसे बर्दाशत कर सकता है, जब कि वह अपनी मुक्ति के

मार्ग पर चल रहा है, और जब वह स्वयं **निर्वाण** की शान्ति में विश्राम कर रहा है? . . . .

निर्वाण वास्तव में दूसरों को प्रसन्न करने में ही आनन्द लेना है, और संसार का उस प्रकार अनुभव नहीं करने में। वह जो अपने साथियों के लिए एक सार्वभौमिक **करुणा** का अनुभव करता है, उनमें आशीर्वादों को बाटने में आनन्दित होगा और ऐसा करने में ही **निर्वाण** को उपलब्ध कर लेगा।[1]

''दुःख वास्तव में अपने अहंकारी आनन्द का अनुसरण में है, जब कि **निर्वाण** दूसरों की भलाई के लिए अपनी भलाई का परित्याग करने में है। लोग सामान्यतया यह सोचते हैं कि यह एक मुक्ति ही है जब वे अपने दुःख से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु एक करुणामय व्यक्ति इसे दूसरों लोगों को दुःख से छुटकारा दिलाने में खोजता है।

''जो लोग दयालु नहीं हैं, ऐसा कोई पाप नहीं है जो इनके द्वारा नहीं किया जाएगा। वे सबसे ज्यादा दुष्ट है, जिनके हृदय दूसरों के दुर्भाग्य एवं दुःखों के दृश्य को देखकर द्रवित नहीं होते हैं।

''जब सभी प्राणी, ईर्ष्या, आवेग, भेद, मजाक, मोह एवं मूर्खता से परेशान हैं, और लगातार जन्म एवं मृत्यु, बीमारी एवं क्षय के दुःख से प्रताड़ित हैं **बोधिसत्त्व** उनमें कैसे रह सकता है और उनके लिए दया का अनुभव नहीं करेगा?

---

1. सार्वभौमिक **करुणा** की इस बौद्ध भावना की तुलना ईसाई धर्म से कीजिए और हम इस सत्य का दर्शन करेंगें कि निचली तह में सभी धर्म एक जैसे ही हैं। हम टोमस केम्पिस् के **''इनिशिएन ऑफ् क्राइस्ट''** नामक ग्रंथ (अध्याय 13) में पढ़ते हैं: ''मेरे बेटे, मैं तुम्हारी मुक्ति के लिए स्वर्ग से उतर आया हूँ, मैंने तुम्हारे दुःखों को अपने ऊपर ले लिया है, यह कोई मजबूरी नहीं है परन्तु प्रेम मुझे यहाँ खींच लाया है, कि तुम स्वयं धैर्य का भावना को समझ सको और बिना पश्चाताप किए अस्थायी दुःखों को सहन कर सको। क्योंकि मेरे जन्म से लेकर क्रास पर मेरी मृत्यु तक मैं दुःख की परेशानी के बिना नहीं था।'' बिल्कुल यह ही वह भावना है जो **बोधिसत्त्वों** को सार्वभौमिक मुक्ति के महान कार्य के लिए प्रेरित करती है। वे लोग, जो सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं, बिना झिझक के यह स्वीकार करेंगे कि एक ही परन्तु एक ही सच्चा धर्म है, जो वातावरण के अनुसार विभिन्न स्वरूप धारण कर सकता है। ''शिखर पर जाने के लिए अनेक रास्ते हैं, परन्तु जब वे यहाँ पहुँच जाते हैं, हमारे पास बस केवल एक ही चन्द्रमा का प्रकाश होता है।''

"सभी सद्‌गुणों में **करुणा** सर्वश्रेष्ठ है यह सभी पुण्यों का स्रोत है, यह सभी **बुद्धों** की माता है, यह दूसरों को अतुलनीय **बोधि** में शरण लेने के लिए प्रोत्साहित करती है।

"एक **बोधिसत्त्व** का करुणामय हृदय एक बात से दुःखी हो जाता है, कि सभी प्राणी लगातार परेशान हैं और सभी प्रकार की पीड़ा से प्रताड़ित हैं।"

एक महायान सूत्र से मैं एक दूसरा रोचक संदर्भ उद्धृत करता हूँ।

जब **विमलकीर्ति** से पूछा गया कि वे स्वस्थ क्यों नहीं अनुभव कर रहे हैं, उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया जो धार्मिक महत्त्व से परिपूर्ण है: "अज्ञान से तृष्णा का उदय होता है और वह ही मेरी बीमारी का कारण है। क्योंकि सभी प्राणी अपनी बीमारियों से स्वस्थ हो जाएँगे, मैं भी अपनी बीमारी से स्वस्थ हो जाऊँगा। क्यों? **बोधिसत्त्व** चेतन प्राणियों के कारण जन्म एवं मृत्यु से दुःखी होता है। क्योंकि जन्म एवं मृत्यु हैं, इसलिए बीमारी भी है। जब चेतन प्राणी बीमारी से मुक्त हो जाते हैं, **बोधिसत्त्व** भी बीमारी से दुःखी नहीं होंगे। जब भले परिवार का अकेला पुत्र बीमार है, माता-पिता भी बीमार अनुभव करते हैं, जब वह स्वस्थ हो जाता है, वे सभी फिर ठीक हो जाते हैं। **बोधिसत्त्व** के साथ भी ऐसा ही होता है। वह सभी चेतन प्राणियों को अपने बच्चों के समान ही प्रेम करता है। जब वे बीमार होते हैं, वह भी बीमार हो जाता है। जब वे स्वस्थ हो जाते हैं, वह भी ठीक हो जाता है। क्या तुम यह जानना चाहते हो कि यह (सहानुभूति) की बीमारी कहाँ से है? **बोधिसत्त्व** की बीमारी **महाकरुणा** से आती है।"

सार्वभौमिक **करुणा** का यह सिद्धान्त सभी धार्मिक भावनाओं की निष्पत्ति है, उन **धर्मों** की उत्पत्ति कुछ भी हो। इसके बिना, कोई **धर्म** नहीं है अर्थात् ऐसा कोई **धर्म** नहीं है जो जीवन एवं भावना से अनुप्राणित नहीं है। क्योंकि पदार्थों के तथ्य एवं प्रकृति में ऐसा कुछ है कि हम मात्र चिन्तन या केवल दर्शन से ही विचलित नहीं होते हैं। प्रत्येक धर्म में इस तथ्य की व्याख्या करने का एक अपना ही तरीका हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक परिणाम सर्वत्र एक जैसा ही होता है, अर्थात् यह **करुणा** की अनुप्राणित करने वाली ऊर्जा के बिना जीवित नहीं रह सकता है। **श्रावक** एवं **प्रत्येकबुद्ध** के सिद्धान्त में जो भी युक्तियुक्त एवं सूक्ष्म तर्क हो, वह शक्ति, जिसकी नियति संसार पर विजय पाना एवं हमें दुःख से

मुक्ति दिलवाता, बौद्धिकता नहीं है, परन्तु संकल्प, अर्थात् **धर्मकाय** का पूर्वप्रणिधान।

अब हम समाहार करते हैं। जो हम ऊपर देख आए हैं, उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि महायानी **निर्वाण** जीवन का उच्छेद नहीं है अपितु इसकी **प्रज्ञा** है, कि यह मानव आवेगों एवं आकांक्षाओं को निष्प्रभावित करना नहीं है परन्तु यह उनकी विशुद्धि एवं उदात्तीकरण है। शाश्वत पुनर्जन्म का यह संसार एक ऐसा स्थान नहीं है जिसे खेल के मैदान की बुराइयों के समान टाला जाना चाहिए, परन्तु इसको एक ऐसा स्थान समझा जाना चाहिए जहाँ पर हमें सार्वभौमिक भलाई के लिए अपनी सभी आध्यात्मिक संभावनाओं एवं शक्तियों को उद्घाटित करने के उद्देश्य के लिए सर्वदा उपस्थित रहने वाले अवसर प्रदान किए जाते हैं। एक घोंघे के अपनी आरामदेह विश्रामस्थली में जाने के समान जीवन के कर्त्तव्यों एवं बोझ के सामने हमें सिकुड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसे विपरीत एक **बोधिसत्त्व** जन्म एवं मृत्यु की शृंखला में **निर्वाण** को खोजता है एवं साहसपूर्ण ढंग से बुराई की समस्याओं का सामना करता है, व्यक्तिनिष्ठ अविद्या से बोधि को विशुद्ध करके इसका समाधान करता है।

उसके व्यवहार का नियम है :

"सब्बपापस्स अकरणं

कुलस्स उपसम्पदा

सचितपरियोदपनं

एतं बुद्धानुशासनं।"[1]

उसकी आकांक्षाएँ विधिवत् इसमें अभिव्यक्त की गई हैं जिन्हें हमें प्रतिदिन महायान बौद्ध मंदिरों एवं विहारों में गाए जाते सुनते हैं:

---

1. धर्मपद, 5,

सभी पापों को नहीं करना,

कुशल कर्म का आरम्भ

चित्त को निर्मल करना,

बुद्ध का यही धर्म है।

''चेतन प्राणी, फिर कितने ही असंख्य, मैं उनकी सुरक्षा का प्रतिज्ञा करता हूँ, बुरे आवेग फिर कितने ही अनिर्वाप्य, मैं उनको विनाश करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

सत्य के मार्ग, फिर कितने ही असंख्य, मैं उनका अध्ययन करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। ज्ञानी जनों के मार्ग, फिर कितने ही अगम्य, मैं उनको प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

इन श्रेष्ठ उद्देश्यों का अथक अनुसरण अन्तिम रूप से बौद्धों के स्वर्ग, निर्वाण की ओर अग्रसर करेगा, जो एक शाश्वत शक्ति की स्थिति नहीं है, परन्तु यह ऊर्जा एवं बोधि का एक स्रोत है।

सारांश के रूप में, और सभी भ्रान्तियों को दूर करते हुए मैं यह दोहराता हूँ कि पीड़ा पर बेकार का चिन्तन है। एक बौद्ध का जीवन किसी भी प्रकार से सूत्रों के गान की नीरस पुनरावृत्ति नहीं है और भोजन के लिए चक्कर लगाना भी नहीं है। यह इससे कहीं दूर हैं। वह सभी प्रकार की जीवन की गतिविधि में प्रवेश करता है, क्योंकि वह विश्वास नहीं करता है कि सार्वभौमिक मुक्ति अपने आपको एक विहार में कैद करने से प्राप्त हो सकती है।

सैद्धान्तिक रूप से कहें तो निर्वाण बोधि के प्रकाश के पास में डराने वाले अज्ञान के बादलों का छितराव है। नैतिक रूप से यह अहंकार का दमन एवं करुणा की जाग्रति है। धार्मिक दृष्टि से यह अपने आपको धर्मकाय की इच्छा के सामने पूर्ण समर्पण है। जब अज्ञान के बादल बिखरते हैं, हमारा बौद्धिक क्षितिज स्पष्ट एवं विस्तृत हो जाता है; हम यह देखते हैं कि हमारे व्यक्तिगत अस्तित्त्व बुलबुलों एवं प्रकाश के समान हैं, परन्तु वे धर्मकाय में अपनी एकता का यथार्थ प्राप्त करते हैं। यह दृढ़ विश्वास ही हमको अपने जीवन की पुरानी अहंकारवादी अवधारणा को शाश्वत रूप से त्यागने के लिए मजबूर करता है। अहंकार को अपना महत्त्व केवल तब ही उपलब्ध होता है जब इसकी कल्पना अनंहंकार के संदर्भ में की जाती है, अर्थात् इसके बदले, दूसरे शब्दों में आत्म-प्रेम का कोई अर्थ नहीं होता है जब तक यह दूसरों के प्रेम से विशुद्ध नहीं हो जाता है। परन्तु दूसरों के प्रति यह प्रेम अन्धा एवं अज्ञानी नहीं रहना चाहिए, इसको धर्मकाय की इच्छा के सामञ्जस्य के साथ होना चाहिए, जो जीवन का नियम

एवं सत् का कारण है। प्रेम का उद्देश्य अपने सच्चे अर्थ में उदात्त एवं परिपूर्ण हो जाता है। जब हम इस विश्वास पर आते हैं कि "आपकी इच्छा की पूर्ति होगी।" दिव्य आदेश के इस समर्पण के बिना प्रेम मात्र अहंकार का एक दूसरा ही रूप है; इसकी जड़ पहले ही गल चुकी होती है, इसके तने, शाखाएँ, पत्ते, एवं पुष्प कैसे सच्चा विकास कर सकते हैं?

हमें **बोधिसत्त्व** के निम्नलिखित विचारों से समाहार करना चाहिए, जिसमें हम **बौद्धधर्म** के संपूर्ण अर्थ का अध्ययन करते हैं।

"छः पारमिताओं एवं अन्य असंख्य पुण्यात्मक कार्यों का अभ्यास करने के बाद **बोधिसत्त्व** इस प्रकार चिन्तन करता है :

"मेरे द्वारा किए गए सभी सत् कर्म चेतन प्राणियों की (पाप से) अन्तिम विशुद्धि के लाभ के लिए हैं। इन सत् कर्मों के पुण्य से मैं प्रार्थना करता हूँ कि सभी चेतन प्राणी अपने विभिन्न जीवन के निवासों की असंख्य दुःखों की पीड़ा से मुक्त हो जाएँ। इन कर्मों के परिवर्तन से मैं सभी चेतन प्राणियों के लिए एक आश्रय बन जाऊँगा और उनको उनके दुःखी जीवनों से मुक्त कर दूँगा; मैं सभी प्राणियों के लिए एक महान प्रकाश स्तम्भ बन जाऊँगा और अज्ञान के अन्धकार को समाप्त करुँगा, **बोधि** के प्रकाश को प्रकाशित करूँगा।

"वह फिर एक बार इस प्रकार चिन्तन करता है:

"सभी चेतन प्राणी असंख्य तरीकों से बुरे कर्म कर रहे हैं, और इस कर्म के कारण वे अनेक दुःखों से परेशान होते हैं। वे **तथागत** को नहीं पहचानते हैं, **सद्धर्म** को नहीं सुनते हैं, पवित्र लोगों के संगम को वे श्रद्धांजलि अर्पित नहीं करते हैं। ये सभी लोग बड़े-बड़े बुरे कर्मों का भारी भरकम बोझा ठोते हैं और असंख्य प्रकार से दुःखी होना उनकी नियति है। उनके लिए मैं तीन बुराई की सृष्टियों के बीच उनके सभी दुःखों को झेलूँगा और उनमें से प्रत्येक को मुक्त करूँगा। ये सभी दुःख पीड़ादायक हैं, मैं पीछे नहीं हटूँगा, मैं भयभीत नहीं हूँगा, मैं लापरवाह नहीं बनूँगा, मैं अपने साथियों को परित्याग नहीं करूँगा। क्यों? क्योंकि यह (**धर्मकाय**) की इच्छा है कि सभी चेतन प्राणी सार्वभौमिक रूप से मुक्त हों।

"वह फिर बार इस प्रकार इस चिन्तन करता है:

"मेरा व्यवहार सूर्य-देवता के समान होगा, जो अपने सार्वभौमिक प्रकाश से किसी भी पुरस्कार की कामना नहीं करता है, जो एक अनैतिक व्यक्ति के कारण अपनी द्विव्य आभा के एक महान प्रदर्शन को रोकता नहीं है, जो एक अनैतिक व्यक्ति के कारण सभी प्राणियों की मुक्ति का परित्याग नहीं करता है। अपने सभी पुण्यों के परिवर्त से मैं अपने सभी साथियों को प्रसन्न एवं आनन्दमय बनाऊँगा।" (दि अवतंसकसूत्र पुस्तिका **XIV**)।

सुजुकि द्वारा लिखा गया 'महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा' नामक ग्रंथ महायान बौद्धधर्म पर आज तक लिए गए ग्रंथों में संभवत: सर्वोत्तम ग्रंथ है। स्थान की सीमाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया यह महायान बौद्धधर्म के सभी आयामों की व्यापक रूप से चर्चा करने वाला ग्रंथ है। महायान बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक विषयों की व्याख्या करने वाला यह ग्रंथ अत्यधिक रूचिकर शैली में लिखा गया है और यह एक सामान्य पाठक के लिए सुपाठ्य भी है। इस श्रेष्ठ उद्देश्य में सुजुकि अधिकांश रूप में सफल हुए हैं।

डॉ० तुलसीराम शर्मा

जन्म 1937 दिल्ली

शिक्षा एम०ए० पीएच०डी० (दिल्ली)

41 वर्ष तक श्री गुरुतेग बहादुर खालसा महाविद्यालय के संस्कृत विभाग में स्नातक कक्षाएँ तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग एवं बौद्ध अध्ययन विभाग में स्नातकोन्तर कक्षाओं का अध्यापन करने के बाद 2002 में सेवानिवृत्त। अब तक दस पुस्तकें प्रकाशित जिनमें से दो पुस्तकें उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत। 40 से अधिक उच्चस्तरीय शोध-निबन्ध प्रकाशित जिनमें से कुछ विदेशों में पठित तथा 4 शोध-निबन्ध विदेशी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित। एक दर्जन से अधिक भारतीय एवं विदेशी शोध-छात्रों का पीएच०डी० के लिए निर्देशन। 1993-94 में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, उपनिषद एवं बौद्धदर्शन के अध्यापन के लिए ताईवान में विजिटिंग प्रोफेसर। 2004 में दिल्ली प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा संस्कृत सेवा के लिए पुरस्कृत। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, उपनिषद एवं बौद्धदर्शन में विशेष रुचि।

"Wherever the Buddha's teachings have flourished,
either in cities or countrysides,
people would gain inconceivable benefits.
The land and people would be enveloped in peace.
The sun and moon will shine clear and bright.
Wind and rain would appear accordingly,
and there will be no disasters.
Nations would be prosperous
and there would be no use for soldiers or weapons.
People would abide by morality and accord with laws.
They would be courteous and humble,
and everyone would be content without injustices.
There would be no thefts or violence.
The strong would not dominate the weak
and everyone would get their fair share."

~THE BUDDHA SPEAKS OF
THE INFINITE LIFE SUTRA OF
ADORNMENT, PURITY, EQUALITY
AND ENLIGHTENMENT OF
THE MAHAYANA SCHOOL ~

With bad advisors forever left behind,
From paths of evil he departs for eternity,
Soon to see the Buddha of Limitless Light
And perfect Samantabhadra's Supreme Vows.

The supreme and endless blessings
of Samantabhadra's deeds,
I now universally transfer.
May every living being, drowning and adrift,
Soon return to the Pure Land of Limitless Light!

~The Vows of Samantabhadra~

I vow that when my life approaches its end,
All obstructions will be swept away;
I will see Amitabha Buddha,
And be born in His Western Pure Land of
Ultimate Bliss and Peace.

When reborn in the Western Pure Land,
I will perfect and completely fulfill
Without exception these Great Vows,
To delight and benefit all beings.

~The Vows of Samantabhadra
Avatamsaka Sutra~